श्रीमद्वीरमार्तंड चामुंडरायदेव विरचित

चारित्रसार

भाषा टीका

श्रीमान् पंडित लालाराम जी
कृत हिन्दी अनुवाद सहित

चारित्रसार
(भाषा टीका)

● प्रधान सम्पादक

पं० गजाधर लाल जैन, न्यायतीर्थ

एवम्

श्रीलाल जैन, काव्यतीर्थ

भेंटकर्ता-नेमचन्द जैन सर्राफ

बड़ौत (मेरठ)

● उपसम्पादक

श्रेयांस कुमार जैन, प्रवक्ता

दि० जैन डिग्री कॉलेज, बड़ौत, (मेरठ)

● संस्करण १९९०

● मूल्य—सदुपयोग

● मुद्रक :

सुमन प्रिन्टर्स

कनोहरलाल मार्केट, शारदा रोड, मेरठ-२५० ००२

फोन : २४३१६

※ आशीर्वाद ※

चारों अनुयोग ग्रंथों में चरणानुयोग का मुख्य स्थान है। चरणानुयोग आचरण सिखाता है, चलना सिखाता है। चरणानुयोग योग ग्रंथों में सागारों का वर्णन व अनगारों का वर्णन है। जीव को मोक्ष जाने में चारित्र ही श्रेष्ठ है, उस चारित्र का पालन कैसे करना है, वह सब चरणानुयोग सिखाता है। इन चरणानुयोग ग्रंथों मे मुनि के चारित्र का वर्णन करने वाले भगवती आराधना, मूलाधार, मूलाचार प्रदीप, अनगार धर्मामृत, आचारसार, चारित्रसार आदि विशिष्ट ग्रथ हैं। इन ग्रंथों को पढ़कर मुनि मोक्ष मार्ग पर अच्छी तरह से चल सकता है। वैसे तो सभी आगम ग्रंथों में साधुओं के चारित्र की चर्चा आई है लेकिन मूलाचारादि ग्रथो में विशेष वर्णन आया है, वैसे तो ज्ञान पीठ से भगवती आराधना व मूलाचार का नया सस्करण छप गया, आचारसार भी छप गया, मात्र चारित्रसार ही रह गया था, अनुपलब्ध था, सो मुनियों का विशेष उपयोगी ग्रंथ समझकर इस ग्रंथ को पुनः प्रकाशन के लिये हमारे शिष्य आ० क० करुणानन्दी जी ने एक श्रावक श्री नेमचन्द जैन सर्राफ, बड़ौत वाले को उत्साहित किया और वे प्रकाशन के लिये तैयार हो गये। बहुत ही अच्छा काम हुआ, द्रव्य का सदुपयोग हुआ। डा० श्रेयांस जी ने भी सहयोग दिया, सबको ही मेरा आशीर्वाद है। ग्रंथ को पढ़कर ग्रंथानुसार चलने की कोशिश करो, अवश्य मोक्ष की सिद्धि होगी।

—ग० आ० कुन्थुसागर

आशीर्वाद

अत्यंत पराधीन संसारी आत्मा को जब योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होता है तब विशेष पुरुषार्थ करे तो अपना स्वाधीन सुख प्राप्त कर सकते हैं। इद्रिय सुख तो पराधीन हैं ही, अनीद्रिय, अचित्य, स्वात्म जनित सुख ही स्वाधीन है। उस सुख की प्राप्ति हेतु आत्म से संपूर्ण कर्म नाश होना ही मोक्ष है। इसके लिये रत्नत्रय धर्म को अपनाना चाहिये। इसके लिये सागार और अनागार रूप दो धर्म को अथवा श्रावक और मुनि धर्म को आचार्यों ने बताया है। ये दोनों ही धर्म सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से युक्त है। न केवल ज्ञान से अथवा दर्शन से, "हतं ज्ञान क्रिया शून्य" और "चारित खलु धम्मो" इस सूत्र के अनुसार चारित्र प्रधान धर्म के माध्यम से हम लोग चारित्रसार आदि ग्रंथों का अध्ययन कर स्वाधीन सुख को प्राप्त कर सकते हैं। इस उद्देश्य से इस चामुंडराय विरचित आगम अविरुद्ध ग्रंथ को प्रकाशित करने के लिये बड़ौत निवासी नेमचद जैन सर्राफ को कहा, कहते ही स्वीकृति कर १,००० प्रति प्रकाशित करवायी। उनको और सहयोगी प्रोफेसर श्रेयांस और सुन्दर रूप में मुद्रण करने वाले सुमन प्रिंटर्स को भी मेरा धर्मवृद्धि वस्तु आशीर्वाद।

—आचार्यकल्प करुणानन्दी

उप सम्पादकीय

संसरणशील संसार में अधिकाधिक मानव असंयम की अग्नि से स्वयं को झुलसा रहे हैं। असंयमी जीवन कलंक है, उसमें सुख और शान्ति की प्राप्ति असंभव है। असंयमी की इन्द्रियाँ स्वच्छन्द प्रवृत्ति से खोटे से खोटे आस्रव की निमित्त बनती हैं। इन्द्रिय भोगाकांक्षा महती दुःखदायी है। भोगाकांक्षा का निषेध प्रत्येक महापुरुष ने किया है। आचार्य कुलभद्र स्वामी ने भी सार समुच्चय में स्पष्ट लिखा है—

वरं हलाहलं भुक्तं विषं तद्भवनाशनम्।
न तु भोगविषं भुक्तमनन्तभवदुःखदम् ॥७६॥

इन्द्रियप्रभवं सौख्यं, सुखाभासं न तत्सुखम्।
तच्च कर्मविबन्धाय, दुःखदानैक पण्डितम् ॥७७॥

अक्षाण्येव स्वकीयानि, शत्रवो दुःखहेतवः।
विषयेषु प्रवृत्तानि, कषायवशवर्तिनः ॥७८॥

किम्पाकस्य फलं भक्ष्यं, कदाचिदपि धीमता।
विषयास्तु न भोक्तव्या, यद्यपि सुपेशला ॥७९॥

उसी एक जन्म को नाश करने वाले हलाहल विष को खा लेना अच्छा है, परन्तु अनेक जन्मों में दुःख देने वाले इन्द्रिय भोग रूपी विष को भोगना ठीक नहीं है। इन्द्रिय भोग रूपी सुख सुखाभास है, सच्चा सुख नहीं है। वह तो विशेष कर्मबन्ध कराने वाला है और महान् दुःखदायक है। विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियां ही दुःख का कारण हैं और आत्मा की शत्रु हैं। स्वादिष्ट तथा विषवत् फल को देने वाला किंपाक फल कदाचित् खा लेना अच्छा है किन्तु बड़े सुन्दर होने हर भी इन्द्रिय के भोग भोगना अच्छा नहीं है।

असंयम (भोग) निकृष्ट हैं, इसीलिए आचार्यों ने संयम ग्रहण करने की प्रेरणा दी है। आचार्यों ने कहा है कि संयम या चारित्र के अभाव में जीवन भारभूत है। चारित्र ही जीवन की सार्थकता है। चारित्र ही धर्म है, जैसा की कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

चारित्रं खलु धम्मो-धम्मो जो सो समोत्ति णिछिद्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु संयो ।। (प्रवचनसार ७)

चारित्र वास्तव में धर्म है और जो धर्म है, वह साम्य है, ऐसा जिनेन्द्र द्वारा कहा गया है। साम्य ही वास्तव में मोह और क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है ।

वस्तुतः चारित्र ही आत्मा का परमोपकारी है। देशसंयम के बिना गृहस्थ जीवन की महत्ता नहीं है, अतः गृहस्थ को बारह प्रकार के व्रतों का परिपालन अवश्य करना चाहिए। सकल चारित्र से ही मुनि अवस्था की पूज्यता और श्रेष्ठता है। सकल चारित्र के धारी मुनिवर संवर निर्जरा के यथार्थ अधिकारी हैं।

श्रमण को अपनी चर्या का पूर्ण ज्ञान होना अनिवार्य है। श्री चामुण्डराय कृत चारित्रसार नामक ग्रन्थ में मुनिचर्या का सविस्तार वर्णन है। समस्त मुनिवरों के लिए "चारित्रसार" अत्यधिक उपयोगी है क्योंकि इसमें सरलतम शैली में २८ मूलगुणों के साथ धर्मध्यान और शुक्लध्यान का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें त्रयोदश प्रकार के चारित्र की विशेष व्याख्या है, ध्यान प्रक्रिया सहज ग्राह्य है इसलिए मुनिवरों के लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है।

वर्तमान में चारित्रसार सुलभ न होने के कारण परमपूज्य वात्सल्य रत्नाकर गणधराचार्य श्री १०८ कुन्थुसागर महाराज के सम्पूर्ण प्राणियो मे समताभाव रखने वाले संयम की शुभ भावना से ओतप्रोत चारित्रनिष्ठ सुशिष्य आचार्यकल्प करुणानन्दी महाराज ने बड़ौत (उत्तर प्रदेश) निवासी स्व० लाला श्री सूरजमल जैन सर्राफ और श्रीमती रेवती देवी जैन के सुपुत्र श्री नेमचंद्र जैन सर्राफ को 'चारित्रसार" प्रकाशित कराकर मुनिराजों को चारित्रवृद्धि और चारित्ररक्षा हेतु प्रदान करने की प्रेरणा दी। श्री नेमचन्द्र जैन सर्राफ ने सहर्ष चारित्रसार प्रकाशित कराना स्वीकार किया। श्री नेमचन्द्र जैन की धर्मपत्नी श्रीमती मधुबाला जैन एक धार्मिक प्रकृति की भद्र महिला हैं। श्रीमती मधुबाला जैन और श्री नेमचन्द्र जैन दोनो ही पति पत्नी धर्म प्रभावना के कार्य करते-कराते हुए असीम पुण्य का उपार्जन करें।

यह चारित्र प्रभावक "चारित्रसार" नामक ग्रन्थ निश्चित ही श्रावक और श्रमणों के चारित्र अभिवृद्धि का निमित्त बने, यही शुभ भावना ।

डा० श्रेयांस कुमार जैन
दिगम्बर जैन कालेज
बड़ौत-२५०६११

ग्रंथकार चामुण्डराय का परिचय

चामुण्डराय 'वीरमार्त्तण्ड', 'रणरंगसिंह', 'समरधुरन्धर' और 'वैरिकुलकालदण्ड' होने पर भी कलाप्रिय हैं। बाहुबलि चरित में इनकी माता का नाम कालिका देवी बतलाया गया है। इनके पिता तथा पूर्वज गंगवंश के श्रद्धाभाजन राज्याधिकारी रहे होंगे। वे (चामुण्डराय) महाराज मारसिंह तथा राचमल्ल द्वितीय के प्रधानमंत्री और सेनापति थे। इनका वंश ब्रह्मक्षत्रियवंश बताया गया है। चामुण्डराय पुराण से यह भी अवगत होता है कि इनके गुरु का नाम अजितसेन था। अभिलेखों से यह भी निर्विवाद ज्ञात होता है कि चामुण्डराय जन्मतः जैन थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार में—'सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू' कहकर अजितसेन को उनका दीक्षागुरु बताया है। मंत्रीवर चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती से भी शिक्षा प्राप्त की थी।

चामुण्डराय अपनी मातृभाषा कन्नड़ के साथ संस्कृत में भी पारंगत विद्वान थे। वे इन दोनों भाषाओं में साधिकार कविता एवं लेखन कार्य करते थे।

उनकी उपाधियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि खड्गयुद्ध में वज्ज्वलदेव को हराने से उन्हें 'समरधुरन्धर' की उपाधि, नोलम्बयुद्ध में गोनूर के मैदान में उन्होंने जो वीरता दिखलाई उसके उपलक्ष्य मे उन्हे 'वीरमार्त्तण्ड' की उपाधि, उच्छंगी के किले में त्रिभुवनवीर को मारने और गोविन्दार को उसमें न घुसने देने के उपलक्ष्य में 'वैरिकुलकालदण्ड'; राजाकाम के किले में राजवासखिवर, कुद्दामिक आदि योद्धाओं को हराने के कारण उन्हें 'भुजविक्रम' की उपाधि; अपने छोटे भाई नागवर्मा के घातक मदुराचय को मार डालने के उपलक्ष्य में 'समरपरशुराम' की उपाधि एवं एक कबीले के मुखिया को पराजित करने के उपलक्ष्य में 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि प्राप्त हुई थी।

नैतिक दृष्टि से 'सम्यक्त्वरत्नाकर', 'शौचाभरण', 'सत्ययुधिष्ठिर' और 'सुभटचूड़ामणि' उपाधियां प्राप्त थीं।

चामुण्डराय ने अपने 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुराण' में कुछ प्रमुख आचार्यों और ग्रंथकारों का निर्देश किया है तथा कुछ संस्कृत और प्राकृत के पद्य भी उद्धृत किये हैं। गृद्धपिच्छाचार्य, सिद्धसेन, समन्तभद्र, पूज्यपाद, कवि परमेश्वर, वीरसेन, गुणभद्र, धर्मसेन, कुमारसेन, नागसेन, चन्द्रसेन, आर्यनन्दि, अजितसेन, श्रीनन्दि, भूतबलि, पुष्पदन्त, गुणधर, नागहस्ती, यतिवृषभ, उच्चारणाचार्य, माघनन्दि, कोण्डकुण्ड, तेम्बुलूराचार्य, एलाचार्य, शुभनन्दि, रविनन्दि और जिनसेन आचार्यों का उल्लेख चामुण्डरायपुराण में पाया जाता है। इन उल्लेखों से चामुण्डराय के समय पर प्रकाश पड़ता है। चामुण्डराय ने अपने महापुराण को शक सं० ९०० (ई० सन् ९७८) में पूर्ण किया था। इन्होंने श्रवणबेलगोला में बाहुबलि स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा ई० सन् ९८१ में की थी।

ब्रह्मदेवस्तम्भ पर ई० सन् ६७४ का एक अभिलेख पाया जाता है। गोम्मटेश्वर की मूर्ति के समीप ही द्वारपालों की बायीं ओर प्राप्त एक लेख से, जो ११८० ई० का है, मूर्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं—

भगवान बाहुबलि पुरु के पुत्र थे। उनके बड़े भाई द्वन्द्वयुद्ध में उनसे हार गये। लेकिन भगवान बाहुबलि पृथ्वी का राज्य उन्हें ही सौंपकर तपस्या करने चले गये और उन्होंने कर्म पर विजय प्राप्त की। पुरु के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने पोदनपुर में बाहुबलि की ५२५ धनुष ऊँची एक मूर्ति बनवाई। कुछ कालोपरान्त उस स्थान में, जहाँ बाहुबलि की मूर्ति थी, असंख्य कुक्कुट सर्प उत्पन्न हुए। इसीलिये उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर भी पड़ा। कुछ समय बाद यह स्थान साधारण मनुष्यों के लिये अगम्य हो गया। उस मूर्ति में अलौकिक शक्ति थी। उसके तेजपूर्ण नखों को जो मनुष्य देख लेता था वह अपने पूर्व जन्म की बातें जान जाता था। जब चामुण्डराय ने लोगों से इस जिन-मूर्ति के बारे में सुना, तो उन्हें उसे देखने की उत्कट अभिलाषा हुई। जब वे वहाँ जाने को तैयार हुए तो उनके गुरुओं ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इस पर चामुण्डराय ने इस वर्तमान मूर्ति का निर्माण करवाया।

उस सन्दर्भ में एक घटना हुई। चामुण्डराय ने अपने सामर्थ्य और माता कालला देवी की सलाह से जगत विख्यात् अत्यन्त सुन्दर मूर्ति को इन्द्रगिरि शिखर पर विराजमान किया। उस समय उन चामुण्डराय को अभिमान जागृत हो गया। उस मूर्ति के प्रथम प्रतिष्ठा महोत्सव को करवाने के लिये व्यवस्था कर रहे थे। जगह-जगह से लोग आ रहे थे। राजा-महाराजा भी उपस्थित हो गये। महान् वैभव के साथ भगवान बाहुबलि का अभिषेक प्रारम्भ हुआ, लेकिन बड़े-बड़े कलशों से उत्तमोत्तम मंगल-द्रव्यों से अभिषेक करने पर भी वह नाभि से नीचे ही नहीं उतरते थे। कितना भी अभिषेक किया मगर बीच मे ही रुक जाता था। सब आश्चर्यचकित हो गये। अपने भक्त चामुण्डराय की जिनशासन देवी कूष्मांडिनीदेवी परीक्षा ले रही थी। कूष्मांडिनी देवी एक बुढ़िया का रूप धारण-कर हाथ में एक छोटी-सी कटोरी में दूध लेकर चामुण्डराय से अभिषेक करने की आज्ञा मांगने लगी। उस तेजस्वी बुढ़िया को देखकर चामुण्डराय आदि महाजन आश्चर्यचकित हो गये और चामुण्डराय ने तुरन्त उसको आज्ञा दे दी। तब उसने धीरे-धीरे ऊपर चढ़कर अभिषेक किया तो बाहुबलि का पूरा मस्तकाभिषेक हो गया और दूध इन्द्रगिरि पर्वत से नीचे बहकर गाँव के कुंड में भर गया। दूध से भरे कुंड को देखकर गाँव के लोग उस गाँव को बिलिकोल कहने लगे। (कन्नड़ में बिलि मायने सफेद और कोल मायने कुंड) वहाँ से उस गाँव का नाम बेलगोला पड़ गया। चामुण्डराय का इस साक्षात् घटना को देखकर अभिमान चूर हो गया और उस घटना के स्मरण के लिये यक्षी कूष्मांडिनी देवी को मूर्ति को बनवाया तथा कटोरी हाथ में लिये बुढ़िया के रूप में बाहुबलि भगवान की मूर्ति के सामने स्थापित करवा दिया। वह लगभग ७-८ फीट ऊँची है।

वर्तमान में पूजा-अभिषेक में शंका करने वाले लोग इसको प्रत्यक्ष देखकर सतर्क हो सकते हैं। यह बहुत बड़ा प्रमाण है। १००८ वर्ष पूर्व का है।

इसी प्रकार उनके द्वारा निर्मित मूर्ति के बारे में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने कर्म-काण्ड की अन्तिम प्रशस्ति में लिखा है—

गोम्मट संगह सुत्तं गोम्मट सिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटराय विणिम्मिय दक्खिण कुक्कुडजिणो जयउ ॥९६८॥

इसकी संस्कृत टीका में कहा है—गोम्मट संग्रहसूत्र चामुण्डराय के द्वारा निर्मित प्रासाद में स्थित एक हस्त प्रमाण इन्द्रनील रत्नमय नेमीश्वर का प्रतिबिम्ब और चामुण्डराय के द्वारा निर्मित दक्षिण कुक्कुट जिन सर्वोत्कृष्ट रूप से जयवन्त हो।

चामुण्डराय ने ही उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठाविधि आदि करायी थी तथा गोम्मटसार के टीकाकार अभयचन्द्र, केशववर्णी और नेमिचन्द्र अपने प्रारम्भिक कथन में लिखते हैं कि नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने उपाधिधारी चामुण्डराय के लिये प्रथम सिद्धान्त ग्रन्थ के आधार पर गोम्मटसार ग्रन्थ रचा। नेमिचन्द्र और चामुण्डराय समकालीन थे तथा मूर्ति की स्थापना और गोम्मटसार का संकलन भी प्रायः समकालीन घटनायें हैं। इसलिये गोम्मट का जो भी अर्थ लगाया जाये वह मूर्ति तथा उक्त प्राकृत ग्रंथ के नाम के साथ में संगत होना चाहिये क्योंकि चामुण्डराय का सम्बन्ध बेलगोला की मूर्ति के साथ भी उसी प्रकार है जिस प्रकार उक्त ग्रंथ के साथ है।

यदि हम गोम्मटसार की कुछ अन्तिम गाथाओं को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो एक बात निर्विवाद सिद्ध है कि चामुण्डराय का—जो वीर मार्तण्ड की उपाधि से शोभित थे—एक नाम गोम्मट था और वे गोम्मटराय भी कहे जाते थे। नेमिचन्द्र ने ओजपूर्ण शब्दों में उनकी विजय की भावना की है। जैसा कि निम्न दो गाथाओं से प्रकट है—

अज्जज्जसेण गुणगणसमूह संधारि अजियसेण गुरू।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयउ ॥७३३॥ जी० का०
जेण विणिम्मिय-पडिमा-वयणं सव्वट्ठ सिद्धि देवेहिं।
सव्वपरमोहिजोगिहिं दिट्ठं सो राओ गोम्मटो जयउ ॥९६९॥ कर्म का०

इनमें पहली गाथा जीवकाण्ड की और दूसरी कर्मकाण्ड की है। पहली में कहा है कि वह राय गोम्मट जयवन्त हो, जिनके गुरु के अजितसेन गुरु हैं जो भुवन गुरु हैं। दूसरी गाथा में कहा है कि वह राजा गोम्मट जयवन्त हो, जिनकी निर्माण करायी हुई प्रतिमा (बाहुबलि की मूर्ति) का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवों और सर्वावधि तथा परमावधि के धारक योगियों के द्वारा देखा गया है।

इस समकालीन साक्षी के सिवाय ई० सन् ११८० के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि चामुण्डराय का दूसरा नाम गोम्मट था।

इस तरह डॉ० उपाध्ये के निष्कर्ष के अनुसार गोम्मट चामुण्डराय का व्यक्तिगत नाम था। चूंकि उन्होंने बाहुबलि की मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी इसलिये वह मूर्ति गोम्मटेश्वर कहलाने लगी। अन्त में नेमिचन्द्र ने जो धवलादि का सार तैयार किया वह गोम्मटसार कहलाया। अक्षरशः गोम्मट का अर्थ है उत्तम आदि।

उन्होंने यह ग्रंथ चामुण्डराय के लिये ही बनाया था वरना इसका उल्लेख एक रूपक के रूप में उन्होने इस प्रकार किया है—वह कहते हैं—

सिद्धंतुदयतडुग्गय णिम्मलवर णेमिचन्दकरकलिया।
गुणरयणभूसणंबुहिवेला भरउ भुवणयलं ॥९६७॥

—कि 'सिद्धान्तरूपी उदयाचल के तट पर उदित निर्मल नेमिचन्द्र की किरण से युक्त गुण-रत्नभूषण अर्थात् चामुण्डरायरूपी समुद्र की मति रूपीबेला भुवनतल को पूरित करे।' सिद्धान्तरूपी उदयाचल के तट पर उदित नेमिचन्द्र स्वयं ग्रंथकार हैं, उनके प्रताप से चामुण्डराय रूपी समुद्र की मतिरूपी बेला का प्रसार हुआ है। गुणरत्नभूषण चामुण्डराय की उपाधि थी। आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार का मंगलाचरण करते हुये भी 'गुणरयणभूषणुदयं जीवस्स परूवणं वोच्छं' लिखकर प्रकारान्त से चामुण्डराय का निर्देश किया है। इसी प्रकार उन्होंने कर्मकाण्ड की कई मंगल गाथाओं में द्वयर्थक रूप से चामुण्डराय की उपाधियो का प्रयोग किया है। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि गोम्मट-सार की रचना चामुण्डराय के लिये नेमिचन्द्राचार्य ने की है। उन्होंने अपनी दूसरी रचना त्रिलोक-सार भी चामुण्डराय के प्रतिबोध के लिये रची थी। यह आचार्य नेमिचन्द्र के शिष्य और त्रिलोकसार की संस्कृत टीका के रचयिता माधवचन्द्र ने अपनी टीका के प्रारम्भ में स्पष्ट लिखा है। इसके मंगला-चरण में प्रयुक्त 'बलगोविन्द' का अर्थ उन्होंने बल-चामुण्डराय और गोविन्द-राचमल्लदेव भी किया है। चामुण्डराय गंगनरेश राचमल्लदेव (वि० सं० १०३१-४१) के सेनापति और मन्त्री थे।

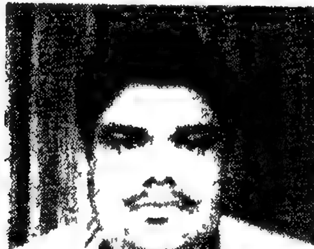
चामुण्डराय संस्कृत और कन्नड़ दोनों ही भाषाओं में कविता लिखते थे। इनके द्वारा रचित चामुण्डराय पुराण और चारित्रसार ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। चामुण्डराय पुराण का अपर नाम त्रिषष्ठि-पुराण है। यह ग्रन्थ कन्नड़ गद्य का सबसे प्रथम ग्रन्थ है। यद्यपि कवि परम्परा से आगत लेखक के प्रसाद और माधुर्य की झलक इस ग्रन्थ में पर्याप्त है तो भी स्पष्ट है कि यह कृति सर्वसाधारण के उपदेश के लिये लिखी गयी है। यद्यपि इसमें पम्प का उपयुक्त-शब्द-अर्थ-चयन, रण्णकालालित्य तथा बाण का शब्द-अर्थ-माधुर्य नहीं है, तो भी इसका अपना सौष्ठव निराला है। इसमें जातक कथा की-सी झलक मिलती है। यों तो इस ग्रंथ में ६३ शलाका पुरुषों की कथा निबद्ध की गयी है, पर साथ में आचार और दर्शन के सिद्धांत भी वर्णित हैं।

आचारशास्त्र का संक्षेप में स्पष्ट रूप से वर्णन इस ग्रंथ में गद्यरूप में प्रस्तुत किया गया है। आरम्भ में सम्यक्त्व और पंचाणुओं का वर्णन है। संकल्पपूर्वक नियम करने को व्रत कहते हैं। इसमें सभी प्रकार के सावद्यों का त्याग किया जाता है। व्रती को निःशल्य कहा है। द्वितीय प्रकरण में सप्तशीलों का कथन आया है। तृतीय प्रकार में षोडश भावना का निरूपण है। चतुर्थ प्रकरण में अनगार धर्म का वर्णन है।

इस प्रकार चामुण्डराय ने चारित्रसार ग्रंथ में श्रावक और मुनि दोनों के आचार का वर्णन किया है। चामुण्डराय का संस्कृत और कन्नड़ गद्य पर अपूर्व अधिकार है। उन्होंने ग्रंथान्तरों के पद्य भी प्रमाण के लिये उपस्थित किये हैं।

—आचार्यकल्प करुणानन्दी

गणधराचार्य श्री कुन्थुसागर जी एवम् उपाध्याय श्री कनकनन्दी जी महाराज
के ससंघ बड़ौत (उ० प्र०) में चातुर्मास के उपलक्ष्य में प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानार्जन के लिए समर्पित।



सौजन्य से —
श्री नेमचन्द जैन
मै० सूरजमल नेमचन्द जैन
सर्राफ एण्ड बैंकर्स
बाजार कलाँ, बड़ौत (मेरठ)
फोन : 2407, 2590



श्रीवीतरागायनमः ।

श्रीमच्चामुण्डरायविरचित—

चारित्रसार



हिन्दी—अनुवाद सहित

अरिहननरजोहननरहस्यहरं पूजनार्हमर्हन्तम् ।
सिद्धान्सिद्धाष्टगुणान् रत्नत्रयसाधकान् स्तुवे साधून् ।।

मैं (ग्रन्थकर्ता श्री चामुंडराय) मोहनीय कर्म को नाश करने वाले ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण को नाश करने वाले और अन्तराय कर्म को नाश करने वाले तथा सबके द्वारा पूजा करने योग्य ऐसे अरहंत भगवान की स्तुति करता हूं तथा सिद्धों के आठ गुणों से सुशोभित ऐसे सिद्ध भगवान की स्तुति करता हूं और सदा रत्नत्रय को सिद्ध करने वाले साधु लोगों की स्तुति करता हूं ।।१।।

श्रीमज्जिनेन्द्रकथिताय सुमंगलाय लोकोत्तमाय शरणाय विनेयजंतोः ।
धर्माय कायवचनाशयशुद्धितोऽहं स्वर्गापवर्गफलदाय नमस्करोमि ॥

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते । धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नम. ॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भवभृता धर्मस्य मूलं दया । धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं हे धर्म ! मां पालय ॥

सम्यक्त्व—पञ्चाणुव्रतवर्णनम् ।

सम्यग्दृष्टीनां चत्वारो वंदनाप्रधानभूता:, अर्हन्त. सिद्धाः साधवो धर्मश्चेति । तत्रार्हत्सिद्ध-साधवो नमस्कारेणोक्ताः धर्म उच्यते । आत्मानमिष्टनरेन्द्रसुरेन्द्रमुनींद्रमुक्तिस्थाने धत्त इति धर्मः । अथवा ससारस्थान्प्राणिनो धरते धारयतीति वा धर्म. । स च सागाराऽनगारविषयभेदाद्द्विविध. । तत्र सागरधर्म उच्यते ।

और जो अंतरंग बहिरंग लक्ष्मी को धारण करने वाले भगवान अरहंत देव का कहा हुआ है, जो संसार में सुमंगल रूप है, सर्वोत्तम है, शिष्य जीवों को शरणरूप है और स्वर्ग मोक्ष रूप फल देने वाला है, ऐसे धर्म को मैं मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक नमस्कार करता हूं ॥२॥

इस संसार में धर्म ही सब सुखों का खजाना है और धर्म ही सबका हित करने वाला है । इस धर्म को विद्वान लोग ही सेवन करते है व वृद्धि करते हैं । इस धर्म से ही मोक्ष सुख प्राप्त होता है, इसलिये इसी धर्म के लिये मैं नमस्कार करता हूँ । संसारी जीवों का धर्म के सिवाय और कोई मित्र नहीं है । इस धर्म की जड़ दया है, इसलिये मैं अपना चित्त प्रतिदिन धर्म में धारण करता हूँ । हे धर्म ! मेरी रक्षा कर ॥३॥

सम्यग्दर्शन और पांच अणुव्रतों का वर्णन—सम्यग्दृष्टियों के लिये प्रधान रीति से वन्दना करने योग्य चार हैं—अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म । इनमें से अरहन्त, सिद्ध और साधु तो नमस्कार रूप से कह दिये गये हैं, अब धर्म का स्वरूप कहते हैं । जो इस आत्मा को सबको इष्ट है ऐसे नरेन्द्र, सुरेन्द्र, मुनीन्द्र और मोक्ष स्थान में धारण कर दे उसे धर्म

दार्शनिकव्रतिकावपि सामायिकप्रोषधोपवासश्च । सचित्तरात्रिभुक्तिव्रतनिरतौ ब्रह्मचारी च ॥
आरंभाद्विनिवृत्तः परिग्रहादनुमतस्तथोद्दिष्टः । इत्येकादशनिलया जिनोदिताः श्रावकाः क्रमशः ॥

व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्वगुणैः सह क्रमप्रवृद्धा भवंति । तत्र दार्शनिकः—संसारशरीर-भोगनिर्विण्णः पंचगुरुचरणभक्तः सम्यग्दर्शनविशुद्धश्च भवति । जिनेन भगवताऽर्हता परमेष्ठिनोपदिष्टे निर्ग्रंथलक्षणे मोक्षमार्गे श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तस्य सम्यग्दर्शनस्य मोक्षपुरपथिकपाथेयस्य मुक्ति-सुन्दरीविलासमणिदर्पणस्य संसारसमुद्रगर्तावर्तमग्नजनदत्तहस्तावलंबनस्यैकादशोपासकस्थानप्रासादा-

---

कहते हैं अथवा संसारी प्राणियों को जो धारण कर उत्तम स्थान में पहुँचा दे उसे धर्म कहते हैं। वह धर्म गृहस्थ और मुनियों के भेद से दो प्रकार का है जिसमें से पहिले को गृहस्थ धर्म कहते हैं।

दार्शनिक, व्रती, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्तविरत, रात्रिभुक्तिव्रतनिरत, ब्रह्मचारी, आरम्भत्यागी, परिग्रहत्यागी, अनुमतित्यागी और उद्दिष्टत्यागी, इस प्रकार श्री जिनेन्द्रदेव ने अनुक्रम से इन ग्यारह स्थानों में रहने वाले ग्यारह प्रकार के श्रावक बतलाये हैं।

इन श्रावकों के ये व्रतादि गुण सम्यग्दर्शन आदि अपने पहिले के गुणों के साथ अनुक्रम से बढ़ते रहते हैं। इनमें से दर्शन प्रतिमा वाला संसार में शरीर के भोगों से विरक्त रहता है, पाँचों परमेष्ठियों के चरण कमलों का भक्त रहता है और सम्यग्दर्शन से विशुद्ध रहता है। भगवान अरहन्त परमेष्ठी श्री जिनेन्द्र देव ने जो निर्ग्रन्थरूप मोक्ष का मार्ग बतलाया है उसमें श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह सम्यग्दर्शन मोक्ष नगर में जाने वाले पथिक के लिये मार्ग में खाने-पीने व काम आने योग्य पाथेय है, मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री के शृंगार करने के लिये मणियों का बना हुआ दर्पण है, संसार महासागर रूपी गड्ढे में डूबे हुये मनुष्य के लिये दिये हुये हाथ का सहारा है, श्रावकों के ग्यारह स्थान व प्रतिमा

धिष्ठानस्योत्तमक्षमादिदशकुलधर्मकल्पपादपमूलस्य परमपावनस्य सकलमंगलनिलयस्य मोक्षमुख्य-करणस्याष्टांगानि भवंति । निःशंकितत्वं निःकांक्षता निर्विचिकित्सता अमूढदृष्टित्वं उपबृंहणं स्थिति-करणं वात्सल्यं प्रभावना चेति । तत्रेहलोकः परलोकः व्याधिर्मरणं अगुप्तिः अत्राणं आकस्मिक इति सप्तविधाद्भयाद्विनिर्मुक्तता, अथवाऽर्हदुपदिष्टद्वादशांगप्रवचनगहने एकमक्षरं पदं वा किमिदं स्याद्वा न वेति शंकानिरासो निशंकितत्वम् । एहलौकिकपारलौकिकेंद्रियविषय उपभोगाकांक्षानिवृत्तिः, कुदृष्ट्यं-तराकांक्षानिरासो वा निःकांक्षता । शरीराद्यशुचित्वभावमवगम्य शुचीति मिथ्यासंकल्पापनयोऽथवाऽर्हं-त्प्रवचने इदमयुक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्नमित्यशुभभावनानिरासो विचित्साविरहः । बहुविधेषु दुर्नयवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावमध्यवस्य परीक्षाचक्षुषा विरहितमोहममूढदृष्टित्वम् । उत्तमक्षमादिभावनयात्मन आत्मीयस्य च धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम् । कषायोदयादिषु धर्मपरिभ्रंश-

---

रूपी राजमहल की नींव है, उत्तम क्षमा आदि दश कुलधर्म रूपी कल्पवृक्ष की जड़ परम पवित्र है, समस्त मंगल द्रव्यों का स्थान है और मोक्ष का मुख्य कारण है।

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना, यह लोक, परलोक, व्याधि, मरण अगुप्ति, अरक्षा और आकस्मिक । इन सातों प्रकार के भयों से रहित होना निःशंकित है । अथवा भगवान अरहन्त देव के कहे हुये अत्यन्त गहन ऐसे द्वादशांग शास्त्र में एक अक्षर या एक पद के लिये "यह है या नहीं" ऐसी शंका न होना निःशंकित अंग है । इस लोक, पर-लोक और इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी उपभोगों की आकांक्षा दूर करना अथवा मिथ्यादृष्टि होने की आकांक्षा नहीं करना निःकांक्षित अंग है । शरीर आदि को अपवित्र समझकर "यह शरीर पवित्र है" ऐसे मिथ्या संकल्प का दूर करना अथवा अरहन्त देव के कहे हुए शास्त्रों में जो कुछ कहा है वह सब अयुक्त है, अत्यन्त कष्टदायक है तथा बिलकुल असंभव है । ऐसी अशुभ भावना नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग कहा जाता है । अनेक प्रकार के जो दुर्नय मार्ग (मिथ्यामार्ग) हैं, जिनमें कहे हुए अतत्त्व या मिथ्या तत्त्व भी तत्त्वों के समान जान पड़ते हैं, उनमें युक्तियों का अभाव समझकर परीक्षा रूपी नेत्रों के द्वारा अपना मोह

कारणेषूपस्थितेषु स्वपरयोर्धर्मप्रच्यवनपरिपालनं स्थितिकरणम् । जिनप्रणीते धर्मामृते नित्यानुरागताऽथवा सद्यःप्रसूता यथा गौर्वत्से स्निह्यति तथा चातुर्वर्ण्ये संघेऽकृत्रिमस्नेहकरणं वात्सल्यम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रभावादात्मनः प्रकाशनमथवा ज्ञानतपःपूजासु ज्ञानदिनकरकिरणैः परसमयखद्योतोद्योतावरणकरणं च, महोपवासादिलक्षणेन देवेंद्रविष्टरप्रकंपनसमर्थेन सत्तपसा स्वसमयप्रकटनं च महापूजामहादानादिभिर्धर्मप्रकाशनं च प्रभावना । एवं विधाष्टांगविशिष्टं सम्यक्त्वं तद्विकलयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात् । सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय, महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च ।

सम्यक्त्वमंगहीनं राज्यमिव श्रेयसे भवेन्नैव । न्यूनाक्षरो हि मंत्रो नालं विषवेदनाच्छित्यै ॥

दूर करना अर्थात् ऐसे मिथ्या मार्ग में मोहित न होना अमूढदृष्टि अंग कहलाता है । उत्तम क्षमादि भावनाओं के द्वारा अपने आत्मा तथा कुटुम्ब, परिवार व अन्य लोगों के धर्म की वृद्धि करना उपबृंहण अंग कहा जाता है । धर्म से भ्रष्ट करने वाले कषायों के प्रगट हो जाने पर अपने को तथा दूसरों को धर्मभ्रष्ट होने से रक्षा करना (धर्म का मार्ग छोड़ने न देना) स्थितिकरण अंग है । भगवान श्री जिनेन्द्र देव के कहे हुए धर्मरूपी अमृत में सदा अनुराग रखना अथवा जिस प्रकार तुरन्त की प्रसूता गाय अपने बच्चे पर प्रम करती है उसी प्रकार चारों प्रकार के संघ पर स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अंग कहा जाता है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के प्रभाव से आत्मा का प्रभाव प्रकट करना अथवा ज्ञान, तपश्चरण और पूजाओं में ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के द्वारा परमत रूपी खद्योत (जुगनू व पटबीजना) का प्रकाश ढक देना तथा जिसमें इन्द्रादि बड़े-बड़े देवों के आसनों को कंपायमान करने की सामर्थ्य है ऐसे बड़े-बड़े महाउपवास आदि श्रेष्ठ तपश्चरण के द्वारा अपने जैन मत को प्रसिद्ध करना और महापूजा तथा महादान आदि कार्यों के द्वारा धर्म का प्रकाश करना प्रभावना अंग है । इस प्रकार आठों अंगों से परिपूर्ण सम्यग्दर्शन होता है । यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतों का नाम तक नहीं होता है । यही सम्यग्दर्शन यदि अणुव्रत सहित हो तो उससे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और यदि महाव्रत सहित हो तो उससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है । जिस प्रकार अंग-

सम्यक्त्वस्य: गुणाः—संवेगो निर्वेदो निंदा गर्हा तथोपशमभक्ती ।
अनुकंपा वात्सल्यं गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

उक्त चाबद्धायुष्कविषये—सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुःकुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः ॥

भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपयायिनः । चारित्रयानपात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनम् ॥

दार्शनिकस्य कस्यचित्कदाचिद्दर्शनमोहोदयादतीचाराः पंच भवंति । शंकाकांक्षाविचिकित्सा-

---

हीन राज्य कल्याणकारी नहीं हो सकता उसी प्रकार अंगहीन सम्यग्दर्शन भी कल्याण-कारी नहीं हो सकता, सो ठीक है क्योंकि अक्षरहीन मन्त्र से कभी विष की वेदना दूर नहीं होती ।

अब आगे सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं—संवेग (धर्म के कामों में परम रुचि रखना), निर्वेद (संसार शरीर भोगों से विरक्त रहना), निंदा (अपने में गुण होते हुये भी अपनी निंदा करते रहना), गर्हा (अपने में गुण होते हुये भी मन में अपनी निंदा करते रहना), उपशम (कषायों की मंदता रखना, शांतिभाव रखना), भक्ति (पंचपरमेष्ठी में गाढ भक्ति रखना), अनुकंपा (जीवदया के भाव प्रकट करते रहना), वात्सल्य (धर्मात्माओं में प्रेम रखना), ये आठ सम्यग्दृष्टि पुरुष के गुण हैं। सम्यग्दर्शन की प्रशंसा में अबद्धायुष्क (जिसके सम्यग्दर्शन हो गया हो और आयुकर्म का बंध न हुआ हो) के लिये लिखा है—जो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है वह अव्रती होने पर भी नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री नहीं होता, नीच कुल में उत्पन्न नहीं होता, विकृत (अंग-उपांगहीन) नहीं होता, थोड़ी आयु वाला नहीं होता और दरिद्री भी नहीं होता । और भी लिखा है—इस संसार रूपी महासागर में जो भव्य चारित्र रूपी जहाज पर चढ़कर मोक्ष रूपी द्वीप को जा रहे हैं उनके लिये यह सम्यग्दर्शन खेवटिया के समान है, भावार्थ सम्यग्दर्शन के बिना वे कभी मोक्ष नहीं पहुँच सकते ।

किसी समय किसी सम्यग्दृष्टि के दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से शंका, आकांक्षा,

न्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवा इति । तत्र मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा, वचसा भूताभूतगुणोद्भावनं संस्तवः, एवं प्रशंसासंस्तवयोर्मानसकृतौ वाक्कृतश्च भेदः, शेषाः सुगमाः । सम्यग्दर्शनसामान्यादणुव्रतिकमहाव्रतिनोरिमेऽतिचाराः ।

व्रतिको निःशल्यः पंचाणुव्रतरात्रिभोजनविरमणशीलसप्तकं निरतिचारेण यः पालयति स भवति । तत्र यथा शरीरानुप्रवेशिकाण्डकुंतादिप्रहरणं शरीरिणां बाधाकरं तथा कर्मोदयविकारे शरीरमानसबाधाहेतुत्वाच्छल्यमिव शल्यम् । तत्त्रिविधं, मायानिदानमिथ्यादर्शनभेदात् माया वंचनं, निदानं विषयभोगाकांक्षा, मिथ्यादर्शनमतत्त्वश्रद्धानम् । उत्तरत्र वक्ष्यमाणेन महाव्रतिनाऽपि शल्यत्रयं परिहर्तव्यम् ।

विचिकित्सा, अन्य दृष्टिप्रशंसा तथा अन्य दृष्टिसंस्तव ये पांच अतिचार भी होते हैं। मन से मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र गुणों को प्रकट करना प्रशंसा है और वचन से उनमें होने वाले या न होने वाले गुणों को प्रकट करना संस्तव है। बस यही मन तथा वचन से होने वाली प्रशंसा और स्तुति में भेद है। बाकी के सब अतिचार सरल हैं। सम्यग्दर्शन अणुव्रती और महाव्रती दोनों के एकसा होता है, इसलिये ये अतिचार भी दोनों के ही होते हैं।

जो शल्यरहित होकर पांच अणुव्रत, रात्रि भोजन त्याग और सातों शीलों को (तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रतों को) अतिचाररहित पालन करता है वही व्रती कहलाता है। शल्य बाण को कहते हैं। जिस प्रकार शरीर में घुसे हुए बाण अथवा भाले या बरछे की चोट जीवों को दुःख देती है उसी प्रकार कर्म के उदय जन्य विकार होने पर जो शल्य के (बाण के) समान शरीर और मन को दुःख देने वाली हो उसे शल्य कहते हैं। वह शल्य माया निदान और मिथ्यादर्शन के भेद से तीन प्रकार का है। वंचना, ठगना आदि को माया कहते हैं। विषय भोगों की इच्छा करना निदान है और अतत्त्वों का श्रद्धान करना अथवा तत्त्वों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। आगे जो महाव्रत का स्वरूप कहेंगे उसको धारण करने वाले महाव्रती को भी तीनों शल्यों का त्याग कर देना चाहिये।

अभिसंधिकृतो नियमो व्रतमित्युच्यते, सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवादणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जंगमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च आचाराद्विरतिराद्यमणुव्रतम् ।

तस्य प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणलक्षणस्य पंचातीचारा भवंति । बंधो, वधः, छेदः, अतिभारारोपणं, अन्नपाननिरोधश्चेति । तत्रास्मिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्प्रतिबंधहेतोः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषंगो बंधः । दंडकशावेत्रादिभिः प्राणिनामभिघातो वधः । कर्णनासिकादीनामवयवानामपनयनं छेदः । न्यायादनपेताद्भारादतिरिक्तस्य भारस्य वाहनमतिलोभाद्गवादीनामतिभारारोपणं । तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्नपाननिरोध इति ।

स्नेहस्य मोहस्य द्वेषस्य वोद्रेकादसदभिधानं ततोनिवृत्तादरो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम् ।

अभिप्रायपूर्वक नियम करने को व्रत कहते हैं । गृहस्थ के समस्त पापों का त्याग होना असंभव है इसलिये जो गृहस्थ मन, वचन, काय इन तीनों से प्रमाद या कषाय से होने वाले दो इन्द्रिय आदि त्रस जीवों के प्राणों के घात से दूर रहता है अर्थात् जो मन, वचन, काय तीनों से त्रस जीवों की हिंसा करना छोड़ देता है उसका वह पहिला अहिंसाणुव्रत कहलाता है । प्रमाद के निमित्त से त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करने रूप अहिंसाणुव्रत के बंध, वध, छेद, अतिभारारोपण और अन्नपान निरोध ये पांच अतिचार होते हैं । जो (पुरुष, स्त्री या पशु) अपनी इच्छानुसार किसी स्थान को जाना चाहता हो उसे रोकने के लिये कील, खूंटा आदि में रस्सी, संकल आदि के द्वारा बांधना बंध कहलाता है । लकड़ी, कोड़ा और बेंत आदि के द्वारा जीवों को मारना वध है । कान, नाक, आदि अवयवों का काटना छेद है । बैल, घोड़ा आदि जीव अपनी शक्ति के अनुसार न्याय से ले जाने योग्य जितना बोझ ले जा सकते हैं उससे अधिक बोझा लादना अतिभारारोपण कहलाता है । किसी भी कारण से उन बैल, घोड़ा आदि जानवरों को भूख-प्यास की बाधा देना अन्नपान निरोध है ।

स्नेह, मोह और द्वेष के उद्रेक से असत्य भाषण किया जाता है । उस असत्य के त्याग

तस्य व्रतस्य पंचातिक्रमा भवंति । मिथ्योपदेशः, रहोऽभ्याख्यानं, कूटलेखक्रिया, न्यासापहारः, साकारमंत्रभेदश्चेति ।

तत्राभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्त्तनमभिसंधानं वा मिथ्योपदेशः । स्त्रीपुरुषाभ्यामेकांतेऽनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशनं रहोऽभ्याख्यानम् । अन्येनानुक्तं यत्किंचित्परप्रयोगवशादेवं तेनोक्तमनुष्ठितमिति वंचनानिमित्तं लेखनं कूटलेखक्रिया । हिरण्यादेर्द्रव्यस्य निक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यानमाददानस्य 'एवमित्य'—नुज्ञावचनं न्यासापहारः । अर्थप्रकरणांगविकारभ्रूक्षेपादिभिः पराकूतमुपलभ्य यदाविष्करणमसूयादिनिमित्तं तत्साकारमंत्रभेद इति । अन्यपीडाकरं

करने में आदर रखना गृहस्थ के लिये दूसरा सत्याणुव्रत कहलाता है । इस सत्याणुव्रत के भी मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद ये पांच अतिचार होते हैं । अभ्युदय और मोक्ष सिद्ध करने वाली विशेष क्रियाओं में किसी भी अन्य पुरुष को विपरीत रूप से प्रवृत्त कराना अथवा विपरीत अभिप्राय बतलाना मिथ्योपदेश है । स्त्री-पुरुषों के द्वारा एकांत में की हुई विशेष क्रियाओं को प्रकाशित कर देना रहोभ्याख्यान है । जो बात किसी दूसरे ने नहीं कही है उसी बात को किसी की प्रेरणा से 'उसने यह बात कही है अथवा उसने यह काम किया है' इस प्रकार ठगने के लिये झूठे लेख लिखना कूटलेख क्रिया है । कोई पुरुष सोना-चांदी आदि द्रव्य किसी के धरोहर रख गया हो और फिर अपनी रखी हुई संख्या भूलकर थोड़ा ही द्रव्य मांगता हो तो उसके लिये वह धरोहर रखने वाला 'अच्छा ठीक है, इतना ले जाओ' इस प्रकार आज्ञा दे तो उस धरोहर रखने वाले के न्यासापहार अतिचार लगता है । किसी अर्थ के प्रकरण से अथवा अंगों के विकार से या भौंह चलाने आदि किसी भी कारण से दूसरे का अभिप्राय जानकर ईर्ष्या और डाह के निमित्त से उस अभिप्राय का प्रकट कर देना साकार मंत्रभेद कहलाता है ।

जो राजा आदि के भय के वश से परवश होकर छोड़ दिया गया हो अथवा कोई रख गया हो या किसी से पड़ गया हो अथवा कोई भूल गया हो ऐसे दूसरे को दुःख देने वाले बिना दिये हुए द्रव्य को ग्रहण करना चोरी है, उसका त्याग करना अथवा उसका त्याग

पार्थिवादिभयवशादवशपरित्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृतं वा अदत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् ।

अदत्तादानविरतेः पंचातीचारा भवंति । स्तेनप्रयोगः, तदाहृतादानं, विरुद्धराज्यातिक्रमः हीनाधिकमानोन्मानं, प्रतिरूपकव्यवहारश्चेति । मोषकस्य त्रिया प्रयोजनं, मुष्णन्तं स्वयमेव प्रयुक्ते, अन्येन वा प्रयोजयति, प्रयुंक्तमनुमन्यते वा यः स स्तेनप्रयोगः । अप्रयुक्तेनाननुमतेन च चौरेणानीतस्य ग्रहणं तदाहृतादानम् । विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं, उचितन्यायादन्येन प्रकारेणादानं ग्रहणमतिक्रमः, तस्मिन्विरुद्धराज्ये योऽसावतिक्रमः स विरुद्धराज्यातिक्रमः । प्रस्थादिमानं तुलाद्युन्मानमेतेन न्यूनेनान्यस्मै देयमधिकेनात्मना ग्राह्यमित्येवमादि कूटप्रयोगी हीनाधिकमानान्मोनम् । कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वंचना पूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहार इति । उपात्ताय । अनुपात्तायाश्च परागनायाः संगाद्विस्तरतिर्विरताविरत इति चतुर्थमणुव्रतम् ।

करने में आदर रखना श्रावक के लिए तीसरा अचौर्याणुव्रत कहलाता है । इस अचौर्याणुव्रत के स्तेनप्रयोग, तदाहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार ये पांच अतिचार होते हैं । चोर को तीन तरह से प्रेरणा की जा सकती है—एक तो चोर को स्वयं प्रेरणा करना, दूसरे अन्य किसी से प्रेरणा करना और तीसरे चोरी करने वाले को भला मानना । इन तीनों क्रियाओं को स्तेनप्रयोग कहते हैं । जिसको चोरी करने के लिये न तो प्रेरणा की है और न जिसकी चोरी करने में सहमत हुआ है ऐसे चोर के द्वारा लाये हुए द्रव्य को ग्रहण करना तदाहृतादान है । जिस राज्य में विरुद्धता फैली हो उसे विरुद्ध-राज्य कहते हैं । उचित न्याय को छोड़कर दूसरी तरह से ग्रहण करना अतिक्रम कहलाता है । किसी विरुद्ध राज्य में अतिक्रम करना अर्थात् उचित न्याय को छोड़कर अन्यायपूर्वक लेना-देना विरुद्धराज्यातिक्रम है । मापने के सेर, पायली आदि को मान कहते हैं और तौलने के तोले, सेर, छटांक आदि को उन्मान कहते हैं । इनको कमती-बढ़ती रखना अर्थात् कमती से दूसरों को देना और बढ़ती से लेना इस प्रकार छल-कपट के प्रयोग करने को हीनाधिक मानोन्मान कहते हैं । कृत्रिम सोने-चांदी आदि के द्वारा ठगने का व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है—

स्वदारसंतोषव्रतस्यातीचाराः पंच भवंति । परविवाहकरणं, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमनं, इत्वरिकापरिगृहीतागमनं अनंगक्रीडा, कामतीव्राभिनिवेशश्चेति । तत्र सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदया-द्विवहनं विवाहः परस्य विवाहकरणं परविवाहकरणं ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोहस्त्रीवेदोदयप्रकर्षादंगोपांगनामोदयावष्टंभाच्च परपुरुषानेतीति इत्वरिका या गणिकात्वेन वा पुंश्चलीत्वेन परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिका—अपरिगृहीतागमनं । या पुनरेकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता, तस्यां गमनमित्वरिकापरिगृहीतागमनं । अंगं प्रजननं योनिश्च, ततो जघनादन्यत्रानेकविधप्रजननविकारेण रतिरनंगक्रीडा । कामस्य प्रवृद्धः परिणामोऽनुपरतवृत्त्यादिः कामतीव्राभिनिवेश इति । धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पंचममणुव्रतं ।

उपात्त (विवाहित) तथा अनुपात्त (अविवाहित) परस्त्रियों के समागम से विरक्त रहना विरताविरत श्रावक के लिए चौथा महाणुव्रत कहलाता है । इस स्वदारसंतोष व्रत के परविवाहकरण, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, इत्वरिका परिगृहीतागमन, अनंग क्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश ये पांच अतिचार होते हैं । साताबेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो पंच अग्नि और देवों की साक्षीपूर्वक पाणिग्रहण किया जाता है उसे विवाह कहते हैं । दूसरे का विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है ।

ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम होने से जो कला, गुण आदि प्राप्त हुए हैं उनके कारण तथा चारित्रमोहनीय कर्म के अन्तर्गत स्त्रीवेद कर्म के विशेष उदय होने से और अंगोपांग नाम कर्म के उदय की प्राप्ति होने से जो परपुरुषों के समीप जाती है उसे इत्वरिका कहते हैं । वेश्या होकर अथवा व्यभिचारिणी बनकर परपुरुषों के समीप जाने का जिसका स्वभाव है और जिसका कोई स्वामी है उसे इत्वरिका अपरिगृहीता कहते हैं । उसमें गमन करना इत्वरिका अपरिगृहीतागमन कहलाता है । जिसका कोई एक पुरुष स्वामी हो वह परिगृहीता कहलाती है । इत्वरिका परिगृहीता स्त्री में गमन करना इत्वरिका परिगृहीतागमन कहलाता है । उत्पन्न होने के स्थान को अर्थात् योनि को अंग कहते हैं । उसको छोड़कर किसी भी दूसरी जगह काम-क्रीड़ा करना अनंग क्रीड़ा कहलाती है । काम के अत्यन्त बढ़े हुए

परिग्रहविरमणव्रतस्य पंचातिक्रमा भवंति । क्षेत्र-वास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदास-कुप्यमिति । तत्र क्षेत्रं सस्याधिकरणं, वास्तु अगारं, हिरण्यं रूप्यादिव्यवहारप्रयोजनं, सुवर्णं विख्यातं, धनं गवादि, धान्यं व्रीह्यादि, दासीदासं भृत्यस्त्रीपुरुषवर्गः कुप्यं क्षौमकार्पासकौशेयचन्दनादि, एतेषु एतावानेव परिग्रहो मम नाऽतोऽन्य इति परिच्छिन्नात्प्रमाणात् क्षेत्रवास्त्वादिविषयादतिरेक अतिलोभवशात्प्रमाणातिरेक इति ।

परिणामों को अर्थात् काम-सेवन से तृप्त न होना, सदा उसी में लगे रहना आदि को काम-तीव्राभिनिवेश कहते हैं ।

अपनी इच्छानुसार धन, धान्य, क्षेत्र आदि का परिमाण कर लेना गृहस्थ के लिए पांचवां परिग्रहपरिमाणाणुव्रत कहलाता है । इस परिग्रहपरिमाण व्रत के क्षेत्र वास्तु, हिरण्य सुवर्ण, धन-धान्य, दासी-दास और कुप्य ये पांच अतिचार होते हैं । जिनमें धान्य पैदा होता है ऐसे खेतों को क्षेत्र कहते हैं, मकान को वास्तु कहते हैं, रुपया आदि जिनसे संसार का व्यवहार चलता है उन्हें हिरण्य कहते हैं, सोने को सुवर्ण, गाय, भैंस, घोड़े आदि जानवरों को धन, गेहूँ, जौ आदि को धान्य, नौकर रहने वाले स्त्री-पुरुषों के समूह को दासी-दास और कपड़ा-कपास, कोसा-चंदन आदि घर की सामग्री को कुप्य कहते हैं । परिग्रह परिमाणाणुव्रत धारण करने वाले को इन सब चीजों का परिमाण कर लेना चाहिये कि मैं इन चीजों को इतनी रखूंगा, इससे अधिक नहीं । इस प्रकार परिमाण कर लेने पर अतिशय लोभ के वश होकर उस परिमाण का उल्लंघन करना अर्थात् खेत, मकान आदि की मर्यादा व संख्या बढ़ा लेना परिग्रहपरिमाण व्रत के अतिचार हैं ।

जीवों पर दया कर रात्रि में अन्नपान, खाद्य और लेह्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना रात्रि भोजन विरमण नाम का छठा अणुव्रत कहलाता है ।

रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतं ।

वधादसत्याच्चौर्याच्च कामाद्ग्रन्थान्निवर्तनं । पंचधाऽणुव्रतं राज्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं ॥

इत्यणुव्रतवर्णनं ।



शीलसप्तकवर्णनम् ।

स्थवीयसीं विरतिमभ्युपगतस्य श्रावकस्य व्रतविशेषो गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते । दिग्विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदंडविरतिः सामायिकं, प्रोषधोपवासः, उपभोगपरिभोगपरिमाणं, अतिथिसंविभागश्चेति ।

हिंसा, असत्य, चोरी, काम-सेवन और परिग्रह इनसे (एकदेश) विरक्त होना, त्याग करना पांच प्रकार का अणुव्रत कहलाता है तथा रात्रि भोजन का त्याग करना छठा अणुव्रत कहा जाता है ।

इस प्रकार अणुव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ ।



आगे गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतों का वर्णन करते हैं—जो श्रावक अपने व्रतों को स्थिर रखना चाहता है उसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन सातों विशेष व्रतों को और पालन करना चाहिये । इन सातों व्रतों को शील कहते हैं तथा दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग व्रत-ये उनके नाम हैं ।

तत्र प्राची, अपाची, उदीची, प्रतीची, ऊर्ध्वं, अधो, विदिशश्चेति । तासां परिमाणं योजनादिभिः पर्वतादिप्रसिद्धाभिज्ञानैश्च ताश्च दिशो दुष्परिहारैः क्षुद्रजंतुभिराकुला अतस्ततो बहिर्न यास्यामीति निवृत्तिर्दिग्विरतिः । निरवशेषतो निवृत्तिं कर्तुमशक्नुवतः शक्त्या प्राणिवधविरतिं प्रत्यागूर्णस्यात्र प्राणनिमित्तं यात्रा भवतु मा वा सत्यपि प्रयोजनभूयस्त्वे परिमिताद्दिग्वधेर्बहिर्न यास्यामीति तिर्यगतिक्रमः प्रणिधानादहिंसाद्यणुव्रतधारिणोऽप्यस्य परिगणिताद्दिग्वधेर्बहिर्मनोवाक्काययोगैः कृतकारितानुमतविकल्पैर्हिंसादिसर्वनिवृत्तिरिति महाव्रतं भवति ।

दिग्विरमणव्रतस्य पंचातीचारा भवंति । ऊर्ध्वातिक्रमः, अधोऽतिक्रमः तिर्यगतिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व (ऊपर), अधो (नीचे), ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य ये दश दिशाएं कहलाती हैं । पर्वत, नदी आदि प्रसिद्ध चिन्हों के द्वारा अथवा योजनादि के द्वारा उन दशों दिशाओं का परिमाण कर लेना और यह नियम कर लेना कि ये सब दिशाएं जो हटाये न जा सकें ऐसे छोटे-छोटे जीवों से भरी हुई हैं इसलिये इस किये हुए परिमाण के बाहर मैं नहीं जाऊंगा । इस प्रकार परिमाण के बाहर जाने-आने का त्याग करना दिग्विरति है । जो श्रावक सम्पूर्ण पापों का त्याग नहीं कर सकता इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार प्राणियों की हिंसा का त्याग करना चाहता है वह यह समझता है कि प्राणों के लिये यात्रा हो अथवा न हो, भारी से भारी प्रयोजन या काम होने पर भी नियमित दिशाओं के बाहर नहीं जाऊंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करने वाले तथा अहिंसा आदि पांचों अणुव्रतों को धारण करने वाले श्रावक के नियमित दिशाओं के परिमाण के बाहर मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना से हिंसादि समस्त पापों का पूर्ण रीति से त्याग हो जाता है इसलिये मर्यादा के बाहर उसके महाव्रत ही [1]समझा जाता है ।

इस दिग्विरति व्रत के ऊर्ध्वातिक्रम, अधोतिक्रम, तिर्यगतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यंतराधन ये पांच अतिचार होते हैं । पर्वत या ऊँची भूमि पर चढ़ने में ऊपर की मर्यादा

---

१. प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय से महाव्रत होता नहीं है किन्तु महाव्रत के समान समझा जाता है ।

स्मृत्यंतराधानं चेति । तत्र पर्वतमरुद्भूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । कूपावतरणादिरधोतिक्रमः । भूमिबिलगिरिदरीप्रवेशादिस्तिर्यग्व्यतिक्रमः प्राग्दिशो योजनादिभिः परिच्छिद्य पुनर्लोभवशात्ततोऽधिकाकांक्षणं क्षेत्रवृद्धिः । इयमिदं मया योजनादिभिरभिज्ञानं कृतमिति तदभावः स्मृत्यंतराधानं । दिग्विरमणव्रतस्य प्रमादान्मोहाद् व्यासंगाद्वतीचारा भवंति । मदीयस्य गृहां।रस्य तडागस्य वा मध्यं मुक्त्वा देशांतरं न गमिष्यामीति तन्निवृत्तिर्देशविरतिः । प्रयोजनमपि दिग्विरतिवद्देशविरतिव्रतस्य ।

तस्य पंचातिचारा भवंति । आनयनं, प्रेष्यप्रयोगः, शब्दानुपातः, रूपानुपातः, पुद्गलक्षेप इति । तत्रात्मना सकल्पितदेशे स्थितस्य प्रयोजनवशा त्किंचिदानयेत्याज्ञापनमानयनं । परिच्छिन्नदेशाद्बहिः

में उल्लंघन किया जा सकता है, कूएं में उतरने आदि में नीचे की दिशा का उल्लंघन हो सकता है । पृथ्वी के बड़े-बड़े बिल और पर्वतों की कंदराओं में जाने में तिर्यक् अतिक्रम होता है । योजनादि के द्वारा जो सब दिशाओं का परिमाण किया था उसके आगे जाने के लिये भी लोभ के कारण आकांक्षा रखना क्षेत्रवृद्धि है । मैंने योजनादिकों के द्वारा इतना-इतना परिमाण किया है, ऐसी स्मृति का भूल जाना स्मृत्यंतराधान है । ये सब अतिचार प्रमाद से, मोह से अथवा व्यासंग से होते हैं ।

मैं इस घर में रहता हूँ अथवा इस तालाब के भीतर मकान में रहता हूँ इसलिये (इतने दिन तक अथवा इतनी देर तक) इसके बाहर अन्य देश में नहीं जाऊंगा, इस प्रकार त्याग कर देना देशविरति है । इस देशविरति का प्रयोजन भी दिग्विरति के समान समझना चाहिये ।

इस व्रत के भी आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ऐसे पांच अतिचार हैं । जितना देश अपने रहने के लिये संकल्प कर रखा है, उसमें रहकर भी किसी प्रयोजन से (मर्यादा के बाहर से) "तुम यह ले आओ" ऐसी आज्ञा देना आनयन है । जितना देश नियत कर रखा है उसके बाहर स्वयं न जाकर भी किसी दूसरे को भेजकर ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना प्रेष्य प्रयोग है । मर्यादा के बाहर व्यापार करने वाले

स्वयमगत्वाऽन्यप्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधनं प्रेष्यप्रयोगः। व्यापारकरान्पुरुषानुद्दिश्याभ्युत्कासिकाकिरणं शब्दानुपातः। मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयंतीति स्वांगदर्शनं रूपानुपातः। कर्मकरानुद्दिश्य लोष्टपाषाणादिपातः पुद्गलक्षेप इति। दिग्विरतिः सार्वकालिकी। देशविरतिर्यथाशक्तिकालनियमेति।

प्रयोजनं विना पापादानहेतुरनर्थदण्डः। स च पंचविधः। अपध्यानं, पापोपदेशः, प्रमादाचरितं, हिंसाप्रदानं, अशुभश्रुतिरिति। तत्र जयपराजयवधबंधांगछेदसर्वस्वहरणादिकं कथं स्यादिति मनसा चिंतनमपध्यानम्। पापोपदेशश्चतुर्विधः। क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेशः, आरम्भकोपदेशश्चेति। तत्रास्मिन्प्रदेशे दासीदासाश्च सुलभास्तानमून्देशान्नीत्वा विक्रये कृते महनर्थलोभो भविष्यतीति क्लेशवणिज्या। गोमहिष्यादीन्पशूनत्र गृहीत्वाऽन्यत्र देशे व्यवहारे कृते सति भूरि-

---

आदि पुरुषों की ओर लक्ष्य रखकर ही अर्थात् उन्हें खास जतलाने के लिये ही खांसना, मठारना आदि शब्दानुपात है। मर्यादा के बाहर काम करने वाले लोग मेरे रूप को, मुझे देखकर काम को बहुत जल्दी कर डालेंगे, यही समझकर अपना शरीर दिखाना रूपानुपात है। अपने नौकर या काम करने वालों को समझाने के लिये ढेला, पत्थर आदि फेंकना पुद्गलक्षेप है। दिग्विरति व्रत जन्म भर के लिये होता है और देशविरति अपनी शक्ति के अनुसार काल की मर्यादा को लेकर होता है।

बिना ही प्रयोजन के जितने पाप लगते हों उन्हें अनर्थदंड कहते हैं। अनर्थदंड पांच हैं—अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसाप्रदान और अशुभश्रुति। हारना, जीतना, मारना, बांधना, अंगों को काटना, सब धन का हरण हो जाना आदि कैसे हो इस प्रकार मन से चिंतवन करना अपध्यान है। पापोपदेश चार प्रकार का है—क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या, वधकोपदेश और आरम्भकोपदेश। अमुक देश में दासी-दास बहुत मिलते हैं, उन्हें वहां से ले जाकर बेचने में बहुत से धन का लाभ होगा, इसको क्लेशवणिज्या कहते हैं। गाय, भैंस आदि पशुओं को यहां से ले जाकर दूसरे देश में बेचने से बहुत सा नफा मिलेगा, इसको तिर्यग्वणिज्या कहते हैं। हिरण आदि पशु मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश में

वित्तलाभ इति तिर्यग्वणिज्या । वागुरिकशौकरिकशाकुनिकादिभ्यो मृगवराहशकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन्प्रदेशे संतीति वचनं वधकोपदेशः । आरंभकेभ्यः कृषिवलादिभ्यः क्षित्युदकज्वलनपवनवनस्पत्यारंभोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारंभकोपदेशः । इत्येवं प्रकारं पापसंयुक्तं वचनं पापोपदेशः । प्रयोजनमंतरेण भूमिकुट्टनसलिलसेचनाग्निविध्यापनवातप्रतिघातवनस्पतिच्छेदनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितं विषशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानं । रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवणश्रावणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिरिति । एतस्मादनर्थदंडाद्विरतिः कार्या ।

अनर्थदंडविरमणव्रतस्य पंचातीचारा भवंति । कंदर्पः, कौत्कुच्यं, मौखर्यं, असमीक्ष्याधिकरणं, उपभोगपरिभोगानर्थक्यमिति । चारित्रमोहोदयापादितात्प्रागोद्रेकाद्धो हाससंयुक्तोऽशिष्टवाक्प्रयोगः स कंदर्पः । रागस्य समावेशाद्धास्यवचनमविशिष्टवचनमित्येतदुभयं परस्मिन् दुष्टेन कायकर्मणा युक्तं

हिरण बहुत हैं । सूअर मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश में सूअर बहुत हैं और पक्षी मारने वालों को यह कहना कि अमुक देश में पक्षी बहुत हैं, वधकोपदेश है । कृषि आदि आरम्भ करने वालों को यह उपदेश देना कि पृथ्वी का आरम्भ (जोतना, खोदना आदि) इस प्रकार से करना चाहिये तथा जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि का आरम्भ इस उपाय से करना चाहिये, ऐसे उपदेश या व्याख्यान को आरम्भकोपदेश कहते हैं । इस प्रकार पापरूप वचन कहना पापोपदेश है । बिना ही प्रयोजन के पृथ्वी को खोदना, पानी सींचना, अग्नि जलाना, वायु रोकना, वनस्पतियों को काटना आदि पापकर्मों को प्रमादाचरित कहते हैं । विष, शस्त्र, अग्नि, रस्सी, चाबुक, लाठी आदि हिंसा करने वाली चीजों को देना हिंसादान है । राग-द्वेष आदि के उद्रेक से दुष्ट कथाओं को सुनना, शिक्षा देना या फैलाना आदि अशुभश्रुति है । इन पांचों अनर्थ दंडों का त्याग अवश्य करना चाहिये, इसको अनर्थदंड विरति कहते हैं ।

इस अनर्थदण्ड व्रत के भी कंदर्प कौत्कुच्य मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पांच अतिचार हैं । चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से जो राग का उद्रेक होता है उससे हंसी मिले हुये अशिष्ट वचनों के कहने को कंदर्प कहते हैं । राग की

कौत्कुच्यं । अशालीनतया यत्किंचनार्थकं बहु प्रलपनं तन्मौखर्यं । असमीक्ष्याधिकरणं त्रिविधं मनोवाक्कायविषयभेदात् तत्र मानसं परानर्थककाव्यादि चिंतनं । वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाव्याख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किंचन वक्तृत्वं च । कायिकं प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्ताचित्तपत्रपुष्पफलच्छेदनभेदनकुट्टनक्षेपणादीनि कुर्यात्, अग्निविषक्षारादिप्रदानं चारभेत । इत्येवमादि तदेतत्सर्वं समीक्ष्याधिकरणं यस्य यावतार्थेनोपभोगपरिभोगौ परिकल्पितौ तस्य तावानेवार्थ इत्युच्यते, ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यं तदुपभोगपरिभोगानर्थक्यं ।

सम्यगेकत्वेनायन गमनं समयः, स्वविषयेभ्यो विनिवृत्य कायवाङ्मनःकर्मणामात्मना सह

तीव्रता के कारण दूसरे के लिये शरीर की दुष्ट क्रिया सहित (शरीर के खोटे विकारों सहित) हंसी मिले हुये वचन तथा साधारण वचन इन दोनों का कहना कौत्कुच्य है। सभ्यता के बाहर जो कुछ अनर्थक और बहुत-सा बकवाद करना है वह मौखर्य कहलाता है। असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार का है—मन के द्वारा किया हुआ, वचन के द्वारा किया हुआ और शरीर के द्वारा किया हुआ। दूसरे का अनर्थ करने वाले काव्य आदिकों का चितवन करना मन के द्वारा किया हुआ असमीक्ष्याधिकरण है। बिना ही प्रयोजन के दूसरे को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाली कथाओं का व्याख्यान करना अथवा दूसरों को पीड़ा देने की प्रधानता रखने वाले व्याख्यान देना वचन के द्वारा किया हुआ असमीक्ष्याधिकरण है। बिना ही प्रयोजन के चलते हुये, खड़े होकर अथवा बैठकर सचित्त वा अचित्त पत्ते, फूल आदि को छेदना, भेदना, कूटना, फेंकना तथा अग्नि, विष, क्षार आदि का देना तथा और भी ऐसी ही क्रियाओं को बिना प्रयोजन करना शरीर कृत असमीक्ष्याधिकरण है। जिसका जितने धन से या जितनी चीजों से उपभोग-परिभोग हो सकता है वह तो उसका अर्थ कहलाता है, उससे अधिक संग्रह करना अनर्थक कहलाता है। इस प्रकार प्रयोजन से अधिक सामग्रियों का इकट्ठा करना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है।

अच्छी तरह प्राप्त होना अर्थात् एकान्त रूप से आत्मा में तल्लीन हो जाना समय है। मन, वचन, काय की क्रियाओं का अपने-अपने विषय से हटकर आत्मा के साथ तल्लीन

वर्त्तनाद्द्रव्यार्थेनात्मन एकत्वगमनमित्यर्थः। समय एव सामायिकं, समयः प्रयोजनमस्येति वा सामायिकं। तच्च नियतकाले नियतदेशे च भवति। निर्व्याक्षेपमेकांतं भवनं वनं चैत्यालयादिकं च देशं मर्यादीकृत्य केश बंधं मुष्टिबंधं वस्त्रबंधं पर्यंकमकरमुखाद्यासनं स्थानं च कालमवधिं कृत्वा शीतोष्णादिपरीषहविजयी, उपसर्गसहिष्णुर्मौनी हिंसादिभ्यो विषयकषायेभ्यश्च विनिवृत्य सामायिके वर्त्तमानो महाव्रती भवति। हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यंतरप्रत्याख्यानसंयमघा ! तिकर्मोदयजनितमंदाविरतिपरिणामे सत्यपि महाव्रतमित्युपचर्यते। एवं च कृत्वाऽभव्यस्यापि निर्ग्रंथलिंगधारिण एकादशांगाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्याप्युपरिमग्रैवेयकविमानवासितोत्पन्ना भवति। एवं भव्यो-

---

होने से द्रव्य तथा अर्थ दोनों से आत्मा के साथ एक रूप हो जाना ही समय का अभिप्राय है। समय को ही सामायिक कहते हैं अथवा समय ही जिसका प्रयोजन हो उसको सामायिक कहते हैं। यह सामायिक नियत देश और नियत समय में ही किया जाता है। जिसमें कोई उपद्रव न हो और एकांत हो ऐसे मकान, वन तथा चैत्यालय आदि सामायिक के लिये योग्य देश है। ऐसे किसी देश में केशों का बांधना, मुष्टि का बांधना, वस्त्रों का बांधना, पर्यंक आसन, मकरमुखासन आदि अनेक आसनों में से किसी एक आसन से बैठना इन सब की तथा उस स्थान की मर्यादा नियत कर सामायिक करना चाहिये। समय की मर्यादा बांधकर भी सामायिक करना चाहिये और उतने समय तक शीत, उष्ण आदि की परीषह यदि आ जायें तो उन्हें जीतना चाहिये। उस समय उपसर्गों को भी सहन करना चाहिये, मौन धारण करना चाहिये और विषय कषायों से दूर होकर सामायिक करना चाहिये, इस तरह सामायिक करने वाला गृहस्थ महाव्रती गिना जाता है। यद्यपि उस समय उस सामायिक करने वाले का चित्त हिंसादि समस्त पापों में से किसी भी पाप में आसक्त नहीं रहता तथापि संयम को घात करने वाले अंतरंग कारण प्रत्याख्यानावरण कर्म के उदय होने से मंद-मंद अविरति रूप (त्याग न करने रूप) परिणाम होते हैं तथापि उसे उपचार से महाव्रत कहते हैं। इस प्रकार सामायिक करने वाला यदि अभव्य भी हो और वह निर्ग्रंथ रूप धारण कर ग्यारह अंग का पाठी हो तो वास्तव में असंयम भाव

ऽपि निर्ग्रंथरूपधारी सामायिकवशादहमिंद्रस्थानवासी भवति चेत्किं पुनः सम्यग्दर्शनपूतात्मा सामायिकमापन्न इति।

सामायिकव्रतस्य सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानस्य पंचातीचारा भवति। कायदुःप्रणिधानं, वाग्दुःप्रणिधानं, मनोदुःप्रणिधानं, अनादरः, स्मृत्यनुपस्थापनं चेति। तत्र दुष्टं प्रणिधानं, दुःप्रणिधानं, अन्यथा वा प्रणिधानं दुःप्रणिधानं, क्रोधादिपरिणामवशाद्दुष्टं प्रणिधानं भवति, शरीरावयवानामनिभृतावस्थानं कायदुःप्रणिधानम्। वर्णसंस्कारे भावार्थे चागमकत्वं चापलादि वाग्दुःप्रणिधानम्। मनसोऽनर्पितत्व मनोदुःप्रणिधानं, इति कर्त्तव्यतां प्रत्ययसाकल्याद्यथा कथंचित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः। अनैकाग्र्यमसमाहितमनस्कता स्मृत्यनुपस्थापनं, अथवा रात्रिदिव प्रामादिकस्य संचित्यानुपस्थापनं स्मृत्यनु-

---

धारण करने पर भी बाह्य महाव्रतों के पालन करने से वह उपरिम ग्रैवेयक के विमानों में अहमिंद्र उत्पन्न हो सकता है। इसी तरह भव्य जीव भी बाह्य निर्ग्रंथ लिंग धारण कर केवल सामायिक धारण करने से अहमिंद्रों के स्थान में जाकर उत्पन्न हो जाता है। यदि वही भव्य जीव सम्यग्दर्शन से अपने आत्मा को पवित्र कर ले और फिर सामायिक धारण करे तो फिर उसकी क्या बात है! भावार्थ, वह तो मुक्त होता ही है।

समस्त पापरूप योगों का त्याग करना ही सामायिक है। ऐसे इस सामायिक के कायदुःप्रणिधान, वाग्दुःप्रणिधान, मनोदुःप्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन ये पांच अतिचार हैं। दुष्ट प्रणिधान अथवा दुष्ट प्रवृत्ति को दुःप्रणिधान कहते हैं अथवा अन्यथा रूप प्रवृत्ति करना भी दुःप्रणिधान है। क्रोधादि कषायरूप परिणामों के निमित्त से दुष्ट प्रवृत्ति या दुःप्रणिधान होता है। हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवों को निश्चल न रखना कायदुःप्रणिधान है, अक्षरों के उच्चारण में अथवा भाव या अर्थ में प्रमाणता न होना, उच्चारण में या अर्थ में चपलता का होना वाग्दुःप्रणिधान है। सामायिक में मन न लगाना मनोदुःप्रणिधान है। सामायिक में करने योग्य कर्तव्य कर्मों को पूर्ण न करना, उनको जिस-तिस तरह करना अथवा सामायिक व सामायिक की क्रिया के करने का उत्साह न रखना अनादर है। चित्त को एकाग्र न रखना अथवा चित्त में समाधानता न रखना स्मृत्यनुप-

पस्थापनं। मनोदुःप्रणिधानस्मृत्यनुपस्थापनयोरयं भेदः क्रोधाद्यावेशात्सामायिकौदासीन्येन वा चिरकालमवस्थापनं मनसो मनोदुःप्रणिधानं, चिंतायाः परिस्पंदनादैकाग्र्येणानवस्थापनं स्मृत्यनुपस्थापनमिति विस्पष्टमन्यत्वं।

प्रोषधः पर्वपर्यायवाची, शब्दादिग्रहणं प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पंचापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन्वसंतीत्युपवासः। उक्तं च—

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः। वसंति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते॥

पर्वणि चतुर्विधाऽऽहारनिवृत्तिः प्रोषधोपवासः, निरारंभः श्रावकः स्वशरीरसंस्कारकारण-

---

स्थापन है। अथवा अत्यन्त प्रमादी होने के कारण रात-दिन चितवन करते हुए भी स्मरण न रहना स्मृत्यनुपस्थापन है। मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुस्थापन इन दोनों में यह भेद है कि क्रोधादि कषायों के आवेश से अथवा सामायिक में उदासीनता रखने के कारण बहुत थोड़ी देर तक सामायिक में चित्त लगाना मनोदुःप्रणिधान है और चितवन के परिस्पन्दन होने से अर्थात् बदल जाने से चित्त को एकाग्र न रखना—स्थिर न रखना स्मृत्यनुपस्थान है। इस प्रकार दोनों अतिचारों की भिन्नता स्पष्ट है।

प्रोषध शब्द का अर्थ पर्व है। कान आदि पांचों इन्द्रियों की अपने शब्द आदि विषयों के ग्रहण करने की उत्सुकता छोड़कर आत्मा में आकर निवास करने को उपवास कहते हैं। लिखा भी है—

'उपेत्याक्षाणीत्यादि' अर्थात् समस्त इन्द्रियां अपने-अपने कार्यों से निवृत्त होकर आत्मा में आकर निवास करें उसे विद्वान लोग उपवास कहते हैं।

पर्व के दिन चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास है। उस दिन श्रावक को सब तरह के आरम्भ छोड़ देने चाहिये। अपने शरीर का संस्कार करने वाले, शोभा बढ़ाने वाले—स्नान, गंध, माला और आभरण आदिकों का त्याग कर देना चाहिये

स्नानगंधमाल्याभरणादिभिर्विरहितः शुचावयवकाशे साधुनिवासे चैत्यालये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्म-कथाश्रवणश्रावणचिन्तनावहितांतःकरणः सन्नुपवसेत् ।

प्रोषधोपवासस्य पंचातीचारा भवंति अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानं, अप्रत्येक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमनं, अनादरः, स्मृत्यनुपस्थापनं चेति । तत्र जंतवः संति न संति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषोर्व्यापारो मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजन तत्प्रमार्जनं, अप्रत्यवेक्षितायां भुवि मूत्रपुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यादिपूजोपकरणस्य गंध-माल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य वस्त्रपात्रादेश्चादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान । अप्रत्येक्षिता-प्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरणस्योपक्रमणप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणं । क्षुत्पीडितत्वादावश्य-केष्वनुत्साहोऽनादरः । स्मृत्यनुपस्थापनं व्याख्यातमेव ।

तथा किसी पवित्र जगह में, साधुओं के निवास-स्थान में, चैत्यालय में अथवा अपने खास प्रोषधोपवास के घर में रहकर अपने अंतःकरण में धर्म-कथाओं को सुनते और चिन्तवन करते रहना चाहिये ।

इस प्रोषधोपवास के अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्येक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थापन ये पांच अतिचार हैं । यहां पर जीव हैं या नहीं हैं, इस प्रकार आंख से देखने को प्रत्यवेक्षण कहते हैं । किसी भी कोमल उपकरण से जीवों के बचाने को प्रमार्जन कहते हैं । जो पृथ्वी न तो आंख से देखी है और न किसी उपकरण से शुद्ध की है उसमें मूत्र पुरीष करना (पेशाब करना अथवा शौच व टट्टी जाना) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहलाता है । अरहन्त व आचार्य आदि परमेष्ठियों की पूजा के जो बर्तन आदि उपकरण हैं अथवा गन्ध, माला, धूप आदि पूजा की सामग्री है अथवा अपने पहिनने के कपड़े या बर्तन आदि हैं उन सबको बिना देखे, बिना प्रमार्जन किये (शोधे) ग्रहण करना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है । इसी तरह बिना देखे, बिना प्रमार्जन किये ओढ़ने के वस्त्रों को रखना, बिछौना बिछाना (प्रोषधोपवास के दिन चटाई आदि बिछाना) अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण कहलाता है । भूख की अधिक

उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यत इत्युपभोगः, अशनपानगंधमाल्यादि सकृद् भुक्त्वा पुनरपि भुज्यत इति परिभोगः, आच्छादनप्रावरणालंकारशयनासनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोग-परिमाण। भोगपरिसंख्यानं पंचविध, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं सदा परिहर्तव्य त्रसघातं प्रति निवृत्तचेतसा मद्यमुपसेव्यमानं कार्याकार्यविवेकसंमोहकरमिति तद्वर्जनं। प्रमादविरहाय केतक्यर्जुनपुष्पादीनि बहुजंतुयोनिस्थानानि, आर्द्रशृंगबेरमूलकहरिद्रानिंबकुसुमादीन्य-नंतकायव्यपदेशार्हाणि एतेषामुपसेवनेन बहुघातोऽल्पफलमिति तत्परिहारः। श्रेयान्। यानवाहना-भरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्त्तनं कर्त्तव्यं। न हि व्रतमभिसंधिनियमाभावे

बाधा होने से (अथवा और किसी कारण से) देवपूजा आदि आवश्यक कर्मों में उत्साह न रखना अनादर है। स्मृत्यनुपस्थापन की व्याख्या पहिले कर ही चुके हैं।

जो अपने पास लाकर भोगा जाये उसको उपभोग कहते हैं। भोजन, पीने की चीजें, गन्ध, माला आदि सब उपभोग हैं। एक बार भोग करके भी फिर दुबारा-तिबारा जिसको उपभोग किया जाये उसको परिभोग कहते हैं। ओढ़ने, बिछाने, पहनने के कपड़े, आभूषण, शय्या, आसन, घर, रथ, पालकी आदि सवारी और घोड़े, हाथी आदि सवारी के जानवर ये सब परिभोग हैं। इन उपभोग-परिभोग दोनों का परिमाण करना उपभोग-परिभोग परिमाण कहलाता है। भोगों का त्याग त्रसघात (जिसमें त्रस जीवों को घात हो), प्रमाद (जिसमें प्रमाद या बेहोशी हो), बहुवध (जिसमें बहुत से स्थावर जीवों का घात हो), अनिष्ट (जो इष्ट न हो), अनुपसेव्य (जो सेवन करने योग्य न हो)—इनके विषय भेद से पांच तरह किया जाता है। जिसके हृदय में त्रस जीवों की हिंसा का त्याग है उसे मधु (शहद) और मांस सदा के लिये छोड़ देना चाहिये। मद्य के (शराब के) सेवन करने वाला मोहित या बेहोश हो जाता है। उसे कार्य-अकार्य का कुछ ज्ञान नहीं रहता। इसलिये प्रमाद दूर करने के लिये मद्य का त्याग करना आवश्यक है। केतकी के फूल, अर्जुन वृक्ष के फूल तथा और भी ऐसे फूलों में अनेक छोटे-छोटे जीव पैदा होते रहते हैं। वे फूल छोटे-छोटे जीवों के पैदा होने के स्थान हैं। गीला अदरक, गीली मूली, गीली हल्दी, गीले नीम के फूल आदि

सतीष्टानामपि चित्रवस्त्रवेषाभरणादीनामनुपसेव्यानां परित्यागः कार्यो यावज्जीवं । अथ न शक्तिः कालपरिच्छेदन वस्तुपरिमाणेन च शक्त्यनुरूप निवर्तनं कार्यं ।

उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतस्यातीचाराः पंच भवंति । सचित्ताहारः, सचित्तसंबंधाहारः, सचित्तसन्मिश्राहारः, अभिषवाहारः, दुःपक्वाहारश्चेति । तत्र चेतनावद्‌द्रव्यं सचित्तं हरितकायः तदभ्य-

---

चीजों में अनंतकाय जीव रहते हैं। इन सब चीजों के सेवन करने से फल तो बहुत थोड़ा होता है और घात बहुत से जीवों का होता है। इसलिये इनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। रथ, पालकी आदि सवारी की चीजें; हाथी, घोड़े आदि सवारी के जानवर तथा आभूषण आदि चीजों में से मुझे इतना-इतना रखना ही अभीष्ट है, इतने के सिवाय सब अनिष्ट है यही समझकर अनिष्ट का त्याग अवश्य कर देना चाहिये। जब तक प्रतिज्ञापूर्वक नियम न किया जाये तब तक व्रत कभी नहीं कहला सकता, इसलिये जो पदार्थ इष्ट हैं अर्थात् अपने नियत किये हुये परिमाण में आ गये हैं उनमें भी अनेक रंग के वस्त्र, चित्र-विचित्र पोशाक और चित्र-विचित्र आभरण आदि जो सेवन करने के अयोग्य हैं उनका त्याग भी जीवन पर्यंत तक के लिये कर देना चाहिये। यदि जन्म भर के त्याग करने के लिये शक्ति न हो अथवा अधिक पदार्थों के त्याग करने की शक्ति न हो तो काल का परिमाण नियत कर तथा उन पदार्थों का परिमाण नियत कर अपनी शक्ति के अनुसार त्याग कर देना चाहिये।

इस उपभोग-परिभोग परिमाण के सचित्ताहार, सचित्तसंबन्धाहार, सचित्तसन्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पांच अतिचार हैं। जिसमें चेतना हो ऐसे हरितकाय वनस्पति आदि द्रव्यों को सचित्त कहते हैं, ऐसे द्रव्यों का भोजन करना सचित्ताहार कहलाता है। जिस भोजन का सचित्त वाले द्रव्य के साथ सम्बन्ध व संसर्ग हो गया हो उसे सचित्त सम्बन्धाहार कहते हैं। जिस भोजन में सचित्त द्रव्य मिल गया हो उसे सचित्तसन्मिश्राहार कहते हैं। जो घी क्षीर आसव आदि पतले व पौष्टिक पदार्थ

वहरणं सचित्ताहारः। सचित्तवतोपश्लिष्टः सचित्तसंबद्धाहारः। सचित्तेन व्यतिकीर्णः सचित्तसन्मिश्राहारः। सौवीरादिद्रवो वा वृष्यं वाऽभिषवाहारः। असंस्विन्नस्तंडुलभावेनातिक्लेदनेन वा दुष्टः पक्वो दुःपक्वाहारः। संबंधमिश्रयोरयं भेदः संसर्गमात्रं संबंधः, सूक्ष्मजंतुव्याकीर्णत्वाद्विभागीकर्तुमशक्यः सन्मिश्रः। एतेषामभ्यवहरणे सचित्तोपयोग इन्द्रियमदवृद्धिर्वातादिप्रकोपो वा स्यात् तत्प्रतीकारविषये पापलेपो भवति। अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति।

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिरथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिरनियतकालगमनमित्यर्थः अतिथये संविभागोऽतिथिसंविभागः, स चतुर्विधः भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्।

हैं उन्हें अभिषवाहार कहते हैं। जो पककर भी चावल ही जैसे बने रहते हैं अथवा अधिक पककर गल जाने से जिनका पाक दुष्ट पाक कहलाता हो अर्थात् जिस भोजन का पाक ठीक न हुआ हो (अधिक पक गया हो व थोड़ा पका हो) उसे दुःपक्वाहार कहते हैं। सचित्त सम्बन्ध और सचित्त सन्मिश्र इन दोनों में यह भेद है कि जिसके साथ केवल सचित्त का सम्बन्ध हुआ हो वह तो सचित्त सम्बन्ध है, जिसमें सूक्ष्म जन्तु इस प्रकार मिल गये हों कि जिन्हें कभी अलग नहीं कर सकते ऐसे भोजन को सचित्त सन्मिश्र कहते हैं। इन ऊपर लिखे हुए सब तरह के भोजन करने से अपना उपयोग सचित्त रूप होता है, इन्द्रियों का मद बढ़ता है और वायु आदि दोषों का प्रकोप होता है तथा उनके प्रतिकार करने में भी (उन रोगों का इलाज करने में भी) पाप का लेप होता है अर्थात् पाप बढ़ता है और अतिथि या साधु लोग भी इन सब चीजों को छोड़ देते हैं। (इसलिये ये सब उपभोग-परिभोग परिमाण के अतिचार हैं)।

जो संयम को नाश करते हुये विहार करें उन्हें अतिथि कहते हैं अथवा जिनकी कोई तिथि नियत न हो अर्थात् अनियमित समय में गमन करते हों उन्हें अतिथि कहते हैं (मुनियों की भिक्षा में उत्सव, पर्व आदि कोई भी बाधक नहीं होते, इसीलिये उनकी भिक्षा के लिये कोई तिथि नियत नहीं रहती। वे भिक्षा के लिये कब आवेंगे ऐसा किसी को भी मालूम नहीं रहता) ऐसे अतिथि के लिये दान देना अतिथिसंविभाग व्रत कहलाता है। यह

उक्त हि—

प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम् । प्रमाणो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव ।।१।।

उक्तं हि—

श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्व भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा । इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ।।१।।

एवंविधनवविधपुण्यैः प्रतिपत्तिकुशलेन सप्तगुणैः समन्वितेन मोक्षमार्गमभ्युद्युतायातिथये सयमपरायणाय शुद्धचेतसाऽऽश्चर्यपंचकादिकमनिच्छता निर वद्या भिक्षा देया । धर्मोपकरणानि च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रोपवृंहणानि दातव्यानि । औषधं ग्लानाय वातपित्तश्लेष्मप्रकोपहताय योग्य-मुपयोजनीय प्रतिश्रयश्च परमधर्मश्रद्धया प्रतिपादयितव्य इति ।

दान भिक्षा उपकरण, औषध और प्रतिश्रय (आश्रय या वसतिका) के भेद से चार प्रकार का है ।

अन्य शास्त्रों में लिखा है—प्रतिग्रहोच्चस्थानेत्यादि ।

अर्थात् प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, पूजन, प्रणाम, मन को शुद्ध रखना, वचन को शुद्ध रखना, काय को शुद्ध रखना और शुद्ध भिक्षा देना—ये नौ प्रकार की भक्ति या विधि कहलाती है । इसी तरह—श्रद्धाशक्तिरलुब्धत्वमित्यादि—

अर्थात्—श्रद्धा, शक्ति, लोभ न करना, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा—ये श्रद्धा आदि सात दान देने वाले गृहस्थों के गुण हैं ।

इस प्रकार नौ तरह की भक्ति या नौ तरह के पुण्य अथवा विधि के पालन करने में जो अत्यंत कुशल है और श्रद्धा आदि सातों गुण जिसमें मौजूद हैं, ऐसे गृहस्थ को जो मोक्ष-मार्ग के धारण करने में सदा तत्पर हैं और संयम का पालन करने में सदा तल्लीन हैं ऐसे अतिथि साधु के लिये शुद्ध चित्त से पंचाश्चर्य आदि किसी की भी इच्छा न रखकर निर्दोष भिक्षा देना चाहिये । इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की वृद्धि करने

अतिथिसंविभागव्रतस्य पंचातीचारा भवंति । सचित्तनिक्षेपः, सचित्तपिधानं, परव्यपदेशः, मात्सर्यं, कालातिक्रमश्चेति । तत्र सचित्ते पद्मपत्रादौ निधानं सचित्तनिक्षेपः । सचित्तेनावरणं सचित्त-पिधानं । अयमत्र दाता दीयमानोऽप्ययमस्येति समर्पणं परव्यपदेशः । प्रयच्छतोऽपि सत आदरमंतरेण दानं मात्सर्यं । अनगाराणामयोग्ये काले भोजनं कालातिक्रम इति । पात्रदाने स्वस्य परस्य चोपकारः, स्वोपकारः, पुण्यसंचयः, परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः । तच्च दानं पारंपर्येण मोक्षकारणं साक्षात्पु ण्यहेतु । विधिविशेषाद्द्रव्यविशेषाद्दातृविशेषात्पात्रविशेषाद्दानविशेषः । तत्र प्रतिग्रहोच्चदेशस्थापन-मित्येवमादीनां क्रियाणामादरेण करणं विधिविशेषः । दीयमानेऽन्नादौ प्रतिग्रहीतुस्तपः स्वाध्याय-

---

वाले धर्मोपकरण (पीछी, शास्त्र, कमंडलु आदि) देने चाहिये । जो साधु वात, पित्त, कफ आदि के प्रकोप से पीड़ित है, ऐसे रोगी मुनि को औषधि देनी चाहिये तथा परम धर्म की श्रद्धापूर्वक वसतिका बनवा देनी चाहिये ।

इसी अतिथि संविभाग व्रत के सचित्तनिक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम—ये पांच अतिचार हैं । आहार देने योग्य भोजन को कमल के पत्ते आदि सचित्त पदार्थ पर रखना सचित्तनिक्षेप है । कमल के पत्ते आदि सचित्त पदार्थ से भोजनों को ढंकना सचित्तपिधान है । 'इस पदार्थ का देने वाला दाता यह है तथा यह जो भोजन दिया जा रहा है वह इसका है' इस प्रकार कहकर आहार देना परव्यपदेश है । आहार देते हुए भी बिना आदर के देना मात्सर्य है । जो समय मुनियों की भिक्षा का नहीं है उसमें भोजन करना कालातिक्रम है । पात्र दान देने में अपना उपकार भी होता है और दूसरे का भी उपकार होता है । पुण्य की वृद्धि होना अपना उपकार है और सम्यग्ज्ञान की वृद्धि होना परोपकार है । वह पात्रदान परम्परा से मोक्ष का कारण और साक्षात् पुण्य बढ़ाने का हेतु है ।

विधि की विशेषता होने से, द्रव्य की विशेषता होने से, दाता की विशेषता होने से और पात्र की विशेषता होने से दान में भी विशेषता हो जाती है । प्रतिग्रह, उच्च स्थान आदि नवधा भक्ति की क्रियायें हैं, उन्हें आदरपूर्वक करना विधि की विशेषता

परिवृद्धिकरणत्वाद्द्रव्यविशेषः । प्रतिगृहीतृजनेऽभ्यस्ततया त्यागोऽविषादो दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः, कुशलाभिसंधितावसुधारासुरप्रशंसादिदृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्वमनिदानत्वं श्रद्धादिगुणसमन्वितत्वमित्येवमादि दातृविशेषः । मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः । ततश्च फलविशेषः ।

सत्पात्रोपगतं दानं सुक्षेत्रगतबीजवत् । फलाय यदपि स्वल्पं तदनल्पाय कल्प्यते ॥१॥

तथा च—दानफलविशेषेणोत्तमभोगभूमौ दशविधकल्पवृक्षजनितसुखफलं श्रीषेणोऽन्वभूत् ।

कहलाती है । भिक्षा में जो अन्न दिया जाये वह यदि आहार लेने वाले साधु के तपश्चरण, स्वाध्याय आदि को बढ़ाने वाला हो तो वही द्रव्य की विशेषता कहलाती है । आहार देने वाले का अभ्यासपूर्वक दान देना, दान देने में किसी तरह का विषाद न करना, जो दान देने की इच्छा रखता है, जो दान देता है और जिसने दान दिया है उसके प्रति सदा प्रेम प्रकट करना, अपने दान देने की कुशलता संसार में प्रसिद्ध हो, मेरे घर रत्नों की वर्षा हो, देव लोग भी मेरी प्रशंसा करें इत्यादि प्रत्यक्ष फलों की इच्छा न रखना, दान देते हुए किसी को नहीं रोकना, निदान नहीं करना और श्रद्धादि सातों गुणों को धारण करना तथा और भी ऐसे ही गुणों को धारण करना दाता की विशेषता कहलाती है । मोक्ष के कारण जो गुण हैं उनको धारण करना पात्र की विशेषता है । इस प्रकार विधि द्रव्य-दाता और पात्र की विशेषता होने से दान में विशेषता होती है और दान में विशेषता होने से उसके फल में विशेषता होती है । सत्पात्रोपगतं दानमित्यादि ।

अर्थात्—जिस प्रकार अच्छे क्षेत्र में छोटा सा भी बीज बोया जाता है तो भी उस पर अनेक बड़े-बड़े फल लगते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ पात्र को यदि थोड़ा-सा भी दान दिया जाये तो भी उसका बड़ा भारी फल प्राप्त हुआ करता है ।

दान के फल की विशेषता से ही श्रीषेण ने उत्तम भोग भूमि में जन्म लेकर दस प्रकार के कल्प वृक्षों से उत्पन्न हुए अपूर्व सुख का अनुभव किया था ।

तथा च —दानानुमोदेन रतिवररतिवेगाख्यं कपोतमिथुनं विजयार्द्धप्रतिबद्धगांधारविषयसुसीमानगराधिपतेरादित्यगते रतिवरचरो हिरण्यवर्मनामा नंदनोऽभूत् । तस्मिन्नेव गिरौ गिरिविषये भोगपुरपतेर्वायुरथस्य रतिवेगचरी प्रभावत्याख्या तनयाऽभूत् । एवं हिरण्यवर्मा प्रभावती च जातिकुलसाधितविद्याप्रभावेण सुखमन्वभूतां । उक्तहिंसादिपंचदोषविरहितेन द्यूतमद्यमांसानि परिहर्तव्यानि । तथा चोक्तं महापुराणे —

हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् । द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट संत्यमी मूलगुणाः ॥

कितवस्य सदा रागद्वेषमोहवंचनानृतानि प्रजायन्तेऽर्थक्षयोपि भवति जनेष्वविश्वसनीयश्च, सप्तव्यसनेषु प्रधानं द्यूत तस्मात्तत्परिहर्तव्य ।

तथा च—भरतेऽस्मिन्कुलालविषये श्रावस्तिपुराधिपतिः सुकेतुमहाराजो महाभोगी द्यूतव्यस-

---

इसी प्रकार दान की अनुमोदना करने से रतिवर कबूतर और रतिवेगा कबूतरी ने भी सुखों का अनुभव किया था । रतिवर कबूतर तो दान की अनुमोदना से विजयार्द्ध पर्वत पर बसने वाले गांधार देश की सुसीमा नगरी के राजा आदित्यगति के हिरण्यवर्मा नाम का पुत्र हुआ और रतिवेगा कबूतरी उसी विजयार्द्ध पर्वत पर गिरि नाम के देश के भोगपुर नाम के नगर के राजा वायुरथ की प्रभावती नाम की पुत्री हुई थी । इन दोनों का परस्पर विवाह हुआ था और दोनों को जाति, कुल आदि के द्वारा सिद्ध हुई अनेक विद्यायें प्राप्त थीं, इसलिये उन विद्याओं के प्रभाव से उन दोनों ने अनेक तरह के सुखों का अनुभव किया था ।

ऊपर जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप बतलाये हैं उनका त्याग (एक देश त्याग) करने वाले श्रावक को जुआ खेलना, मद्य सेवन करना और मांस भक्षण करने का भी त्याग कर देना चाहिये, यही महापुराण में भी लिखा है । हिंसासत्यस्तेयादित्यादि ।

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह से विरक्त होना तथा जुआ, मांस और मद्य का त्याग करना—ये आठ गृहस्थों के मूल गुण

नाभिहृत: स्वकीय कोश राष्ट्रमत:पुर च द्यूते हारयित्वा महादु:खाभिभूतोऽभूत् । तथा च युधिष्ठिरोऽपि द्यूतेन राज्याद्भ्रष्ट: कष्टां दशामवाप ।

मांसान्निवृत्तिरहिंसाव्रतपरिपालनार्थं, मांसाशिनं साधवो विनिंदंति प्रेत्य च दु:खभाग्भवति । तथा चान्यैरुक्त—

मांस भक्षयति प्रेत्य यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदंति मनीषिण: ।।
मांसं प्राणिशरीरं प्राप्यमस्य च विदारणेन विना । तन्नाप्यते ततस्तत्यक्त जैनै: सदा सर्वं ।।

कहलाते हैं । जुआ खेलने से सदा राग, द्वेष, मोह, ठगी, झूठ आदि पैदा होते रहते हैं, धन का नाश भी होता है और जुआ खेलने वाला लोगों में अविश्वासपात्र गिना जाता है । इसके सिवाय यह जुआ खेलना सातों व्यसनों में सबसे प्रधान है, सबसे मुख्य है इसलिये जुआ खेलने का त्याग अवश्य कर देना चाहिये । देखो ! इसी भरत क्षेत्र के कुलाल नाम के देश में श्रावस्तिपुर नगर का राजा महाराज सुकेतु बड़ा ही ऐश्वर्यशाली और सुखी राजा था, परन्तु जुआ खेलने के व्यसन में पड़कर वह अपना सब खजाना हार गया और सब अन्त:पुर हार गया तथा उसे अनेक तरह के महादु:ख भोगने पड़े । इसी तरह राजा युधिष्ठिर को भी जुआ खेलने से राज्य से भ्रष्ट होना पड़ा तथा बड़ी ही दु:खमयी अवस्था भोगनी पड़ी ।

अहिंसा व्रत की रक्षा करने के लिये मांस का त्याग करना भी आवश्यक है । मांस भक्षण करने वाले की साधु लोग भी निन्दा करते हैं और परलोक में भी उसे बहुत से दु:ख भोगने पड़ते हैं । इसी बात को अन्य लोगों ने भी कहा है—मांसं भक्षयति प्रेत्येत्यादि ।

अर्थात्—बुद्धिमान लोग मांस शब्द का अर्थ यही बतलाते हैं कि इस जन्म में मैं जिसका मांस खाता हूं वह भी परलोक में मुझे अवश्य खायेगा (मांस अर्थात् वह मुझे खायेगा यही मांस शब्द का अर्थ है) मांस प्राणियों का शरीर है, प्राणियों के शरीर को विदारण किये बिना वह मिल नहीं सकता, इसलिये सभी जैनी लोग उस मांस का परित्याग सदा के लिये कर देते हैं ।

तथा हि—कुंभनाम्नो नरपतेर्भीमो नाम महानसिकस्तिर्यग्मांसमलभमानो मृतशिशुमांसं सर्वसंभारेण सम्मिश्रं कृत्वा कुंभस्य दत्तवात् । ततःप्रभृति सोऽपि नरमांसलोलुपः संजातः । तज्ज्ञात्वा प्रकृतयो राज्यस्यायमयोग्य इति त परिहृतवत्यः । तथा च विंध्यमलयकुटजवने किरातमुख्यः खदिरसारः समाधिगुप्तमुनिं दृष्ट्वा प्रणतस्तस्मै धर्मलाभ इत्युक्ते कोऽसौ धर्मः, कोऽसौ लाभइत्युक्तवति परिप्रश्ने मांसादिनिवृत्तिर्धर्मस्तत्प्राप्तिर्लाभस्ततः स्वर्गादिसुखं जायत इत्युक्तवति मुनौ तत्सर्वं परिहर्त्तुमहमशक्त इति वचने तदाकूतमवधार्य त्वया काकमांसं पूर्वं किं भक्षितमुत न वेत्युक्तेऽकृतभक्षणोऽहमिति प्रतिवचने यद्येव तदभक्षणव्रत त्वया गृह्यतामित्युपदेशेन तत्परिगृह्याभिवंद्य गतवतः कालांतरे तस्यामये समुत्पन्ने सति वैद्येन काकमांसभक्षणादस्य व्याधेरुपशमो भविष्यतीत्युक्ते कठगदेष्वपि प्राणेषु

देखो ! राजा कुम्भ के भीम नाम का रसोइया था । किसी एक दिन उसे तिर्यंच का मांस नहीं मिला, इसलिये उसने एक मरे हुए बालक का मांस पकाया और उसमें सब मसाले डालकर राजा कुम्भ को दिया । उसे भी वह बहुत अच्छा लगा और तब से ही वह मनुष्यों के मांस खाने का लोलुपी हो गया । यह बात वहाँ की प्रजा को मालूम हुई और "अब यह राज्य के अयोग्य है" यह समझकर उसे राज्य से अलग कर दिया ।

इसी तरह विंध्याचल के मलयकुटज वन में खदिरसार नाम का भीलों का राजा था । उसने किसी एक दिन समाधिगुप्त नाम के मुनिराज के समीप जाकर उन्हें प्रणाम किया । मुनिराज ने भी उत्तर में 'धर्म लाभ हो' ऐसा कहा । इस पर खदिरसार ने पूछा कि धर्म क्या है और लाभ किसे कहते हैं ? इसके उत्तर में मुनिराज ने कहा कि मांसादिक का त्याग करना धर्म है और उसकी प्राप्ति होना लाभ है, धर्म की प्राप्ति होने से अर्थात् धर्म-पालन करने से स्वर्ग आदि के सुख प्राप्त होते हैं । इस पर खदिरसार ने कहा कि मैं उन सबका (सब तरह के मांस का) त्याग नहीं कर सकता । तब मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझकर पूछा कि क्या तूने पहले कभी कौए का मांस खाया है या नहीं ? इसके उत्तर में खदिरसार ने कहा कि आज तक मैंने कौए का मांस कभी नहीं खाया है । यह सुनकर मुनिराज ने कहा कि अच्छा अब तूने कौए का मांस आज तक नहीं खाया है तो

मया न कर्तव्यं तत्काकमांसोपयोगविरमणव्रतं तपोधनसमीपे, परिगृहीतं, संकल्पभंगे कुतः सत्पुरुषता ? ततः काकमांसाभ्यवहरणं न करिष्यामीति प्रतिज्ञाने समुपलक्षिततदीयाकूतस्तं मांसमुपभोजयितुं सौरपुराधिपतिः शूरवीरनामा तस्या मैथुनः समागच्छन् वनगहनगतवटतरोरधः कांचिदभिरुदतीं समीक्ष्य 'कथय केन हेतुना रोदिष्येका त्वं' इत्यनुयुक्ता साऽवोचदहं यक्षी । तव श्यालकं बलवदामय-परिपीडितं मांसभक्षणविरमणव्रतफलेन मे भविष्यंतमधिपतिं भवानद्य मांसभोजनेन नरकगतिभागिनं कर्तुं प्रारभत इति रोदनमनुभवामीति तयोदितः 'श्रद्धेहि' तदहं न कारयिष्यामीति व्याहृत्य गत्वा

अब उसके न खाने का व्रत स्वीकार कर। इस प्रकार मुनिराज के उपदेश से उसने व्रत स्वीकार किया और मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर चला गया। उसके बाद किसी एक समय उसी खदिरसार को कोई रोग हो गया, उस पर वैद्यों ने उपाय बताया कि कौए का मांस खाने से इसका रोग शांत हो जायेगा। इस पर खदिरसार ने प्रतिज्ञा की कि कंठगत प्राण हो जाने पर भी मैं यह काम नहीं कर सकता। मैंने मुनिराज के समीप कौए के मांस के त्याग करने का व्रत स्वीकार किया है। अपनी प्रतिज्ञा भंग करने से सत्पुरुषपना कैसे रह सकता है ? इसलिए मैं कौए का मांस कभी नहीं खाऊँगा। जब खदिरसार ने ऐसी प्रतिज्ञा की तब उसका अभिप्राय जानकर उसे कौए का मांस खिलाने के लिये सौरपुर नगर का राजा शूरवीर नाम का उसका बहनोई अपने नगर से आने लगा। उसने गहन वन में बड़ के वृक्ष के नीचे एक स्त्री को रोते हुए देखा और उससे पूछा कि "बतला तू अकेली बैठी हुई यहां क्यों रो रही है।" उसके उत्तर में उस स्त्री ने कहा कि "मैं यक्षी हूं। तेरा साला जो बहुत अधिक बीमार है और जिसने कौए के मांस भक्षण करने के त्याग करने का व्रत लिया है वह उस व्रत के फल से मरकर मेरा पति होने वाला है, परन्तु तुम लोग जाकर उसे कौए का मांस खिलाकर उसे नरक में भेजने का काम कर रहे हो, इसीलिए मैं रो रही हूं।" उस स्त्री की यह बात सुनकर उससे शूरवीर ने कहा कि तू विश्वास

तमवलोक्य शरीरामयनिराकरणहेतुस्त्वया मांसोपयोगः क्रियतामिति प्रियश्यालकवचनश्रवणेन 'त्वं प्राणसमो बन्धुः श्रेय एव मे कथयितुमर्हसि, न हितार्थवचनमेतन्नरकपातिप्रापणहेतुत्वादेवं म्रियमाणोऽपि म्रिये न तु प्रतिज्ञाहानिं करोमि' इति निगदितस्तदभिप्रायविज्ञापनात्स तस्मै यक्षीनिरूपितवृत्तांतमकथयत्। सोऽपि तदाकर्णनादहिंसादिश्रावकव्रतमखिलमादाय जीवितांते सौधर्मकल्पे देवोऽभवत् शूरवीरश्च तस्य परलोकक्रियावसान उपगच्छन् यक्षीं निरीक्ष्य 'कथय स किं मे मैथुनस्तव पतिरजायतेति' परिपृष्टा साऽब्रवीत्। स्वीकृतसमस्तव्रतसंग्रहस्यामुष्यव्यंतरयतिपरांमुखस्य सौधर्मकल्पे समुत्पत्तिरासीत्, ततो मदधिपत्वप्रच्युतः प्रकृष्टदिव्यभोगमनुभवतीति हृदयगततद्वचनार्थनिश्चित-

---

रख, मैं यह काम नहीं करूँगा अर्थात् उसे कौए का मांस नहीं खिलाऊँगा। ऐसा कहकर वह अपने साले के पास पहुंचा, उसे देखकर वह कहने लगा कि "शरीर का रोग दूर करने के लिए तुझे मांस का उपयोग करना चाहिये।" अपने प्यारे बहनोई व साले के वचन सुनकर खदिरसार ने कहा कि "हे शूरवीर ! तू मेरे प्राणों के समान प्यारा भाई है, तुझे मेरे कल्याण करने वाले ही वचन कहने चाहिये, परन्तु ये तुम्हारे वचन मेरा कल्याण करने वाले नहीं हैं क्योंकि ये वचन मुझे नरक गति में ले जाने वाले हैं। इस प्रकार यदि मुझे मरना पड़ेगा तो मर जाऊँगा परन्तु अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ूँगा।" इस प्रकार उसका वचन सुनकर और उसका अभिप्राय जानकर शूरवीर ने उससे उस यक्षी का कहा हुआ सब हाल कहा। उसे सुनकर खदिरसार ने भी अहिंसा आदि श्रावक के सम्पूर्ण व्रत धारण कर लिये और आयु के अन्त में मरकर वह सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इधर शूरवीर ने उसकी अन्तिम सब क्रियायें कीं और फिर अपने नगर को चलने लगा। मार्ग में वही यक्षी फिर मिली उसने उससे पूछा कि "कह, मेरा साला तेरा पति हुआ है ?" इसके उत्तर में उस यक्षी ने कहा कि "उसने श्रावक के समस्त व्रत स्वीकार कर लिये थे इसलिए वह व्यन्तर देवों की नीच गति में उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु नीच देव गति से

मतिरहो व्रतप्रभावः समभिलषितफलप्रदानसमर्थ इति समाधिगुप्तिमुनिसमीपे परिगृहीतश्रावकव्रतो बभूव। खदिरसारो द्विसागरोपमकालं दिव्यभोगमनुभूय समनुष्ठितभोगनिदानः स्वजीवितांते ततः प्रच्युतः प्रत्यंतपुरे सुमित्रनामा मित्रराज्ञः पुत्रोऽभूत्। निर्दर्शनतपः कृत्वा व्यंतर आसीत्ततः कुणिकनरपतेः श्रीमतिदेव्याश्च श्रेणिकोऽभूदिति। एवं दृष्टादृष्टफलस्याप्यहितं मांसं।

मद्यपस्य हिताहितविवेकता वाच्यावाच्यता गम्यागम्यता कार्याकार्यं च नास्ति। मद्यमुपसेविनो जनस्य स्मृतिं विनाशयति, विनष्टस्मृतिकः किं न करोति, किं न भाषते, कमुन्मार्गं न गच्छति, सर्वदोषाणामास्पदं तदेव तस्याख्यानं।

विमुख होकर सौधर्म स्वर्ग में उत्तम देव हुआ है। इसलिये वह मेरा पति होने से छूट गया है और उत्तम दिव्य भोगों का अनुभव कर रहा है। यक्षी की यह बात सुनकर वह अपने हृदय में विचार करने लगा कि 'देखो व्रतों का प्रभाव कैसा है? यह व्रतों का प्रभाव इच्छानुसार समस्त फल देने में समर्थ है।' यही निश्चय कर उसने श्री समाधिगुप्त मुनि के समीप श्रावक के समस्त व्रत स्वीकार कर लिये। इधर खदिरसार ने दो सागर तक दिव्य भोगों का अनुभव किया और भोगों का निदान कर आयु पूरी होने पर वहां से च्युत हुआ तथा प्रत्यंतपुर नाम के नगर में सुमित्र नाम का मित्र राजा का पुत्र उत्पन्न हुआ। वहां पर उसने सम्यग्दर्शनरहित होकर तपश्चरण किया और मरकर व्यंतर देव हुआ, फिर वहां से आकर राजा कुणिक की रानी श्रीमती देवी के श्रेणिक नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इससे यह सिद्ध है कि मांस भक्षण करने का प्रत्यक्ष फल भी बुरा है और परोक्ष फल भी बुरा है।

मद्य सेवन करने वालों को (शराब आदि नशे की चीजें खाने-पीने वालों को) तो हित-अहित का कुछ विचार नहीं रहता। क्या कहना चाहिये क्या नहीं, कहां जाना चाहिये कहां नहीं तथा क्या करना चाहिये क्या नहीं? आदि किसी बात का ध्यान नहीं रहता है। जो मनुष्य मद्य सेवन करता है उसकी सब स्मरण

तथा हि—कश्चित् ब्राह्मणो गुणी गंगास्नानार्थं गच्छन्नटवीप्रदेशे प्रहसनशीलेन मदिरामदोन्मत्तेन कांतासहितशबरेण संनिरुध्य मांसभक्षणसुरापानशबरीसंसर्गेषु भवताऽन्यतममंगीकरणीयमन्यथा भवंतं व्यापादयामीत्युक्तः किंकर्तव्यतामूढः, प्राण्यंगत्वान्मांसभक्षणे पापोपलेपो भवति, शबरीसंसर्गे जातिनाशः संजायते, पिष्टोदकगुडधातकयादिसमुत्पन्नं निरवद्यं मद्यमिदं पिबामीति पीत्वा विनष्टस्मृतिरगम्यगमनमभक्ष्यभक्षणं च कृतवान्। तथा हि—मद्यपायिनामपराधाद्द्वीपायनमुनिकोपाद्भस्मीभूतायां द्वारवत्यां विनष्टा यादवा इति।

शक्ति नष्ट हो जाती है और जिसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो जाती है वह कौन-सा पाप-कार्य नहीं कर सकता, कौन-सा वचन नहीं कह सकता और कौन-से कुमार्ग में नहीं जा सकता? अभिप्राय यह है कि मद्य का सेवन करना सब दोषों का स्थान है। इसी बात को दिखलाने वाली एक कथा यहां पर लिखी जाती है—

कोई एक ब्राह्मण बड़ा ही गुणवान था। वह गंगा नहाने के लिये चला, मार्ग में वह एक जंगल में होकर जा रहा था कि इतने में हंसी-मजाक करने वाले और मद्य के मद से उन्मत्त हुए एक भील ने आकर उसे रोक लिया। भील के साथ उसकी स्त्री भी थी। भील ने उस ब्राह्मण को रोककर कहा कि "तुम या तो मांस भक्षण करो, या मद्य सेवन करो (शराब पीओ) अथवा इस स्त्री के साथ संसर्ग करो। यदि इन तीनों में से तुम कोई भी काम न करोगे तो मैं तुम्हें मार डालूंगा।" ब्राह्मण देवता उस भील की यह बात सुनकर बड़े विचार में पड़ गये, सोचने लगे कि 'मांस प्राणियों का अंग है, उसके भक्षण करने से बड़ा भारी पाप लगेगा और इस भीलनी के साथ संसर्ग करने से जाति का नाश हो जायेगा। हां, यह मद्य केवल आटा, पानी, गुड़ और धाय के फूल आदि से बना है, इसलिये यह निर्दोष है, इसके पीने में कोई दोष नहीं है।' यही समझकर उसने वह मद्य पी डाला। जब वह बेहोश हुआ

मत्तो हिनस्ति सर्वं मिथ्या प्रलपति विवेकविकलतया । मातरमपि कामयते तस्मान्मद्यं सदामत्त एव ॥

सामायिकः संध्यात्रयेऽपि भुवनत्रयस्वामिनं वंदमानो वक्ष्यमाणव्युत्सर्गतपसि कथितक्रमेण ।

द्विनिषण्ण यथाजात द्वादशावर्तमित्यपि । चतुर्नति त्रिशुद्ध च कृतिकर्म प्रयोजयेत् ॥

अस्य सामायिकस्यानतरोक्तशीलसप्तकांतर्गतं सामायिकं व्रतं व्रतिकस्य शीलं भवतीति ।

और उसकी स्मरण शक्ति नष्ट हो गई, तब उसने अगम्यगमन (उस भीलनी के साथ संसर्ग) भी किया, अभक्ष्य भक्षण (मांस का भक्षण) भी किया। देखो, मद्य पीने वालों के अपराध से ही द्वीपायन मुनि को क्रोध हुआ था तथा उसी क्रोध से द्वारावती नगरी सब जल गई थी और यादव लोग सब नष्ट हो गये थे। मत्तोहिनस्ति सर्वमित्यादि—

अर्थात्—शराब के नशे में मदोन्मत्त होकर यह जीव सब जीवों की हिंसा करता है, विवेकरहित होकर मिथ्या प्रलाप करता है और माता के साथ भी काम-वासना प्रगट करता है, इसलिये मद्य का सेवन सब पापों से भरा हुआ है।

अब आगे शेष प्रतिमाएँ बतलाते है—सामायिक सवेरे, दोपहर और शाम तीनों समय करना चाहिये और वह तीनों लोकों के स्वामी भगवान जिनेन्द्रदेव को नमस्कार कर आगे जो व्युत्सर्ग नाम का तपश्चरण कहेंगे उसमें कहे हुए क्रम के अनुसार करना चाहिये। द्विनिषणं इत्यादि—

अर्थात् खड़े होकर अथवा बैठकर इन दो ही आसनों से उत्पन्न बच्चे के समान निर्विकार होकर चारों दिशाओं में बारह आवर्त करना चाहिये। चारों दिशाओं में चार नमस्कार करना चाहिये। मन, वचन, काय तीनों को शुद्ध रखना चाहिये और इस तरह अपना कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये।

प्रोषधोपवासः मासे मासे चतुर्ष्वपि पर्वदिनेषु स्वकीयां शक्तिमनिगूह्य प्रोषधनियमं मन्यमानो भवतीति व्रतिकस्य यदुक्तं शीलं प्रोषधोपवासस्तदस्य व्रतमिति सचित्तविरतो दयामूर्तिर्मूलफलशाखाकरीरकंदपुष्पबीजादीनि न भक्षयत्यस्योपभोगपरिभोगपरिमाणशीलव्रतातिचारो व्रतं भवतीति।

रात्रिभक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः। ब्रह्मचारी शुक्रशोणितबीजं रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्र-

---

पहिले जो सात शीलों के अन्तर्गत सामायिक कहा है वही सामायिक इस सामायिक प्रतिमा पालन करने वाले श्रावक के व्रत हो जाता है और दूसरा व्रत प्रतिमा पालन करने वाले के वही सामायिक शील रूप से रहता है।

प्रोषधोपवास प्रत्येक महीने के चारों पर्वों में अपनी शक्ति को न छिपाकर तथा प्रोषध के सब नियमों को मानकर करना चाहिये। व्रती श्रावक के जो प्रोषधोपवास शीलरूप से रहता था, वही प्रोषधोपवास इस चौथी प्रतिमा वाले के व्रत रूप से रहता है।

सचित्त विरत प्रतिमा वाला दया की मूर्ति होता है और वह मूल, फल, शाखा, करीरकन्द, पुष्प और बीज आदि को कभी नहीं खाता है। उपभोग-परिभोग-परिमाण शील के जो अतिचार हैं, उनका त्याग ही इस पांचवीं प्रतिमा वाले के व्रत कहलाता है।

छठी प्रतिमा का रात्रिभक्त व्रत नाम है। रात्रि में ही स्त्रियों के सेवन करने का व्रत लेना अर्थात् दिन में ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा लेना, रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग करना ही रात्रिभक्त व्रत है।

सातवीं प्रतिमा का नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमा का पालन करने वाला ब्रह्मचारी समझता है कि यह शरीर शुक्र शोणित से (पिता के वीर्य

सप्तधातुमयमनेकस्रोतोविलं मूत्रपुरीषभाजनं कृमिकुलाकुलं विविधव्याधिविधुरमपायप्रायं कृमिभस्मविष्टापर्यवसानमंगमित्यनंगाद्विरतो भवति।

आरंभविनिवृत्तोऽसिमसिकृषिवाणिज्यप्रमुखादारंभात्प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति। परिग्रहविनिवृत्तः क्रोधादिकषायाणामार्त्तरौद्रयोर्हिंसादिपंचपापानां भयस्य च जन्मभूमिः, दूरोत्सारितधर्म्यशुक्लः परिग्रह इति मत्वा दशविधबाह्यपरिग्रहाद्विनिवृत्तः स्वच्छः संतोषपरो भवति।

और माता के रुधिर से) बना हुआ है, रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र (वीर्य)—इन सातों धातुओं से भरा हुआ है, अनेक इन्द्रियाँ ही इसके बिल हैं। मल-मूत्र का यह पात्र (बर्तन) है, अनेक छोटे कीड़ों के समूहों से भरा हुआ है, अनेक तरह के रोगों से व्याप्त है, प्रायः नश्वर है अथवा नाश करने वाला है और अन्त में या तो इसमें अनेक कीड़े पड़ जायेंगे, जला दिया जायेगा अथवा कोई खाकर विष्ठा बना देगा। इस प्रकार शरीर को समझकर वह कामदेव से सदा विरक्त रहता है।

आठवीं प्रतिमा आरम्भ त्याग है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक प्राणियों की हिंसा होने के कारण असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भों से विरक्त रहता है अर्थात् उनका त्याग कर देता है।

नौवीं प्रतिमा का नाम परिग्रह त्याग है। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक समझता है कि यह परिग्रह क्रोधादि कषायों की, आर्त, रौद्र, अशुभ ध्यानों की, हिंसा आदि पांचों पापों की और डर की जन्मभूमि है, अर्थात् ये सब परिग्रह से ही उत्पन्न होते हैं तथा धर्म, ध्यान और शुक्ल ध्यान इस परिग्रह से दूर भाग जाते हैं, यही समझकर वह दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों का त्याग कर देता है और सब परिग्रह से अलग तथा विशुद्ध होकर सन्तोष धारण करने में तल्लीन हो जाता है।

अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारंभाणामनुमननाद्विनिवृत्तो भवति ।

उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्य भोजी रात्रिप्रतिमादितपः समुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति ।

अणुव्रतिमहाव्रतिनो समितियुक्तो संयमिनो भवतः समितिं विना विरतौ । तथा चोक्तं वर्गणाखंडस्य बंधनाधिकारे—

संजमविरइयणं को भेदो, ससमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो,
समदीहि विणा महव्वयाणुव्वयाइं विरदी ॥ इति ॥

दसवीं प्रतिमा का नाम अनुमति त्याग प्रतिमा है । इस प्रतिमा का धारण करने वाला श्रावक आहार आदि आरम्भ कार्यों में सम्मति देने का त्याग कर देता है ।

ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है । इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अपने निमित्त बनाये हुए भोजन, उपधि, शय्या और वस्त्र आदि का त्याग कर देता है। केवल एक चादर धारण करता है, भिक्षावृत्ति से भोजन करता है तथा बैठकर पाणिपात्र से ही भोजन करता है । वह रात्रि प्रतिमा आदि तपश्चरण करने में तत्पर रहता है, परन्तु आतापन आदि योगों को धारण नहीं करता ।

यदि अणुव्रती और महाव्रती दोनों ही समितियों को पालन करें तो संयमी कहलाते हैं, यदि ये दोनों ही समितियों का पालन न करें तो विरति अथवा व्रती कहलाते हैं । यही बात वर्गणाखण्ड के बन्धनाधिकार में लिखी है—

संजमविरईण को भेदो समसमिदिमहव्वयाणुव्वयाइं संजमो,
समदीहि विणा महव्वयाणुव्वयाइं विरदी ।

आद्यास्तु षट् जघन्याः स्युर्मध्यमास्तदनु त्रयः । शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥

असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासंभवेऽपि पक्षचर्यासाधकत्वैर्हि साऽभावः क्रियते । तत्राहिंसापरिणामत्वं पक्षः । धर्मार्थं देवतार्थं मंत्रसिद्ध्यर्थमौषधार्थमाहारार्थं स्वभोगार्थं च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वंति हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वैश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति । सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकंपनोच्छ्-

---

अर्थात्—संयम और विरति (अथवा व्रती) में क्या भेद है ? जो समितियों के साथ-साथ महाव्रत और अणुव्रत हों तो संयम समझना चाहिये । यदि समितियों के बिना ही महाव्रत और अणुव्रत हों तो विरति अथवा व्रत समझना चाहिये ।

जिनागम और जैनियों में इन ग्यारह प्रतिमा में से पहिले की छह प्रतिमा जघन्य मानी जाती हैं, इनके बाद की तीन अर्थात् सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाएं मध्यम मानी जाती हैं और बाकी की दसवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाएं उत्तम मानी जाती हैं ।

यद्यपि असि, मषी, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ कर्मों से गृहस्थों के हिंसा होना संभव है तथापि पक्ष, चर्या और साधकपना इन तीनों से हिंसा का निवारण किया जाता है । इनमें से सदा अहिंसा रूप परिणाम करना पक्ष है । गृहस्थी लोग धर्म के लिये, किसी देवता के लिये, किसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिये, औषधि के लिये, आहार के लिये और अपने भोगोपभोग के लिये कभी हिंसा नहीं करते हैं । यदि किसी कारण से हिंसा हो गई हो तो विधि-पूर्वक प्रायश्चित्त कर शुद्धता धारण करते हैं तथा परिग्रह का त्याग करने के समय अपना घर और अपना धर्म अपने वंश में उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जब तक वे घर का परित्याग करते हैं तब तक उनके चर्या कहलाती है ।

श्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वमेवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापमपगतं भवति ।

जैनागमे चत्वार आश्रमाः—उक्तं चोपासकाध्ययने ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमांगाद्विनिःसृताः ॥

तत्र ब्रह्मचारिणः पंचविधाः—उपनयावलंबादीक्षागूढनैष्ठिकभेदेन । तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहधर्मानुष्ठायिनो भवंति । अवलंबब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणा-

---

इसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं, जो शरीर का कांपना, उच्छ्वास लेना, नेत्रों का खोलना आदि क्रियाओं का त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों में लगा हुआ है ऐसे समाधि-मरण करने वाले का शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है। इस प्रकार पक्ष चर्या और साधकत्व इन तीनों से गृहस्थी के हिंसा आदि से इकट्ठे किये हुए सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।

जैन शास्त्रों में चार आश्रम हैं । उपासकाध्ययन में भी लिखा है—ब्रह्मचारी इत्यादि ।

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम सातवें उपासकाध्ययन अंग से निकले हैं ।

इनमें भेद से ब्रह्मचारी पांच प्रकार के होते हैं—उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ और नैष्ठिक । जो गणधर सूत्र को धारण कर अर्थात् मौंजीबंधन विधि के अनुसार यज्ञोपवीत को धारण कर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं । जो क्षुल्लक का रूप धारण कर शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर

गममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवंति । अदीक्षाब्रह्मचारिण: वेषमंतरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवंति । गूढब्रह्मचारिण: कुमारश्रमणा: संत: स्वीकृतागमाभ्यासा बंधुभिर्दु:सहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवति । नैष्टिकब्रह्मचारिण: समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिंगा: गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिंगा:, शुक्लरक्तवसनखंडकोपीनलक्षितकटीलिंगा: स्नातका भिक्षावृत्तयो देवयार्चनपरा भवति ।

गृहस्थस्येज्या, वार्ता, दत्ति:, स्वाध्याय:, संयम:, तप इत्यार्यषट्कर्माणि भवंति । तत्रार्हत्पूजे-

---

गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं । जो बिना ही ब्रह्मचारी का भेष धारण किये शास्त्रों का अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते है उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं। जो कुमार अवस्था में ही मुनि होकर जैन शास्त्रों का अभ्यास करते हैं तथा भाई, पिता आदि कुटुम्बियों के आग्रह से अथवा घोर परीषहों के सहन न करने से किंवा राजा की किसी विशेष आज्ञा से अथवा अपने आप ही जो परमेश्वर भगवान अरहंत देव की दिगंबर अवस्था छोड़कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं । समाधि धारण करते समय शिखा (चोटी) धारण करने से जिसके मस्तक का चिन्ह प्रगट हो रहा है, यज्ञोपवीत धारण करने से जिसका उरोलिंग (वक्षस्थल का चिन्ह) प्रगट हो रहा है, सफेद अथवा लाल वस्त्र के टुकड़े की लंगोटी धारण करने से जिसकी कमर का चिन्ह प्रगट हो रहा है, जो सदा भिक्षावृत्ति से अपना निर्वाह करते हैं, जो स्नातक या व्रती हैं और जो सदा जिनपूजा आदि करने में तत्पर रहते हैं उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं ।

इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप—ये छह गृहस्थों के आर्य कर्म कहलाते हैं । इनमें भी अरहंत भगवान की पूजा करना इज्या कहलाती है, उस इज्या के नित्यमह, चतुर्मुख, कल्पवृक्ष, अष्टाह्निक और ऐंद्रध्वज ये पांच

इज्या, सा च नित्यमहश्चतुर्मुखं कल्पवृक्षोऽष्टाह्निक ऐन्द्रध्वज इति । तत्र नित्यमहो नित्यं, यथाशक्ति जिनगृहेभ्यो निजगृहाद् गंधपुष्पाक्षतादिनिवेदनं, चैत्यचैत्यालयं कृत्वा ग्रामक्षेत्रादीनां शासनदानं मुनिजनपूजनं च भवति । चतुर्मुखं मुकुटबद्धैः क्रियमाणा पूजा सैव महामहः सर्वतोभद्र इति । कल्पवृक्षोऽर्थिनः प्रार्थितार्थैः संतर्प्य चक्रवर्तिभिः क्रियमाणो महः । अष्टाह्निकं प्रतीतं । ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभिः क्रियमाणः बलिस्नपनं संध्यात्रयेपि जगत्त्रयस्वामिनः पूजाभिषेककरणं । पुनरप्येषा विकल्पा अन्येऽपि पूजाविशेषाः सन्तीति । वार्ताऽसिमषिकृषिवाणिज्यादिशिल्पकर्मभिर्विशुद्धवृत्त्याऽर्थोपार्जनमिति । दत्तिः दयापात्रसमसकलभेदाच्चतुर्विधा । तत्र दयादत्तिरनुकंपयाऽनुग्राह्येभ्यः प्राणिभ्यस्त्रिशुद्धिभिरभयदानं । पात्रदत्तिर्महातपोधनेभ्यः प्रतिग्रहार्चनादिपूर्वकं निरवद्याहारदानं ज्ञानसंयमोपकरणादिदानं च । समदत्तिः स्वसमक्रियाय मित्राय

भेद हैं । प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार अपने घर से गंध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिन-भवन में चढ़ाना अथवा जिन-भवन में अरहंत देव की पूजा करना, जिन-भवन अथवा जिन-प्रतिमा का कराना तथा जिन-प्रतिमा या जिन-भवन के लिये राज्य के नियमानुसार सनदपत्र लिखकर गांव-खेत आदि समर्पण करना तथा मुनि लोगों की पूजा करना आदि को नित्यमह कहते हैं । मुकुटबद्ध राजाओं के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे चतुर्मुख कहते हैं । महामह और सर्वतोभद्र भी इसी के नामांतर हैं । समस्त याचकों को उनकी इच्छानुसार धन से संतुष्ट कर जो चक्रवर्ती के द्वारा पूजा की जाती है उसे कल्पवृक्ष कहते हैं । अष्टाह्निक पूजा प्रसिद्ध ही है अर्थात् नंदीश्वर पर्व के दिनों में जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक कहते हैं । इंद्र, प्रतींद्र आदि के द्वारा जो पूजा की जाती है उसे ऐंद्रध्वज कहते हैं । इनके सिवाय बलि अर्थात् नैवेद्य समर्पण स्नपन अर्थात् अभिषेक तीनों समय तीनों लोकों के स्वामी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करना, अभिषेक करना आदि भेद तथा और भी पूजा के विशेष भेद बहुत से होते हैं । असि (तलवार आदि अस्त्र), मषि (स्याही लेखन का काम), कृषि (खेती), वाणिज्य (व्यापार) आदि शिल्प कर्मों के द्वारा अपनी शुद्ध प्रवृत्ति रखकर धन उपार्जन करना वार्ता है । दान देने को

निस्तारकोत्तमाय कन्याभूमिसुवर्णहस्त्यश्वरथरत्नादिदानं, स्वसमानाभावे मध्यमपात्रस्यापि दानं। सकलदत्तिरात्मीयस्वसंततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं च समर्प्य प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव। स्वाध्यायस्तत्त्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च संयमः पंचाणुव्रतप्रवर्त्तनं। तपोऽनशनादिद्वादशविधानुष्ठानं।

इत्यार्यषट्कर्म्मनिरता गृहस्था द्विविधा भवंति। जातिक्षत्रियास्तीर्थक्षत्रियाश्चेति। तत्र जातिक्षत्रियाः क्षत्रियब्राह्मणवैश्यशूद्रभेदाच्चतुर्विधाः। तीर्थक्षत्रियाः स्वजीवनविकल्पादनेकधा भिद्यंते।

दत्ति कहते हैं। वह दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और सकलदत्ति के भेद से चार प्रकार का है। जिन पर अनुग्रह करना आवश्यक है ऐसे दुखी प्राणियों को दयापूर्वक मन, वचन, काय की शुद्धता से अभय दान देना दयादत्ति है। महा तपश्चरण करने वाले मुनियों को प्रतिग्रह पूजन आदि नवधा भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार देना तथा ज्ञान, संयम के शास्त्र पीछी, कमंडलु आदि उपकरण देना पात्रदान या पात्रदत्ति है। अपने समान क्रियाओं को करने वाले मित्रों के लिये उत्तम निस्तारक या गृहस्थाचार्य के लिये कन्या, भूमि, स्वर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ, रत्न आदि देना, यदि अपने समान क्रिया करने वाले न मिलें तो मध्यम पात्र के लिये ही कन्या आदि देना समदत्ति है। अपनी निज की संतान सदा कायम रखने के लिये पुत्र को अथवा अपने गोत्र में उत्पन्न हुए किसी पुरुष को अपना धन और धर्म समर्पण कर देना सकलदत्ति है, अन्वयदत्ति भी इसी का नाम है। तत्वज्ञान को पढ़ना, पढ़ाना, स्मरण करना आदि स्वाध्याय है। पांचों अणुव्रतों में अपनी प्रवृत्ति रखना संयम है और उपवास आदि बारह तरह का तपश्चरण करना तप है।

इस प्रकार आर्यों के जो छह कर्म हैं, उनमें तत्पर रहने वाले गृहस्थ कहलाते हैं और वे दो प्रकार के हैं—जाति क्षत्रिय और तीर्थ क्षत्रिय। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र के भेद से जाति क्षत्रिय चार प्रकार के हैं और अपनी

वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखंडधारिणो निरतिशयतपःसमुद्यता भवन्ति ।

भिक्षवो जिनरूपधारिणस्ते बहुधा भवंति । अनगारा यतयो मुनयः ऋषयश्चेति । तत्रानगाराः सामान्यसाधव उच्यते । यतय उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते । मुनयोऽवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते । ऋषयः—ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधाः, राजब्रह्मदेवपरमभेदात् । तत्र राजर्षयो विक्रियाऽक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवंति । ब्रह्मर्षयो बुद्ध्योषधिऋद्धियुक्ताः कीर्त्यन्ते । देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ताः कथ्यन्ते । परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते ।

अपि च—देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोद्गतर्द्धि—

राजढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः ।

राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्ति—

प्राप्तो बुद्ध्योषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ।।

जीविका के भेद से तीर्थ क्षत्रिय अनेक प्रकार के हैं । जिन्होंने भगवान अरहंत देव का दिगम्बर रूप धारण नहीं किया है और जो खण्ड वस्त्रों को धारण कर निरतिशय तपश्चरण करने में तत्पर रहते हैं उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं । भगवान अरहन्त देव की दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले भिक्षु कहलाते हैं । उनके अनगार, यति, मुनि और ऋषि के भेद से बहुत से भेद होते हैं । साधारण साधुओं को अनगार कहते हैं । जो उपशम श्रेणी तथा क्षपक श्रेणी में विराजमान हैं, उन्हें यति कहते हैं । अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी और केवल ज्ञानियों को मुनि कहते हैं । जिन्हें ऋद्धियां प्राप्त हो चुकी हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं । राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि के भेद से ऋषि चार प्रकार के होते हैं । जिन्हें विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है, उन्हें राजर्षि कहते हैं । बुद्धि और औषधि ऋद्धि को धारण करने वाले ब्रह्मर्षि हैं, आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले देवर्षि हैं और केवल ज्ञानी परमर्षि कहलाते हैं । लिखा है—देशप्रत्यक्ष इत्यादि ।

अर्थात्—यति, मुनि, ऋषि और अनगार—ये चार मुख्य भेद हैं । सामान्य

उक्तैरुपासकैर्मारणान्तिकी सल्लेखना प्रीत्या सेव्या। स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणां बलानामुच्छ्वासनिःश्वासस्य च कदलीघातस्वपाकच्युतिकारणवशात्संक्षयो मरणं, तच्च द्विविधं, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये-समयेस्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवांतरप्राप्तिरनन्तरोपश्लिष्टपूर्वभवविगमनं। अत्र पुनस्तद्भवमरणं ग्राह्यं, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी। बाह्यस्य कायस्याभ्यतराणां कषायाणां तत्कारणहापनया क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना। उपसर्गो

साधुओं को अनगार कहते हैं, जो उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हैं उनको यति कहते हैं, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यय ज्ञानी और केवल ज्ञानियों को मुनि कहते हैं और जिनको ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं। ऋषियों के चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। जिनको विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई है उनको राजर्षि कहते हैं, बुद्धि और औषधि ऋद्धि को धारण करने वाले ब्रह्मर्षि कहलाते हैं, जिन्हें आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त हुई है, उन्हें देवर्षि कहते हैं और केवल ज्ञानी सर्वज्ञ देव को परमर्षि कहते हैं।

ऊपर जिनका वर्णन किया जा चुका है ऐसे श्रावकों को मरण समय में होने वाली सल्लेखना बड़े प्रेम से सेवन करनी चाहिये। कदली घात होने के कारण अथवा अपना पाक पूर्ण हो जाने के कारण अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का स्पर्शन आदि इन्द्रियों का, मन, वचन, काय बलों का और श्वासोच्छवास का नाश होना मरण है। वह मरण दो प्रकार का है—एक नित्य मरण और दूसरा तद्भव मरण। प्रत्येक समय में जो आयु कर्म के निषेक खिरते रहते है, उसको नित्य मरण कहते हैं तथा जिसमें पहिले का भव नाश होकर अगले भव की प्राप्ति हो उसे तद्भव मरण कहते हैं। यहां मारणांतिकी सल्लेखना में तद्भव मरण ग्रहण करना चाहिये। मरणांत ही जिसका प्रयोजन हो उसको मारणांतिकी कहते हैं। अनुक्रम से उनके कारणों को घटाते

दुर्भिक्षे जरसि निःप्रतिक्रियायां धर्मार्थं तनुत्यजनं सल्लेखना। ततो नित्यप्रार्थितसमाधिमरणे यथाशक्ति प्रयत्नं कृत्वा शीतोष्णाद्युपश्लेषे सति तपःस्थो यथा शीतोष्णादौ हर्षविषादं न करोति तथा सल्लेखनां कुर्वाणः शीतोष्णादौ हर्षविषादमकृत्वा स्नेहं संगवैरादिकं परिग्रहं च परित्यज्य विशुद्धचित्तः स्वजन-परिजने क्षन्तव्यं निःशल्य च प्रियवचनैर्विधाय विगतमानकषायः कृतकारितानुमतमेनः सर्वमालोच्य गुरौ महाव्रतमामरणमारोप्यारतिदैन्यविषादभयकालुष्यादिकमपहाय सत्त्वोत्साहमुदीर्य श्रुतामृतेन मनः

हुए बाह्य शरीर को और अन्तरंग कषायों को अच्छी तरह कृष करना, घटाना सल्लेखना है। किसी उपसर्ग के आ जाने पर अथवा घोर दुर्भिक्ष पड़ने पर अथवा जिसका कोई उपाय नहीं ऐसा बुढ़ापा आ जाने पर धर्म के लिये (अपना संचित धर्म बनाये रखने के लिये) शरीर का त्याग करना सल्लेखना है। गृहस्थ को समाधिमरण के लिये सदा प्रार्थना करते रहना चाहिये और अपनी शक्ति के अनुसार सदा उसके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये। यदि समाधिमरण के समय शीत, उष्ण आदि परीषहें आ जाएँ तो उस समय तपश्चरण में लीन हो जाना चाहिये और शीत, उष्ण आदि में (ठण्डी, गरमी में) कभी हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। इस प्रकार सल्लेखना को धारण करते हुये गृहस्थ को शीत, उष्ण आदि में हर्ष-विषाद नहीं करना चाहिये। स्नेह, संग, परिग्रह और बैर आदि का परित्याग कर चित्त को अत्यन्त शुद्ध रखना चाहिये, कुटुम्बी परिवार के लोगों को क्षमा कर देना चाहिये और प्रिय वचनों के द्वारा सबसे क्षमा कराकर सबको शल्य रहित कर देना चाहिये। मान कषाय को दूर कर किये हुये, कराये हुये और अनुमोदना किये हुये समस्त पापों की आलोचना करनी चाहिये तदनंतर गुरु के समीप (गुरु से) मरण पर्यंत तक के लिये महाव्रत धारण करना चाहिये और अरति, दीनता, विषाद, भय और कलुषता आदि को दूर कर देना चाहिये। अपना बल और उत्साह प्रकट कर शास्त्र रूपी अमृत के द्वारा मन को प्रसन्न व शुद्ध करना

प्रसाद्य क्रमेणाहारं परिहाय ततः स्निग्धपानं तदनन्तरं खरपानं तदनु चोपवासं कृत्वा गुरोः पादमूले पचनमस्कारमुच्चारयन्पंचपरमेष्ठिनां गुणन्स्मरन्सर्वयत्नेन तनुं त्यजेदियं सल्लेखना संयतस्यापि ।

अथ सल्लेखनाया मरणविशेषोत्पादनसमर्थाया असंक्लिष्टचित्तेनारब्धायाः पंचातीचारा भवन्ति । जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुरागः, सुखानुबन्धः, निदानं चेति । तत्र शरीरमिदमवश्यं हेयं जलबुद्बुदवदनित्यमस्यावस्थानं कथं स्यादित्यादरो जीविताशंसा । आशंसाऽऽकांक्षणमभिलाष इत्यनर्थान्तरं । रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानं मरणाशंसा ।

चाहिये और अनुक्रम से आहार का त्याग कर तथा छाछ पीकर निर्वाह करना चाहिये । तदनन्तर छाछ का भी त्याग कर गर्म जल पर रहना चाहिये और फिर गर्म जल का भी त्याग कर उपवास करना चाहिये । अन्तिम समय में गुरु के चरण कमलों के समीप रहकर पंच नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये, पांचों परमेष्ठियों के गुणों का स्मरण करना चाहिये और सब तरह के यत्नों से शरीर का त्याग करना चाहिये । यह सल्लेखना संयमी के भी होती है ।

विशेष मरण को उत्पन्न करने वाली यह सल्लेखना यदि असंक्लेश परिणामों से भी आरम्भ की जाय तो भी उसके जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदान ये पांच अतिचार होते हैं । यह शरीर अवश्य ही त्याग करने योग्य है और जल के बुलबुले के समान अनित्य है इसलिये यह किस तरह ठहर सकेगा इस प्रकार शरीर के ठहरने में आदर रखना जीविताशंसा है । आशंसा, आकांक्षा और अभिलाषा इन सबका एक ही अर्थ है । भावार्थ—जीवित रहने की अभिलाषा या इच्छा करने को जीविताशंसा कहते हैं । रोगों के उपद्रवों से व्याकुल होकर प्राप्त हुए जीवन में संक्लेशता धारण कर मरने के लिये चित्त में विचार करना (जल्दी मर जाने की इच्छा

व्यसने सहायत्वमुत्सवे संभ्रम इत्येवमादि सुकृतं बाल्ये सह पांशुक्रीडनमित्येवमादीनामनुस्मरणं मित्रानुरागः। एवं मया भुक्तं शयितं क्रीडितमित्येवमादि प्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबन्धः। विषयसुखोत्कर्षाभिलाषभोगाकांक्षतया नियतं चित्तं दीयते तस्मिन् तेनेति वा निदानमिति ॥

इति श्रीचामुण्डरायप्रणीते भावनासंग्रहे चारित्रसारे सागारधर्मः समाप्तोऽयं ॥

卐—卐

करना) मरणाशंसा है। मेरे मित्रों ने मेरे व्यसनों में इस प्रकार सहायता की थी, मेरे उत्सव में इस प्रकार उत्साह दिखलाया था तथा ऐसे-ऐसे बहुत से काम किये थे, बालकपन में मेरे साथ रेत में खेले थे—इस प्रकार उनके कार्यों का बार-बार स्मरण करना मित्रानुराग है। इस जन्म में मैंने इस प्रकार खाया है, ऐसी-ऐसी शय्याओं पर सोया हूं, ऐसी-ऐसी क्रीडा की है—इस प्रकार जिन-जिन में विशेष प्रेम था उनका बार-बार स्मरण करना सुखानुबंध है। विषय सुखों की अत्यन्त अभिलाषा होने के कारण अथवा भोगों की आकांक्षा होने के कारण उन्हीं भोगोपभोगों में चित्त का सदा लगा रहना अथवा उन्हीं भोगोपभोगों के द्वारा चित्त में सदा चिंतवन बना रहना निदान है। इस प्रकार संलेखना के पांच अतिचार हैं।

इस प्रकार श्री चामुंडरायप्रणीत भावना संग्रह के अन्तर्गत चारित्रसार में सागारधर्म का निरूपण समाप्त हुआ।

卐—卐

षोडशभावनाप्रकरणम् ।

उक्तैरेकादशोपासकैर्वक्ष्यमाणदशधर्माधारैश्च मनुष्यगतौ केवलज्ञानोपलक्षितजीवद्रव्यसहकारिकारणसबंधप्रारभस्यानतानुपमप्रभावस्याचिन्त्यविशेषविभूतिकारणस्य त्रैलोक्यविजयकरस्य तीर्थंकरनामगोत्रकर्मण. कारणानि षोडशभावना भावयितव्या इति। तद्यथा-दर्शनविशुद्धता, विनयसंपन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचारः, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः, सवेगः, शक्तितस्त्यागः, शक्तितस्तपः, साधुसमाधिः, वैयावृत्य करण, अर्हद्भक्ति., आचार्यभक्तिः, बहुश्रुतभक्तिः, प्रवचनभक्तिः, आवश्यकापरिहाणिः, मार्गप्रभावना, प्रवचनवात्सल्यमिति। तत्र जिनोपदिष्टे नैर्ग्रंथ्ये मोक्षवर्त्मनि रुचिः सम्यग्दर्शनं, विशुद्धि विना दर्शनमात्रादेव तीर्थकरनामकर्मबंधो न भवति, त्रिमूढापोढाष्टमदादिरहितत्वात्। उपलब्धनिजस्वरूपस्य

आगे सोलह भावनाएं लिखते हैं—इस संसार में तीर्थंकर नामकर्म और गोत्रकर्म मनुष्य गति में उत्पन्न हुए केवल ज्ञानी जीवों के सहकारी कारणों के सम्बन्ध को प्रारम्भ करने वाला है अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो जाने से फिर केवलज्ञान उत्पन्न होने की सामग्री अपने आप मिल जाती है, उस कर्म का उदय ही सब सामग्री इकट्ठी कर देता है। इसके सिवाय उस कर्म के उदय का प्रभाव अनन्त और उपमारहित है, वह स्वयं जिसका चिंतवन भी नहीं किया जा सकता ऐसी विशेष विभूति का कारण है और तीनों लोकों का विजय करने वाला है इसलिये ऊपर जिन ग्यारह प्रकार के श्रावकों का वर्णन कर चुके है उन्हें आगे कहे हुए उत्तमक्षमा आदि दस धर्मों को धारण कर उस तीर्थंकर नामकर्म और गोत्रकर्म की कारणभूत सोलह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये। आगे उन्हीं सोलह भावनाओं को बतलाते हैं—दर्शनविशुद्धता, विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतीचार, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, संवेग, शक्तितस्त्याग, शक्तितस्तप, साधुसमाधि, वैयावृत्यकरण, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचन भक्ति, आवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचन वात्सल्य ये सोलह भावनाएं हैं। भगवान अर्हंतदेव के कहे हुये निर्ग्रंथ रूप मोक्ष मार्ग में श्रद्धा प्रतीति या विश्वास रखना सम्यग्दर्शन है। उसकी विशुद्धि के बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्र से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होता। वह विशुद्ध सम्यग-

सम्यग्दर्शनस्य प्रथमद्वितीयोपशमकवेदकक्षायिकान्यतमविशिष्टस्य ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रेषु तद्वत्सु च विनये, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगयुक्तत्वे, साधुभ्यः प्रासुकप्रदाने, द्वादशविधतपसि, साधूनां समाधि-वैयावृत्यकरणे, अर्हत्सु व्रतशीलावश्यकसपन्नाचार्येषु च बहुश्रुतेषु प्रवचने च भक्तौ, प्रवचनप्रभावने, प्रवचनवत्सलत्वे प्रवर्त्तनं विशुद्धता। एकाऽपि सा दर्शनविशुद्धता तीर्थंकरनामबंधस्य कारणं भवति, शेषभावनानां तत्रैवान्तर्भावादिति दर्शनविशुद्धता व्याख्याता। सम्यग्दर्शनादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोगवृत्या सत्कारः कषायनोकषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। अहिंसादिषु-

---

दर्शन चाहे प्रथमोपशमिक हो, चाहे द्वितीयोपशमिक हो, चाहे क्षायोपशमिक हो और चाहे क्षायिक हो परन्तु उसमें तीन मूढ़ता और आठों मदों से रहित होने के कारण अपने आत्मा का निजस्वरूप प्रत्यक्ष होना चाहिये। ऐसे विशुद्ध सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। आगे उसकी विशुद्धता बतलाते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तपश्चरण और चारित्र की विनय करने में अर्थात् इनको पालन करने वाले मुनियों की विनय करने में अपनी प्रवृत्ति रखना, अपना उपयोग निरन्तर ज्ञान रूप होने में तथा संवेग धारण करने में अपनी प्रवृत्ति रखना, साधुओं को प्रासुक आहार आदि के दान देने में अपनी प्रवृत्ति रखना, बारह प्रकार के तपश्चरण करने में अपनी प्रवृत्ति रखना, साधुसमाधि और वैयावृत्य करने में प्रवृत्ति रखना, अरहंत की भक्ति में प्रवृत्ति रखना, व्रत, शील और आवश्यकों को पालन करने वाले आचार्यों की भक्ति में प्रवृत्ति रखना, उपाध्यायों की भक्ति में प्रवृत्ति रखना और शास्त्रों की भक्ति में प्रवृत्ति रखना, जिन मार्ग की प्रभावना और साधर्मियों के साथ गाढ़ प्रेम करने में अपनी प्रवृत्ति रखना सम्यग्दर्शन की विशुद्धता कहलाती है। ऐसी सम्यग्दर्शन की विशुद्धता अकेली ही तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध का कारण होती है क्योंकि बाकी की पन्द्रह भावनाएं भी सब उसी एक दर्शन विशुद्धि में शामिल हो जाती हैं। इस प्रकार दर्शन विशुद्धता का व्याख्यान किया, अब आगे अनुक्रम से शेष भावनाओं को कहते हैं।

अपनी योग्यता के अनुसार मोक्ष के कारण रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-

व्रतेषु तत्परिपालनार्थेषु च क्रोधवर्जनादिषु शीलेषु निरवद्या वृत्तिः कायवाङ्मनसा शीलव्रतेष्वनतिचार इति। मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थस्वतत्वविषयं प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणमज्ञाननिवृत्त्यव्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यवहितफलं यत्तस्य भावनायां नित्ययुक्तताऽभीक्ष्णज्ञानोपयोग इति। शारीरं मानसं च बहुविकल्पं प्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभादिजनितं संसारदुःखं यदतिकष्टं ततो नित्यभीरुता संवेग इति। आहारो दत्तः पात्राय तस्मिन्नहनि तत्प्रीतिहेतुर्भवति, अभयदानमुपपादितमेकभवव्यसननोदनकरं, सम्यग्ज्ञानदानं, पुनरनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तारणकारणमतस्तत्त्रिविधाहाराभयज्ञानदानभेदेन यथाविधि प्रतिपाद्यमानं त्याग इत्युच्यते। शरीरमिदं दुःखकारणम-

---

चारित्र का आदर-सत्कार करना तथा इन सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष के कारणों को पालन करने वाले गुरु आदिकों का अपनी योग्यता के अनुसार आदर-सत्कार करना अथवा कषाय—नो कषायों का त्याग कर देना विनयसम्पन्नता है। अहिंसा आदि व्रतों में तथा उन व्रतों का पालन या रक्षा करने वाले शीलों में अथवा क्रोधादि कषायों के त्याग करने में मन, वचन, काय की निर्दोष प्रवृत्ति होना शील व्रतेष्वनतिचार है। भावार्थ–शील और व्रतों का अतिचाररहित निर्दोष पालन करना शील व्रतेष्वनतिचार कहलाता है। मतिश्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवल आदि को ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से आत्म तत्त्व के विषयभूत जीवादि पदार्थों का ज्ञान होना अथवा ज्ञान होने के बाद ही उनकी अज्ञानता का दूर होना उस ज्ञान का फल है अथवा हित की प्राप्ति, अहित का परिहार और जो हिताहित दोनों से रहित है उसकी उपेक्षा करना, यही उस ज्ञान का तत्कालीन फल है। ऐसे ज्ञान की भावना करने में सदा लगे रहना अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है। संसार के दुःख शारीरिक और मानसिक आदि के भेद से अनेक तरह के होते हैं तथा अपने इष्ट जनों का वियोग हो जाना, अनिष्ट पदार्थों का संयोग हो जाना और इच्छानुसार पदार्थों का न मिलना आदि अनेक तरह से उत्पन्न होते हैं, इसके सिवाय वे इस जीव को अत्यन्त कष्ट देने वाले हैं। इसलिये ऐसे संसार के दुःखों से सदा डरते रहना संवेग कहलाता है। पात्र के लिये दिया हुआ आहार दान केवल उसी दिन उसको संतुष्ट करने का कारण

नित्यमशुचि नास्य यथेष्टं भोगविधिना परिपोषो युक्तः, अशुच्यपीदं गुणरत्नसंचयोपकारीति विचिन्त्य विनिवृत्तविषयसुखाभिषंगस्य कार्यं प्रत्येतद्भृतकमिव नियुंजानस्य यथाशक्तिमार्गाविरोधकाय क्लेशानुष्ठानं तप इति। यथा भाण्डागारे समुत्थिते दहने तत्प्रशमनमनुष्ठीयते बहूपकारित्वात्तथानेक-व्रतसमृद्धस्य मुनिगणस्य तपसः कुतश्चित्प्रत्यूहे समुपस्थिते तत्संधारणं साधुसमाधिरिति। गुणवतः साधुजनस्य संनिहिते दुःखे निरवद्येन विधिना तदपहरणं बहुप्रकारं वैयावृत्यमिति। अर्हदाचार्येषु केवल-

---

होता है तथा अभयदान देने से उसके एक भव के दुःख दूर होते हैं और सम्यग्ज्ञान का दान देना अनेक भवों के सैंकड़ों, हजारों दुःखों से पार कर देता है, इसलिये विधिपूर्वक आहारदान, अभयदान और ज्ञानदान देना त्याग कहा जाता है। यह शरीर अनेक दुःखों का कारण है तथा अनित्य और अपवित्र है, इसलिये इसको इच्छानुसार भोगोपभोग के द्वारा इसको पुष्ट करना ठीक नहीं है। यद्यपि यह अपवित्र है तथापि रत्नत्रय रूप गुणों के संचय करने में कुछ उपकार अवश्य करता है, यही समझकर जिसने विषय-सुखों का सम्बन्ध बिल्कुल छोड़ दिया है और जो इस शरीर को सेवक के समान अपने आत्मकल्याण करने रूप कार्य में सदा लगाये रहता है, ऐसे साधु का अपनी शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग का विरोध न करने वाला उपवासादिक द्वारा काय-क्लेश सहन करना तप है। जिस प्रकार किसी भंडागार में (चीजों से भरे हुए कोठे में) अग्नि लग जाये तो उसे लोग बुझा देते हैं, क्योंकि उस अग्नि के बुझा देने से बहुत-सा उपकार होता है, उसी प्रकार अनेक व्रत आदि गुणों से सुशोभित ऐसे मुनियों के समूह के लिये अथवा किसी एक तपस्वी के लिये यदि किसी कारण से उनके व्रतादिकों में कोई विघ्न आ जाये तो उसको दूर करना साधुसमाधि है। अनेक गुणों को धारण करने वाले साधुओं को कोई दुःख उपस्थित हो जाने पर निर्दोष विधि से उस दुःख को दूर करना तथा अनेक तरह से सेवा-चाकरी करना वैयावृत्य है। केवलज्ञान रूपी दिव्य नेत्रों को धारण करने वाले अरहन्त में विशुद्ध भावों से प्रेम रखना अर्हद्भक्ति है। श्रुतज्ञान रूपी दिव्य नेत्रों को धारण करने वाले आचार्यों में विशुद्ध भावों से प्रेम रखना आचार्यभक्ति है। जिनकी प्रवृत्ति सदा दूसरों का हित करने

श्रुतज्ञानदिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तिषु स्वपरसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च श्रुतदेवता-संनिधिगुणयोगदुरासदे मोक्षपदप्रासादारोहणसुरचितसोपानभूते भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिस्त्रिधा कल्प्यत इति । षडावश्यकक्रियाः, सामायिकं, चतुर्विंशतिस्तवः, वंदना, प्रतिक्रमणं, प्रत्याख्यानं, कायोत्सर्गश्चेति । तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं, चितस्यैकत्वेन ज्ञानेन प्रणिधानं वा शत्रु-मित्रमणिपाषाणसुवर्णमृत्तिकाजीवितमरणलाभालाभादिषु रागद्वेषाभावो वेति । चतुर्विंशतिस्तवस्तीर्थ-करपुण्यगुणानुकीर्त्तनमिति । वंदना त्रिशुद्धिद्वयासनश्चतुःशिरोवनतिद्वादशावर्तना चेति, तत्प्रपंचस्तू-त्तरत्र वक्ष्यते । प्रतिक्रमणमतीते दोषनिवर्त्तनमिति । प्रत्याख्यानमनागतदोषापोहनमिति । कायोत्सर्गः

वाली है और जो अपना आगम तथा पर के आगमों के विस्तार रीति से जानने के कारण निश्चयनय से कहे जाने योग्य वास्तविक तत्त्वों के जानकार हैं, ऐसे उपाध्यायों में विशुद्ध भावों से अनुराग या प्रेम रखना उपाध्यायभक्ति है तथा मोक्षपद रूपी राजभवन में चढ़ने के लिये जो सीढ़ियों के समान बनाया गया है और श्रुत देवता के समीप रहने वाले गुणों के संयोग से जो अत्यन्त दुरासद व कठिन (कठिनता से जानने योग्य) है, ऐसे शास्त्रों में विशुद्ध भावों से अनुराग या प्रेम रखना प्रवचनभक्ति कहलाती है । यह चारों ही प्रकार की भक्ति मन, वचन, काय तीनों से करनी चाहिये । इन तीनों से करने के कारण वह तीन प्रकार की कही जाती है । सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग—ये छह आवश्यक क्रियायें कहलाती हैं । पापरूप समस्त योगों का त्याग करना अथवा एक ज्ञान के द्वारा चित्त को निश्चल रखना अथवा शत्रु, मित्र, मणि, पाषाण, सुवर्ण, मिट्टी, जीना, मरना और लाभ, अलाभ आदि में राग-द्वेष का त्याग करना सामायिक है । चौबीस तीर्थंकरों के पुण्यरूप गुणों का कीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है । मन, वचन, काय को शुद्ध रखकर, खड़े होकर अथवा बैठकर चारों दिशाओं में चार शिरोनति करना तथा बारह आवर्त करना आदि वन्दना है । इस वन्दना को आगे विस्तार के साथ लिखेंगे । अतीत दोषों को दूर करना प्रतिक्रमण है और आगे होने वाले दोषों का परित्याग करना प्रत्याख्यान है । परिमित समय के लिये शरीर से ममत्व छोड़ना कायोत्सर्ग है ।

परमितकालविषयशरीरममत्वनिवृत्तिरिति । एतासां षण्णां क्रियाणां यथाकालं प्रवर्त्तनमनौत्सुक्यमावश्यकापरिहाणिरिति । ज्ञानतपो जिनपूजाविधिना धर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावनेति । प्रकृष्टं वचनं प्रवचनं, प्रकृष्टस्य वा वचनं प्रवचनं, सिद्धांतो द्वादशांगमित्यनर्थान्तरं, तत्र भवा देशमहाव्रतिनः, असंयतसम्यग्दृष्टयश्च प्रवचनमित्युच्यते, तेष्वनुराग आकांक्षा ममेदं भावः प्रवचनवत्सलत्वं । तेनैकेनापि तीर्थंकरनामकर्मबंधो भवति । कुतः पंचमहाव्रताद्यागमार्थविषयस्योत्कृष्टानुरागस्य दर्शनविशुद्ध्यादिपंचदशस्वविनाभावात् । एवं षोडश भावनाः स्युः । एकैकस्यां भावनायामविनाभाविन्य

इन छहों क्रियाओं को अपने यथायोग्य समय पर करना, किसी तरह का प्रमाद न करना आवश्यकापरिहाणि है । ज्ञान, तपश्चरण और जिनपूजा आदि क्रियाओं के द्वारा धर्म को प्रकाशित करना मार्ग प्रभावना है । सबसे उत्तम वचनों को प्रवचन कहते हैं अथवा सब से उत्तम पुरुष के वचनों को प्रवचन कहते हैं, सिद्धान्त अथवा द्वादशांग आदि उसी के नामान्तर हैं । उन सिद्धान्त शास्त्रों के अनुसार होने वाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टियों को भी प्रवचन कहते हैं । उन सबमें अनुराग रखना, आकांक्षा रखना, उनमें ममत्व बुद्धि रखना प्रवचन-वत्सलत्व कहलाता है । इस एक ही प्रवचन-वत्सलत्व से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो जाता है, क्योंकि पंच महाव्रत आदि शास्त्रों में कहे हुए पदार्थों में जो उत्कृष्ट अनुराग है वह दर्शनविशुद्धि आदि पन्द्रहों भावनाओं से अविनाभावी है । भावार्थ—प्रवचन-वत्सलत्व के साथ-साथ दर्शनविशुद्धि आदि पन्द्रह भावनाएं अवश्य रहती हैं, इसका कारण यह है कि बिना उन पन्द्रह भावनाओं के प्रवचन वत्सलत्व हो ही नहीं सकता । इस तरह से सोलह भावनाएं हैं । इनमें प्रत्येक भावना शेष पन्द्रहों भावनाओं की अविनाभाविनी है अर्थात् जहां एक भावना रहती है वहां बाकी की पन्द्रह भी अवश्य रहती हैं, क्योंकि शेष पन्द्रहों के बिना कोई भी एक नहीं हो सकती । इसलिये अच्छी तरह चिंतवन की हुई ये सोलह भावनाएं पृथक्-पृथक् अथवा सब मिलकर तीर्थंकर नामकर्म

इतरपंचदश भावनाः तेन सम्यग्भाव्यमानानि व्यस्तानि समस्तानि वा तीर्थंकरनामकर्मास्रवकारणानि भवंति। असंयतसम्यग्दृष्टित अपूर्वकरणस्य पदे-षट् सप्त भागा यावत्।

इति श्रीचामुण्डरायप्रणीते चारित्रसारे षोडशभावनावर्णनं समाप्तं।



अनगारधर्मवर्णनम्।

इदानीमनगारधर्म उच्यते, स चोत्तमक्षमामार्दवाऽऽर्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्य-भेदेन दशविधः। उत्तमग्रहणं ख्यातिपूजादिनिवृत्यर्थं, तत्प्रत्येकमभिसम्बध्यते, उत्तमक्षमा उत्तममार्दव-मित्यादि। मोक्षमार्गे प्रवर्त्तमानस्य प्रमादपरिहारार्थं दशविधधर्माख्यान।

के आस्रव होने में कारण होती हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के छह-सात भाग तक तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो सकता है।

इस प्रकार श्रीचामुण्डरायप्रणीत चारित्रसार में सोलह भावनाओं का वर्णन समाप्त हुआ।



आगे अनगार धर्म का वर्णन किया जाता है—

अब आगे अनगार धर्म अर्थात् मुनियों के धर्म का वर्णन करते हैं। यह मुनियों का धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के भेद से दस प्रकार का है। इसमें जो उत्तम शब्द है वह अपनी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा आदि की निवृत्ति के लिये है अर्थात् यदि अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये या प्रसिद्ध होने के लिये कोई पुरुष क्षमा धारण करे तो वह उत्तम क्षमा नहीं है, अथवा वह मुनियों के धर्म में

तपोवृंहणकारणशरीरस्थितिनिमित्तं निरवद्याहारान्वेषणार्थं परगृहाण्युपसर्पतो भिक्षोर्दुष्टजनाक्रोशनोत्प्रहसनाऽवज्ञाऽनुताडनशरीरव्यापादनादीनां क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधाने कालुष्याभावः क्षमेत्युच्यते। उत्तमक्षमाया व्रतशीलपरिरक्षणमिहामुत्र दुःखाभिष्वंगः सर्वस्य जगतः सन्मानसत्कारलाभप्रसिद्ध्यादिश्च गुणस्तत्प्रतिपक्षस्य क्रोधस्य धर्मार्थकाममोक्षप्रणाशनं दोष इति विचिन्त्य क्षंतव्यं। क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावाभावानुचिंतनात्परैः प्रयुक्तस्य क्रोधनिमित्तस्यात्मनि भावानुचिंतनात्ताव-

---

गिनी जाने योग्य उत्तम क्षमा नहीं है। उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य—इस प्रकार उत्तम शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिये। जो पुरुष मोक्ष मार्ग में अपनी प्रवृत्ति कर रहा है उसका प्रमाद दूर करने के लिये इन दस प्रकार के धर्मों का निरूपण किया जाता है।

जो भिक्षु या मुनि तपश्चरण को बढ़ाने और शरीर को ठहराने के निमित्त (कारण) ऐसे निर्दोष आहार को ढूंढने के लिये दूसरे के घर जाते हैं, उन्हें देखकर यदि कोई दुष्ट लोग उन्हें गाली दें, बुरे वचन कहें, उनका अपमान करें या ताड़न करें अथवा शरीर का नाश करने के लिये ही (जान से मार डालने के लिये ही) तैयार हों, ये सब तथा इनके सिवाय और भी क्रोध उत्पन्न करने के निमित्त (कारण) मिल जायें तो भी जो मुनि अपने हृदय में किसी तरह का संक्लेश परिणाम नहीं करते वह उनकी क्षमा कहलाती है। व्रत और शीलों की रक्षा करना, इस लोक और परलोक के दुःख दूर होना तथा समस्त संसार से सम्मान और सत्कार की प्राप्ति होना और समस्त संसार में प्रसिद्ध होना आदि उत्तम क्षमा के गुण हैं और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का नाश होना आदि उस उत्तम क्षमा के प्रतिपक्षी क्रोध के दोष हैं, यही समझकर क्षमा धारण करना चाहिये तथा क्रोध के जो-जो निमित्त (कारण) हैं उनका अपने आत्मा में भाव (अस्तित्व) और अभाव चिंतवन कर क्षमा धारण करना चाहिये। दूसरे दुष्ट लोग, जो क्रोध होने का निमित्त (कारण) बतलाते हैं वह, यदि अपने आत्मा में हो तो उसके अस्तित्व का चिंतवन करना चाहिये

द्विद्यंते मय्येते दोषाः किमत्रासौ मिथ्या ब्रवीतीति क्षंतव्यं । अभावचिंतनादपि नैते मयि विद्यन्ते दोषाअज्ञानादसौ ब्रवीतीति क्षमा कार्या । अति च बालस्वभावचिन्तनं त्यक्षपरोक्षाक्रोशनताडनमारणधर्मभ्रंशनानामुत्तरोत्तररक्षणार्थं, तद्यथा—परोक्षमाक्रोशति बाले क्षन्तव्यमेवं स्वभावा हि बालाः भवन्ति, दिष्ट्या च स मां परोक्षमाक्रोशति न च प्रत्यक्षमेतदपि बालेष्विति लाभो मन्तव्य एव । प्रत्यक्षमाक्रोशति सोढव्यं, विद्यत एतद्बालेषु दिष्ट्या च मां प्रत्यक्षमाक्रोशति, यन्न ताडयत्येतदपि बालेष्विति लाभ एव मंतव्यः । ताडयत्यपि मर्षितव्यं, दिष्ट्या च मां ताडयति न प्राणैर्वियोजयति एतदपि बालेष्विति लाभ एव मन्तव्यः । प्राणैर्वियोजयत्यपि तितिक्षा कर्त्तव्या, दिष्ट्या च मां प्राणैर्वियोजयति मदधीनाद्धर्मान्न

अर्थात् यह जो कह रहा है वे सब दोष मुझमें विद्यमान हैं, फिर यह मिथ्या थोड़े ही कहता है, यही विचार कर उसे क्षमा कर देना चाहिये । यदि उसके कहे हुए दोष अपने आत्मा में न हों तो उनके अभाव का चिंतवन करना चाहिये अर्थात् यह जिन दोषों को कह रहा है वे मेरे आत्मा में नहीं हैं, यह केवल अपने अज्ञान से ऐसा कहता है, यही समझकर उसे क्षमा कर देना चाहिये अथवा उसके स्वभाव को बालकों के स्वभाव के समान चिंतवन करना चाहिये और विचार करना चाहिये कि परोक्ष, प्रत्यक्ष, आक्रोशन, ताड़न, मारण और धर्मभ्रंशन की उत्तरोत्तर रक्षा तो होती है । इनकी उत्तरोत्तर रक्षा किस प्रकार होती है, यही बात आगे दिखलाते हैं—यदि कोई बालक परोक्ष में गाली दे अथवा बुरे वचन कहे तो उसे क्षमा करते ही हैं क्योंकि बालकों का ऐसा स्वभाव होता ही है । यह मनुष्य भी मेरे अशुभ कर्म के उदय से परोक्ष में गाली देता है या बुरे वचन कहता है, प्रत्यक्ष में तो कुछ नहीं कहता, बालक तो प्रत्यक्ष में भी गाली देते या बुरे वचन कहते हैं । इसने प्रत्यक्ष में कुछ नहीं कहा, यही मेरे लिये बड़ा भारी लाभ है (इस प्रकार समझकर क्षमा कर देना चाहिये । यदि वह प्रत्यक्ष) में ही आकर गाली दे या बुरे वचन कहे तो भी यह समझकर उसे सहन करना चाहिये कि ऐसा करना भी बालकों का स्वभाव है, यह मेरे ही अशुभ कर्म के उदय से प्रत्यक्ष में आकर मुझे गाली देता है । बालक तो मारते भी हैं, यह मुझे मारता नहीं, यही बड़ा लाभ है (ऐसा मानकर उसे क्षमा कर देना चाहिये) । यदि

भ्रंशयतीति । किंचान्यन्ममैवापराधोऽयं यत्पुराऽऽचरितं तन्महद्दुष्कर्मं तत्फलमिदमाक्रोशवचनादिनिमित्तमात्रं परोऽयमत्रेति सोढव्यमिति ।

उत्तमजातिकुलरूपविज्ञानैश्वर्यश्रु तजपतपोलाभवीर्यस्यापि तत्कृतमदावेशाभावात्परप्रयुक्तमपरिभवनिमित्ताभिमानाभावो मार्दवं माननिर्हरणमवगन्तव्यम्। मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णंति, साधवोऽपि

वह ताड़न भी करे, मारे तो भी यह विचार करना चाहिये कि मेरे ही अशुभ कर्म के उदय से यह मुझे मारता या ताड़न करता है, मुझे जान से तो नहीं मारता । बालक तो जान से भी मार डाला करते हैं, इसने मुझे जान से नहीं मारा, यही मेरे लिये बड़ा लाभ है (यही समझकर उसे क्षमा कर देना चाहिये) । यदि वह प्राण भी ले, जान से भी मारे तो भी क्षमा ही धारण करना चाहिये और विचार करना चाहिये कि मेरे अशुभ कर्म के उदय से यह मेरे प्राण लेता है, मेरे अधीन जो धर्म है उससे मुझे भ्रष्ट तो नहीं करता । इन सब बातों के सिवा उस साधु को यह भी चिंतवन करना चाहिये कि यह अपराध तो मेरा ही है । पूर्व जन्म में मैंने ऐसे-ऐसे बड़े भारी पाप कर्म किये थे, उन्हीं का यह फल है । ये बुरे वचन अथवा ताड़न आदि तो केवल निमित्तमात्र हैं, दुःख तो केवल अपने कर्म के उदय से होता है । यह मनुष्य तो मेरे आत्मासे पर है इसलिये यह तो दुख दे ही नहीं सकता, यही समझकर दुखों को सहन करना चाहिये और क्षमा धारण करना चाहिये ।

उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, उत्तम विज्ञान, उत्तम ऐश्वर्य, उत्तम श्रुतज्ञान, उत्तम जप, उत्तम तप, उत्तम लाभ और उत्तम वीर्य आदि की प्राप्ति होने पर भी उनसे उत्पन्न होने वाले मद का आवेश न होने से दूसरे के द्वारा किये हुए तिरस्कार आदि का निमित्त मिलने पर भी अभिमान न करना, नम्रता से रहना मार्दव है । इसी का दूसरा नाम माननिर्हरण (अभिमान का मर्दन करना या दूर करना) है । जो मनुष्य मार्दव गुण को धारण करता है उस पर गुरु भी अनुग्रह करते हैं और साधु लोग भी उसे श्रेष्ठ मानते हैं तथा ऐसा होने से अर्थात् गुरु का अनुग्रह होने से और साधुओं के द्वारा श्रेष्ठ माने जाने से वह मोक्ष

साधु मन्यन्ते । ततश्च सम्यग्ज्ञानादीनां पात्र भवति, अतः स्वर्गापवर्गफलावाप्तिर्मानमलिनमनसि व्रत-शीलानि नावतिष्टन्ते, साधवश्चैनं परित्यजन्ति, तन्मूलाः सर्वा विपत्तय इति ।

योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्या वक्रताऽऽर्जवमित्युच्यते । ऋजुहृदयमधिवसन्तो गुणा माया-भावं नाश्रयन्ते, मायाविनो न विश्वसिति लोकः, गर्हिता च गतिर्भवतीति ।

प्रकर्षप्राप्तलोभनिवृत्तिः शौचमित्युच्यते । शुच्याचारमिहापि सन्मानयन्ति सर्वे, विश्रम्भणाद-यश्च गुणास्तमधितिष्ठन्ति । लोभभावनाक्रान्तहृदये नावकाशं लभन्ते गुणाः स च लोभो जीविता-

---

के कारणभूत सम्यग्ज्ञान आदिक उत्तम पात्र बन जाता है और सम्यग्ज्ञानादि के उत्तम पात्र हो जाने से उसे शीघ्र ही स्वर्ग और मोक्ष फल की प्राप्ति हो जाती है । इसके विपरीत जिसका हृदय अभिमान से मलिन है उसके व्रत, शील आदि कभी नहीं ठहर सकते, साधु लोग भी उसे छोड़ देते हैं और संसार की समस्त विपत्तियां अभिमान के ही कारण उत्पन्न होती हैं । इसीलिये मार्दव धर्म धारण करना श्रेष्ठ है ।

मन, वचन, काय इन तीनों योगों को सरल रखना, छल-कपट न करना आर्जव कहलाता है । जिसका हृदय सरल है उसमें अनेक गुण आकर निवास करते है तथा जिसके हृदय में छल-कपट है उसमें एक भी गुण नहीं ठहर सकता, छल-कपट करने वाले का संसार में कोई भी विश्वास नहीं करता और परलोक में भी निंद्य गति में जन्म लेना पड़ता है । इसलिये आर्जव धर्म का पालन करना सबसे उत्तम है ।

अत्यंत लोभ का त्याग कर देना, लोभ की प्रकर्षता न रखना शौच है । जिसके आचरण पवित्र हैं उसका इस लोक में भी सब लोग आदर-सत्कार करते हैं और विश्वास आदि समस्त गुण आकर उसमें निवास करते हैं । जिसके हृदय में लोभ की भावना भरी रहती है, उसके हृदय में किसी भी गुण को जगह नहीं मिलती । वह लोभ जीवित, आरोग्य, इंद्रिय और उपभोग के विषयों के भेद से चार प्रकार का है तथा स्वविषय और परविषय के भेद से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं, जैसे स्वजीवित लोभ—अपने जीवित रहने का लोभ

ऽऽरोग्येन्द्रियोपभोगविषयभेदाच्चतुर्विधः, स्वपरविषयाभावात्स प्रत्येकं द्विधा भिद्यते। स्वजीवितलोभः, परजीवितलोभः, स्वारोग्यलोभः, परारोग्यलोभः, स्वेन्द्रियलोभः, परेन्द्रियलोभः, स्वोपभोगलोभः, परोपभोगलोभश्चेति, अतस्तन्निवृत्तिलक्षणं शौचं चतुर्विधमिति।

सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधुर्वचनं सत्यमित्युच्यते। सत्यसद्भावो दशविधः, नामरूपस्थापनाप्रतीत्यसंवृत्तिसंयोजनाजनपददेशभावसमयसत्यभेदेन। तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यप्यर्थे सद्व्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यं, इन्द्र इत्यादि। यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यं, यथा चित्रपुरुषादिषु असत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थे पुरुष इत्यादि। असत्यप्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताक्षसारि-

---

करना, परजीवित लोभ—पुत्र, पौत्र आदि पर के जीवित रहने का लोभ करना, स्वारोग्य लोभ—अपने आरोग्य रहने का लोभ करना, परारोग्य लोभ—दूसरे के आरोग्य रहने का लोभ करना, स्वेंद्रिय लोभ—अपनी इन्द्रियों के बनी रहने का लोभ, परेंद्रिय लोभ—दूसरे की इन्द्रियों के बनी रहने का लोभ, स्वोपभोग लोभ—अपनी भोगोपभोग सामग्री के बनी रहने का लोभ, परोपभोग लोभ—दूसरे की भोगोपभोग सामग्री के बनी रहने का लोभ। इस प्रकार चार प्रकार का लोभ है इसलिये उसका त्याग करने रूप शौच भी चार ही प्रकार का कहा जाता है।

श्रेष्ठ पुरुषों के लिये उत्तम वचन कहना सत्य है। वह सत्य नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य के भेद से दस प्रकार का है। सचेतन या अचेतन पदार्थ का, चाहे वह अर्थ न भी निकलता हो तो भी, केवल व्यवहार चलाने के लिये जो किसी की संज्ञा रखी जाती है उसको नाम सत्य कहते हैं। जैसे किसी पुरुष का अथवा किसी अचेतन पदार्थ का केवल व्यवहार में पहचानने के लिये कोई इन्द्र नाम रख ले तो वह नाम सत्य कहलाता है। पदार्थ के उपस्थित न रहने पर भी केवल उसके रूप को देखकर उस पदार्थ का नाम कहना रूप सत्य है। जैसे किसी पुरुष के बनाये हुए चित्र में यद्यपि चैतन्य का संयोग नहीं है तथापि उसे पुरुष कहना रूप सत्य है। पदार्थ के नहीं होते हुए भी किसी कार्य के लिये उसकी स्थापना करना स्थापना सत्य है। जैसे चन्द्र-

कानिक्षेपादिषु तत्स्थापनासत्यं, चंद्रप्रभप्रतिमा इति साद्यनादीनौपशमिकादीन् भावान् प्रतीत्य यद्वचनं तत्प्रतीत्यसत्य, दीर्घोऽयं पुरुषस्ताल इत्यादि। यल्लोकसंवृत्या गीतं वचस्तत्संवृतिसत्यं, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पंकेजातं पंकजमित्यादि। धूपचूर्णवासनानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रक्रौंचव्यूहादिषु वाऽचेतनेतरद्रव्याणां यथाभागविधान संनिवेशाविर्भावकं यद्वचस्तत्संयोजनासत्यं। द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपदसत्यं, राजाराणकमित्यादि। ग्रामनगरराजगणपाखण्डजातिकुलादिधर्माणामुपदेशकं यद्वचस्तद्देशसत्य, ग्रामो वृत्याऽऽवृत इत्यादि। छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यं। प्रतिनियतषट्द्रव्यपर्यायाणामागमगम्यानां याथा-

---

प्रभ की प्रतिमा में चंद्रप्रभ की स्थापना करना। सादी अथवा परम्परागत अनादि जो औपशमिकादि भाव हैं उनकी अपेक्षा से वचन कहना प्रतीत्य सत्य है। जैसे औदयिक भावों से उत्पन्न हुए किसी लम्बे पुरुष को 'यह पुरुष लम्बा है', 'यह ताड़ का वृक्ष बहुत लम्बा है' आदि कहना। लोक में रूढ शब्दों का कहना संवृत्ति सत्य है। जैसे कमल पृथ्वी आदि अनेक कारणों से उत्पन्न होता है तथापि उसे केवल कीचड़ से उत्पन्न होने के कारण पंकज कहना संवृत्ति सत्य है। सुगंधित धूप, चूर्ण वासना और उबटन, लेप आदि द्रव्यों में पड़ने वाली चीजों का अलग-अलग विभाग कहना तथा पद्मव्यूह, मकरव्यूह, हंसव्यूह, सर्वतोभद्रव्यूह और क्रौंचकव्यूह आदि की रचना का अनुक्रम कहना संयोजना सत्य कहलाता है। आर्य-अनार्य आदि के भेद से जो बत्तीस देश हैं उनमें धर्म अर्थ, काम, मोक्ष को बतलाने वाले अलग-अलग शब्द या वचनों को कहना जनपद सत्य है। जैसे किसी देश में राजा कहते हैं, किसी देश में राणा कहते हैं। गाँव, नगर, राज, गण, पाखंड, जाति तथा कुल आदि के धर्मों का उपदेश करने वाले, उनका स्वरूप बतलाने वाले वचनों को देश सत्य कहते हैं। जैसे जो बाड़ से घिरा हो उसे गांव कहते हैं। अल्प ज्ञानियों के द्रव्यों के यथार्थ स्वरूप का दर्शन नहीं होता है तथापि संयमी मुनि अथवा संयतासंयत श्रावक अपने गुणों का पालन करने के लिये 'यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है' इत्यादि जो वचन कहते हैं उन्हें भाव सत्य

त्म्याऽऽविष्करणं यद्वचस्तत्समयसत्यं, समयोत्तरवृद्ध्या बालो युवा पल्योपम इत्यादि। सत्यवाचि प्रतिष्ठिताः सर्वगुणसम्पदः, अनृताभिभाषिणं बन्धवोऽप्यवमन्यन्ते, मित्राणि च विरक्तभावमुपयान्ति, विषाग्न्युदकादीन्यप्येनं न सहन्ते, जिह्वाच्छेदसर्वस्वहरणादिव्यसनभाग्भवतीति।

संयमो द्विधा—उपेक्षाऽपहृतभेदेन। तत्र देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेनोत्कृष्टकायस्य कायवाङ्मनःकर्मयोगानां कृतनिग्रहस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वंगलक्षण उपेक्षासंयमः। अपहृत-संयमस्य समितयः कार्यास्ता उच्यन्ते, ईर्याभाषैषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः। तत्रैर्यासमितिर्नाम-

---

कहते हैं। शास्त्रों से ही जानने योग्य ऐसे प्रतिनियत छह द्रव्य और उनकी पर्यायों का यथार्थ स्वरूप प्रकट करना समय सत्य है। जैसे उत्तरोत्तर समयों की वृद्धि होने से बालक युवा होता है। इतने को पल्योपम कहते हैं। इस तरह दस प्रकार का सत्य है। सत्य वचनों में सब तरह के गुण और सम्पदायें भरी रहती हैं और झूठ बोलने वाले का अपने सगे भाई भी तिरस्कार करते हैं, मित्र भी उससे विरक्त हो जाते हैं। विष, अग्नि और जल आदि जड़ पदार्थ भी मिथ्या भाषण करने वाले को सहन नहीं कर सकते तथा जीभ का काटा जाना और समस्त धन का हरण हो जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं।

संयम दो प्रकार का है—एक उपेक्षा संयम और दूसरा अपहृत संयम। जो मुनि देश और काल के विधानों के जानकार हैं, अन्य किसी की रोक-टोक न होने से जिनका शरीर अति उत्तम है, जो मन, वचन, काय के तीनों योगों का निग्रह अच्छी तरह करते हैं और तीनों गुप्तियों का पालन बहुत अच्छी तरह करते हैं, ऐसे मुनियों के राग-द्वेष का अभाव होना उपेक्षा संयम है। अपहृत संयमी मुनि को समितियों को पालन करना चाहिये। आगे उन्हीं समितियों को कहते हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पांच समिति हैं। संक्षेप में जीवों के चौदह भेद हैं—स्थूल एकेंद्रिय पर्याप्तक, स्थूल एकेन्द्रिय अपर्याप्तक; सूक्ष्म एकेंद्रिय पर्याप्तक, सूक्ष्म एकेंद्रिय अपर्याप्तक ये—चार तो एकेंद्रिय

कर्मोदयाऽऽपादितविशेषैकद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियभेदेन चतुर्द्विर्द्विर्द्विश्चतुर्विकल्पचतुर्दशजीवस्थानादिविधान-वेदिनो मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषोर्विषयग्रहणसामर्थ्यमुपजनयतः मनुष्यहस्त्यश्व-शकटगोकुलादिचरणपातोपहतावश्याय प्रालेयमार्गेऽनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य संकुचितावयवस्यो-त्सृष्टपार्श्वेहष्टेयुं गमात्रपूर्वनिरीक्षणावहितलोचनस्य स्थित्वा दिशो विलोकयतः पृथिव्याद्यारंभाभा-वादीर्यासमितिरित्याख्यायते। हितमितासंदिग्धाभिधानं भाषासमितिः मोक्षपदप्रापणप्रधानफलं हितं, तद्द्विविधं, स्वहितं, परहितं चेति। मितमनर्थकबहुप्रलपनरहितं। स्फुटार्थं व्यक्ताक्षरं चाऽसंदिग्धत्वं।

के भेद; द्वींद्रिय पर्याप्तक, द्वींद्रिय अपर्याप्तक—ये दो द्विंद्रिय के भेद, त्रींद्रिय पर्याप्तक, त्रींद्रिय अपर्याप्तक—ये दो त्रींद्रिय के भेद; चौइंद्रिय पर्याप्तक, चौइंद्रिय अपर्याप्तक—ये दो चौइंद्रिय के भेद; पचेंद्रिय सैनी पर्याप्तक, पचेंद्रिय असैनी अपर्याप्तक; पंचेंद्रिय असैनी पर्याप्तक, पंचेंद्रिय असैनी अपर्याप्तक—ये चार पंचेंद्रिय के भेद हैं। इस प्रकार चौदह भेद हैं और ये सब अपने-अपने नामकर्म के विशेष उदय से प्राप्त होते हैं। जो मुनि इन चौदह जीव स्थानों के भेदों को अच्छी तरह जानते हैं, जो केवल धर्म के लिये ही गमन करते हैं सो भी सूर्य के उदय हो जाने पर तथा जिनके नेत्रों में अपने विषय ग्रहण करने की सामर्थ्य है वे ही गमन करते हैं। मनुष्य, हाथी, घोड़े, गाड़ियों और गाय, भैंस आदि के खुरों से जिसकी ठंडक निकल गई है ऐसे ठंडे मार्ग में उसी में अपना चित्त लगाकर धीरे-धीरे अपने चरण रखते हुए शरीर को संकुचित कर अगल-बगल से दृष्टि हटाकर केवल आगे की चार हाथ जमीन पर अपनी दृष्टि डालते हुए चलते हैं, यदि किसी दूसरी ओर या सामने भी अधिक दूर तक देखने की आवश्यकता होती है तो खड़े होकर देखते हैं। उनके इस प्रकार चलने में पृथ्वी आदि का कोई आरम्भ नहीं होता इसलिये उसे ईर्या समिति कहते हैं। हितमित और संदेह रहित वचनों को भाषा समिति कहते हैं। मोक्ष पद की प्राप्ति रूप जो प्रधान या मुख्य फल मिलता है उसको हित कहते हैं। वह दो प्रकार का है—एक अपना हित करना और दूसरा अन्य लोगों का हित करना। अनर्थक वचन न कहना तथा बहुत सा बकवाद न करना हित है। जिसका अर्थ स्पष्ट हो, अक्षर साफ हो और किसी तरह का संदेह न हो वह संदेह

तस्याः प्रपंचो मिथ्याभिधानासूयाप्रियसंभेदाल्पसारशंकितभ्रांतसकषायपरिहासयुक्तासभ्यशपननिष्ठुरधर्मविरोधिदेशकालविरोध्यतिसंस्तवादिवाग्दोषविरहिताभिधानं। अनगारस्य मोक्षैकप्रयोजनस्य प्राणिदयातत्परस्य कायस्थित्यर्थं प्राणयात्रानिमित्तं तपोवृन्हणार्थं च चर्यानिमित्तं पर्यटतः शीलगुणसंयमादिकं संरक्षतः संसारशरीरभोगनिर्वेदमयं भावयतो दृष्टवस्तुयाथात्म्यस्वरूपं चिन्तयतो देशकालसारथ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरण नवकोटिपरिशुद्धमेषणसमितिः। षट्जीवनिकायस्योपद्रव उपद्रवणं, अगच्छेदनादिव्यापारो विद्रावणं, संतापजननं परितापनं, प्राणिप्राणव्यपरो-

---

रहित कहलाता है। मिथ्या वचन कहना; किसी को ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले या अप्रिय (बुरे) लगने वाले वचन कहना; किसी के चित्त में अन्तर डालने वाले, जिनका सार बहुत संक्षेप से कहा गया है, जिनके सुनने से शंका उत्पन्न हो जाय, भ्रम उत्पन्न हो जाय ऐसे वचन कहना; कषाय और हंसी मिले हुए वचन कहना; असभ्य सौगंध और कठोरता से वचन कहना; धर्म विरोधी, देश विरोधी और काल विरोधी वचन कहना तथा किसी की अधिक स्तुति करना आदि दोषों से रहित वचन कहना भाषा समिति का विस्तार है। मोक्ष प्राप्त करना ही जिनका एक मुख्य प्रयोजन है; जो प्राणों की दया करने में सदा तत्पर रहते हैं; शरीर की स्थिति के लिये या प्राणियों की यात्रा के लिये अथवा तपश्चरण की वृद्धि के लिये; चर्या के लिये (आहार के लिये) जो विहार करते हैं शील, गुण और संयमादि की रक्षा करते रहते हैं; संसार, शरीर और भोग इन तीनों से उत्पन्न हुए वैराग्य का सदा चिंतवन करते रहते हैं और जो देखे हुए पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते रहते हैं ऐसे परिग्रहरहित मुनि देश, काल आदि की सामग्री सहित तथा नौ करोड़ विशुद्धियों सहित जो निर्दोष आहार ग्रहण करते हैं उसको एषणा समिति कहते हैं। षट्काय के (छह प्रकार के) जीव समूहों के लिये उपद्रव होना उपद्रवण है, जीवों के अंगछेद आदि व्यापारको विद्रावण कहते हैं, जीवों को संताप (मानसिक या अंतरंग पीड़ा) उत्पन्न होने को परितापन कहते हैं, प्राणियों के प्राण नाश होने को आरम्भ कहते हैं। इस प्रकार उपद्रवण, विद्रावण, परितापन, आरम्भ क्रियाओं के द्वारा जो आहार तैयार किया गया हो, जो अपने

पणमारंभः, एवमुपद्रवणविद्रावणपरितापनारम्भक्रियया निष्पन्नमन्नं स्वेन कृतं परेण कारितं वाऽनुमनितं वाऽधःकर्म (जनितं) तत्सेविनोऽनशनादितपांस्यभ्रावकाशादियोगा वीरासनादियोगविशेषाश्च भिन्नभाजनभरितामृतवत्प्रक्षरन्ति, ततश्च तदभक्ष्यमिव परिहरतो भिक्षोः परकुलप्रशस्तप्रासुकाऽऽहारग्रहणेपि षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति । तद्यथा—षोडशविधाउद्गमदोषाः, षोडशविधा उत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः संयोजनाप्रमाणांगारधूमदोषाश्चत्वारः, एतैर्दोषैः परिवर्जितमाहारग्रहणमेषणासमितिरिति ।

तथा चोक्तमपरग्रंथे—

अद्धाकम्मुद्देसिय अज्झोवज्झेय पूदि मिस्सेय । ठविदे बलि पाहुडिय पादुक्कारेय कीदेय ।

पामिच्छे परियट्टे अभिहडमुब्भिन्न मालमारोहे । अच्छिज्जे अणिसिट्ठे उग्गमदोसो दु सोलसमो ।।

हाथ से किया है, दूसरे से कराया हो अथवा करते हुए की अनुमोदना की हो अथवा जो नीच कर्मों से नीच कर्मों के द्वारा की गई कमाई) बनाया गया हो ऐसे आहार को ग्रहण करने वाले मुनियों के उपवास आदि तपश्चरण, अभ्रावकाश आदि योग और विरासन आदि विशेष योग सब फूटे बर्तन में भरे हुए अमृत के समान निकल जाते हैं—नष्ट हो जाते हैं । इसलिये मुनिराज ऐसे आहार को अभक्ष्य के समान त्याग कर देते हैं और दूसरे के द्वारा किया हुआ प्रशस्त (निर्दोष) और प्रासुक आहार ग्रहण करते हैं । इस प्रकार प्रासुक और निर्दोष आहार ग्रहण करते हुए भी उनके छियालीस दोष होते हैं—सोलह प्रकार के उद्गम दोष, सोलह प्रकार के उत्पादन दोष, दस प्रकार के एषण दोष और संयोजन, अप्रमाण, अंगार तथा धूम चार ये दोष इस प्रकार छियालीस दोष होते हैं । इन सब दोषों को टालकर आहार ग्रहण करना एषण समिति है । यही बात किसी दूसरे ग्रंथ में लिखी है । यथा—अद्धा कम्मुद्देसिय इत्यादि ।

इन गाथाओं में सोलह उद्गम दोष बतलाये हैं, जिन्हें टाल कर मुनि आहार लेते हैं । इनके सिवाय एक अधः कर्म दोष बतलाया है, जो छियालीस दोषों से बाहर है और सबसे बड़ा है । आगे उन्हीं को अनुक्रम बतलाते हैं—जिस आहार के तैयार करने में गृहस्थ के आश्रय रहने वाले पांचों पाप (चक्की, उखली, चूल, बुहारी और पानी में त्रस जीवों की

आधाकर्म्मं गृहस्थाश्रितं पंचशूनोपेत निकृष्टव्यापारं षट्जीवनिकायवधकरं षट्चत्वारिंश-द्दोषबाह्यं उद्देसिय उद्दिश्य देयं । अज्झोवज्झेय यतिं दृष्ट्वाऽधिकपाकप्रवृत्तिः । पूदि अप्रासुकमिश्रिताहारः । मिस्सेय असंयतैः सह भोजनं । ट्ठविदे पाकभाजनादन्यत्र निक्षिप्तं । बलि यक्षादिदत्तनैवेद्यशेषं पाहुडिय काल परावृत्य दत्तं । पादुकारेय संक्रमणप्रकाशनरूपं । कीदेय क्रीत्वा नीतं । पामिच्छे उद्धारानीतं । परियट्टे परावृत्याऽऽनीतं । अभिहडं देशान्तरागतवस्तु । उब्भिण्ण उद्भिन्नं बंधनापनयनं । मालारोहण मालामरुह्य दत्तं । अच्छिज्जे भीत्वा दत्तं । अणिसिट्ठे निःश्रेण्यादिकमवरुह्य दत्तं । एते षोडशोभद्गमदोषाः भवन्ति ।

हिंसा) स्वयं करने पड़े हों, अथवा निकृष्ट व्यापार किया गया हो या छहों प्रकार के जीवों के समूह की हिंसा की गई हो ऐसे आहार को ग्रहण करना अधः कर्म दोष है। यह दोष छियालीस दोषों से अलग है। खास मुनि के लिये तैयार किया हुआ भोजन देना उद्दिष्ट दोष है। मुनि को देखकर अधिक भोजन बनाना अध्यवधि दोष है। प्रासुक आहार में अप्रासुक वस्तु मिला देना अथवा अप्रासुक मिला हुआ आहार देना पूति दोष है। असंयमियों के साथ ही मुनियों को आहार देना मिश्र दोष है। पकने के बर्तन से निकालकर किसी दूसरी जगह रख देना और फिर वहां से मुनियों को देना स्थापित दोष है। यक्ष आदि के लिये चढ़ाये हुए नैवेद्य में से जो बाकी बच रहा है उसे मुनियों को देना बलि नाम का दोष है। नियम किये हुये समय को बदलकर दूसरे समय में भोजन देना प्राभृत दोष है। भोजन के पात्रों को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान में ले आकर भोजन देना प्रादुष्कार दोष है। खरीद कर लाया हुआ भोजन देना क्रीत दोष है। उधार मांगकर लाया हुआ भोजन देना प्रामृष्य (या ऋण) दोष है। किसी एक भोजन के बदले दूसरा भोजन लाकर देना परावर्तित दोष है। किसी दूसरे देश से लाया हुआ भोजन देना अभिहृत दोष है। उघाड़ कर अथवा उघाड़ा हुआ भोजन देना उद्भिन्न दोष है। साधुओं को सीढ़ी चढ़ाकर भोजन देना मालारोहण दोष है। किसी से डरकर आहार देना अच्छेद्य दोष है। साधुओं को सीढ़ी द्वारा नीची जमीन पर उतारकर भोजन देना अनिसृष्ट दोष है। इस प्रकार ये सोलह उद्गम दोष कहलाते हैं।

धादीदूदनिमित्ते आजीवे वणिवगे तहेव तिगिंच्छे। कोधी माणी मायी लोभी य हवंति दस एदे ॥
पुव्वो पच्छा सथुदि विज्जा मंतेय चुण्णजोगेय। उप्पादणा य दोसा सोलसमे मूलकम्मे य ॥

धादी धायिका। दूद लेखादिनेता। निमित्तं निमितशास्त्रं। आजीवो जीविका। वणिवगे दातुरनुकूलवचनं। तिगिंछे वैद्यकशास्त्र। क्रोधी। मानी। मायावी। लोभी। पुव्वी दानग्रहणात्पूर्व-स्तुतिः। पच्छा दानं गृहीत्वा पश्चात्स्तवन। विज्जा आकाशगमनादि। मंतेय मन्त्रसर्पादिविषापहारः। चुण्णजोगेय तनुसंस्कारहेतुसुगन्धिद्रव्यरजः। मूलकम्मेय वशीकरणं। एते षोडशोत्पादनदोषा भवन्ति।

कोई साधु किसी के यहां जाकर बच्चों के संभालने आदि का उपदेश देकर आहार ग्रहण करे तो उसका वह धात्री दोष गिना जाता है। यदि कोई साधु किसी दूसरे गांव से किसी के सम्बन्धी के समाचार सुनावे या पत्रादि लाकर दे और फिर भोजन करे तो दूत नाम का दोष है। निमित्तों के द्वारा कुछ अगला-पिछला हाल बतलाकर आहार करे तो निमित्त दोष है। अपनी जीविका की उत्तमता बतलाकर आहार करना आजीवक दोष है। दाता के अनुकूल वचन कहकर आहार लेना वनीपक दोष है। वैद्यक शास्त्र के अनुसार चिकित्सा का उपदेश देकर आहार लेना चिकित्सा दोष है। क्रोध दिलाकर आहार उत्पन्न कराना क्रोध दोष है। अभिमान दिखलाकर आहार उत्पन्न कराना मान दोष है। माया या छल-कपट कर आहार उत्पन्न कराना माया दोष है और लोभ दिखलाकर आहार उत्पन्न कराना लोभ दोष है। आहार ग्रहण करने के पहिले उसकी स्तुति करना पूर्व स्तुति दोष है। आहार ग्रहण करने के पीछे स्तुति करना पश्चात्स्तुति दोष है। आकाश-गमन आदि की विद्या देकर आहार उत्पन्न कराना विद्या दोष है। सर्प आदि के विष के दूर करने का मन्त्र देकर आहार उत्पन्न कराना मन्त्रोत्पादन दोष है। शरीर के संस्कार के कारण ऐसे सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण का उपदेश देकर आहार उत्पन्न कराना चूर्णयोग या चूर्णोत्पादन दोष है। वशीकरण का उपदेश देकर आहार उत्पन्न कराना मूलकर्म दोष है। ये सोलह उत्पादन दोष कहलाते हैं।

संकिद सन्दिह्यमानं । मक्खिद तैलाद्यभ्यक्तं । णिक्खित्त अप्रासुकोपस्थापितं । पिहिय सचित्तादिपरिस्थापितं । साहारणा झटिति ग्रहणं । दायग सदोषदाता । उम्मिस्से अप्रासुकमिश्रं । अपरिणद अविध्वस्तं । लित्ता खटिकादिलिप्तं । छोडिद त्यक्त्वाऽऽदिभोजनं । एते दशैषणादोषाः ।

संयोयणा स्वादनिमित्तं शीतोष्णभक्तपानादिमिश्रणं । अप्पमाणं मात्राधिक्यं । इंगाल सगृद्धि-भोजनं धूम निंदयन् भुंक्ते । एतेऽप्येषणादोषा भवन्ति ।

एतैर्षट्चत्वारिंशद्दोषैः परिवर्जितैषणासमितिर्भवति ।

जिस भोजन में किसी तरह का सन्देह उत्पन्न हो जाये उसको ग्रहण करना शंकित दोष है। यदि दाता के हाथ-पैर या बर्तनों में तेल-घी आदि का चिकनापन लगा हो तो मृक्षित दोष है। अप्रासुक के ऊपर रखे हुए आहार को ग्रहण करना निक्षिप्त दोष है। सचित्त से ढके हुए आहार को ग्रहण करना पीहित दोष है। यदि दाता बर्तन, वस्त्र आदि को शीघ्रता के साथ खींच ले और तो भी साधु आहार ग्रहण करे तो साधारण दोष है। यदि दाता में कोई दोष हो और फिर भी साधु आहार ग्रहण कर ले तो दायक दोष है। अप्रासुक मिला हुआ आहार ग्रहण करना उन्मिश्र दोष है। जिस जल आदिक में कोई परिणमन न हुआ हो, अविध्वस्त हो उसे ग्रहण करना अपरिणत दोष है। यदि हाथ या बर्तन में खड़ी आदि अप्रासुक पदार्थ लगा हो और उसी से दिया हुआ आहार ग्रहण करे तो लिप्त दोष है। छोड़ा व गेरा हुआ आहार ग्रहण करना परित्यक्त दोष है। ये दस आहार के दोष कहलाते हैं।

अपने स्वाद के लिये ठंडा और गर्म अन्न, पानी आदि मिलाना संयोजना दोष है। मात्रा से अधिक आहार लेना अप्रमाण दोष है। अत्यन्त लंपटता के साथ आहार ग्रहण करना अंगार दोष है। भोजन की निन्दा करते हुए आहार ग्रहण करना धूम्र दोष है। ये चार भी एषणा या आहार के दोष हैं। इन ऊपर कहे हुए छयालीस दोषों से रहित एषणा समिति होती है।

नैःसंगिकीं चर्यामातिष्ठमानस्य पात्रग्रहणे सति तत्संरक्षणादिकृतो दोषः प्रसज्यते । कपालमन्यद्वा भाजनमादाय पर्यटतो भिक्षोर्दैन्यमासज्यते । गृहिजनानीतमपि भाजन न सर्वत्र सुलभ तत्प्रक्षालनादिविधौ च दुःपरिहारः पापलेपः । स्वभाजनेन देशान्तरं नीत्वा भोजने चाशानुबन्धन स्यात् स्वपूर्वविशिष्टभाजमाधिकगुणासभवाच्च, न केनचिद् भुंजानस्य दैन्यं स्यात् । ततो निःसगस्य निष्परिग्रहस्य भिक्षोः स्वकरपुटभाजनान्नान्यद्विशिष्टमस्तिस्तस्मात्स्वायत्तेन पाणिपुटेन निराबाधे देशे निरालबचतुरंगुलान्तरसमपादाभ्यां स्थित्वा परीक्ष्य भुजानस्य निभृतस्य तद्गनतदोषाभावः । धर्माविरोधिनां परानु-

---

जिस मुनि ने सब तरह के परिग्रहों का त्याग कर दिया है और निःसंग अवस्था धारण की है वह यदि भोजन के लिये पात्र (बर्तन) रखे तो उसकी रक्षा करना आदि अनेक दोष आते हैं । यदि वह मुनि कपाल या अन्य कोई बर्तन लेकर भिक्षा के लिये फिरेगा तो उसमें दीनता का दोष आवेगा । कदाचित् यह कहा जाय कि भोजन के समय गृहस्थ लोग कोई भी बर्तन लाकर दे दें उसमें उसे भोजन कर लेना चाहिये सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार सब जगह बर्तन नहीं मिल सकते, दूसरे उसका मांजने-धोने आदि में पाप लगेगा ही और उस पाप को वह किसी भी तरह बचा नहीं सकेगा । यदि वह अपना बर्तन लेकर किसी दूसरे देश में जाएगा तो उसको भोजन में आशा लगी ही रहेगी तथा अपने पहिले के विशेष बर्तन में अधिक गुण की संभावना होने से मोह उत्पन्न होता ही रहेगा ।

यदि किसी के यहाँ आहार का योग न मिला तो उसे दीनता धारण करनी पड़ेगी इसलिये जो मुनि संग और परिग्रहरहित है उसको अपने पाणिपुट (करपात्र—दोनों हाथों की हथेली) रूप बर्तन के सिवाय और किसी बर्तन में भोजन नहीं करना चाहिये । अतएव जो मुनि अपने स्वाधीन ऐसे करपात्र में ही भोजन करते हैं तथा जिसमें कोई किसी तरह की बाधा न आवे ऐसे स्थान या देश में ही भोजन करते हैं, बिना किसी के सहारे दोनों पैरों में चार अंगुल का अंतर रखते हुए खड़े होकर तथा परीक्षाकर आहार लेते हैं उन्हीं के आहार सम्बन्धी दोषों का अभाव हो सकता है । इस प्रकार निर्दोष आहार लेना एषणा

पराधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादाननिक्षेपणसमितिः। स्थावराणां जंगमानां च जीवानामविरोधेनांगमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनमुत्सर्गसमितिः। एवं गमनभाषणाभ्यवहरणग्रहणनिक्षेपोत्सर्गलक्षणपंचसमितिविधानेऽप्रमत्तानां। तत्प्रणालिकाप्रसृतकर्माऽभावान्निभृतानां संवरः सिद्ध्यति।

एवमीर्यासमित्यादिषु वर्तमानस्य मुनेस्तत्प्रतिपालनार्थं प्राणेन्द्रियपरिहारोऽपहृतसंयमः। एकेंद्रियादिप्राणिपीडापरिहारः प्राणसंयमः। इन्द्रियादिष्वर्थेषु रागानभिष्वंग इन्द्रियसंयमः। स चाप-

---

समिति है। जो पदार्थ धर्म के विरोधी नहीं हैं, जिनके उठाने रखनेमें किसी को रोक-टोक नहीं है और जो ज्ञान चारित्र आदि के साधन हैं ऐसे शास्त्र, कमंडलु आदि पदार्थों को देखकर तथा शोध कर उठाना-रखना और अपनी सब प्रवृत्ति ऐसी ही करना जिसमें जीव को बाधा न हो सके, उसको आदान निक्षेपण समिति कहते हैं, जिसमें स्थावर और जंगम (त्रस) जीवों को किसी तरह का विरोध न आवे, किसी को बाधा न आवे, इस प्रकार अपने शरीर के मल-मूत्र दूर करना अथवा अपने शरीर की स्थापना करना (बैठना-उठना) उत्सर्ग समिति है। इस प्रकार गमन (ईर्या समिति), भाषण (भाषा समिति), अभ्यवहरण (एषणा समिति), ग्रहण-निक्षेप (आदान निक्षेपण) और उत्सर्ग—ये पांच समितियां हैं। इन पांचों समितियों के पालन करने में अप्रमत्त मुनियों के मन, वचन, काय इन तीनों योगों के द्वारा कर्म नहीं आते, इसलिये उन मुनियों को सहज ही संवर हो जाता है।

इस प्रकार ईर्या आदि समितियों को पालन करने वाले मुनियों को उन समितियों की रक्षा करने के लिये प्राणि-परिहार और इन्द्रिय-परिहार नाम का अपहृत संयम धारण करना चाहिये। एकेन्द्रिय आदि जीवों की पीड़ा दूर करना, उनको पीड़ा देने का त्याग करना प्राण-संयम है तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों में राग नहीं करना इन्द्रिय-संयम है। इस प्रकार का यह अपहृत-संयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन तरह का है। जो मुनि वसतिका और आहार इन दोनों बाह्य साधनों को प्रासुक ग्रहण करते हैं तथा

हृतसंयमस्त्रिविधः, उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति । तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रबाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयतः उत्कृष्टः । मृदुना प्रमृज्य जन्तून्परिहरतो मध्यमः । उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः ।

तस्यापहृतसंयमस्य प्रतिपालनार्थं शुद्ध्यष्टकोपदेशः । तद्यथा—अष्टौ शुद्धयः । भावशुद्धिः, कायशुद्धि, विनयशुद्धिः ईर्यापथशुद्धिः, भिक्षाशुद्धिः, प्रतिष्ठापनाशुद्धिः, शयनासनशुद्धिः, वाक्यशुद्धिश्चेति । तत्र भावशुद्धिः कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता, तस्यां सत्यामाचारः प्रकाशते परिशुद्धभित्तिगतचित्रकर्मवत् ।

स्वाधीन या पराधीन दोनों प्रकार के ज्ञान चारित्र का पालन करते हैं, ऐसे मुनि बाहर के छोटे-बड़े कीड़े-मकोड़े आदि जीवों के मिलने पर उस देश या स्थान से अपने आत्मा को हटाकर (अपने आप हटकर) उन जीवों की रक्षा करते हैं, उसको उत्कृष्ट सयम कहते हैं तथा जो मुनि ऐसे जीवों के मिलने पर पीछी आदि कोमल उपकरण से देख शोधकर उन जीवों को हटा देते हैं, वह मध्यम संयम है और जो कोमल उपकरण के सिवाय किसी भी अन्य उपकरण से उन जीवों को हटाने की इच्छा करते हैं, उसे जघन्य संयम कहते हैं ।

उस अपहृत संयम को पालन करने के लिये, उसकी रक्षा करने के लिये आठ शुद्धियों का उपदेश दिया गया है । आगे उन्हीं शुद्धियों को बतलाते हैं—भव-शुद्धि, काय-शुद्धि, विनय-शुद्धि, ईर्यापथ-शुद्धि, भिक्षा-शुद्धि, प्रतिष्ठापना-शुद्धि, शयनासन-शुद्धि और वाक्य-शुद्धि ये आठ शुद्धियां हैं ।

कर्मों के क्षयोपशम होने के कारण जो मोक्ष मार्ग में रुचि या श्रद्धा होती है और उस श्रद्धा के कारण जो आत्मा में प्रसन्नता या स्वच्छता, निर्मलता होती है जो कि राग-द्वेष आदि सब उपद्रवों से रहित होती है, उसको भाव-शुद्धि कहते हैं । जिस प्रकार दीवार शुद्ध होने से ही उस पर बनाया हुआ चित्र प्रकाशित होता है, उसी प्रकार उस भाव-शुद्धि के होने से ही आचार या चारित्र प्रकाशित होता है । जिसके शरीर पर कोई आवरण या वस्त्रादिक नहीं है, जिसके सब संस्कार त्याग दिये गये हैं, जिसके अंगों के विकार छोड़

कायशुद्धिर्निरावरणा निरस्तसंस्कारा यथाजातमलधारिणी निराकृतांगविकारा सर्वत्र प्रयत्नवृत्तिः प्रशममूर्तिमिव प्रदर्शयन्ती तस्यां सत्या न स्वतोऽन्यस्य भयमुपजायते नाप्यन्यतः स्वस्य। विनयशुद्धिरर्हदादिपरमगुरुषु यथाऽर्हपूजाप्रवणा ज्ञानादिषु च यथाविधिभक्तियुक्ता गुरोः सर्वत्रानुकूलवृत्तिः प्रश्नस्वाध्यायवाचनाकथाविज्ञापनादिषु प्रतिपत्तिकुशला देशकालभावावबोधनिपुणाऽऽचार्यानुमतचारिणी तन्मूलाः सर्वसंपदः सैव भूषा पुरुषस्य सैव नौः संसारसमुद्रोत्तरणे। ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्थानां योनीनामाश्रयाणामेव बोधाज्जनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडाज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुतविलम्बितसंभ्रांतविस्मितलीलाविकारदिगवलोकनादिदोषविरहितगमना तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ। भिक्षाशुद्धिः परीक्षितोभयप्रचारा प्रमृष्टपूर्वापर-

---

दिये गये हैं, जिसकी प्रवृत्ति सब जगह बड़े प्रयत्न से की जाती है, जो शान्त मूर्ति के समान दिखाई पड़ता है और जो उत्पन्न हुए के समान है, ऐसे शरीर को धारण करना काय-शुद्धि है। ऐसी काय-शुद्धि के होने पर न तो अपने से किसी दूसरे को भय होता है और न किसी दूसरे से अपने को भय होता है। अरहंत आदि पांचों परमेष्ठियों की यथायोग्य पूजा और विनय करना, ज्ञानादिक की विनय करना अर्थात् विधि और भक्तिपूर्वक सब कार्यों में सब जगह गुरु के अनुकूल प्रवृत्ति रखना, प्रश्न, स्वाध्याय, वाचना और कथा कहना आदि कार्यों के करने में कुशलता रखना, देश का ज्ञान, समय का ज्ञान और भाव के ज्ञान में निपुणता रखना तथा सदा आचार्य की आज्ञानुसार चलना विनय-शुद्धि है। यह विनय-शुद्धि ही सब तरह की संपदाओं की मूल कारण है, यही पुरुष के लिये आभूषण है और यही संसाररूपी महासागर से पार कर देने के लिये नाव है।

अनेक प्रकार के जीवों के स्थान, जीवों की योनियों और जीवों के आधारभूत आश्रयों का ज्ञान होने से, जिसमें जीवों की पीड़ा दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है और ज्ञान, सूर्य तथा अपनी इन्द्रियों के प्रकाश से सब जगह देखकर गमन किया जाता है तथा जल्दी, धीरे, संभ्रम करना, आश्चर्य करना, लीला, विकार और दिशाओं का अवलोकन आदि दोषों से रहित जो गमन किया जाता है उसको ईर्यापथ-शुद्धि कहते हैं। जिस प्रकार

स्वांगदेशविधानाऽऽचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला लाभालाभमानावमानसमानमनोवृत्तिः गीतनृत्तप्रसूतिकामृतकसुरापण्यांगनापापकर्मदीनानाथदानशालायज्ञविवाहादिमंगलगेहपरिवर्जनपरा चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहविशिष्टोपस्थाना लोकगर्हितकुलपरिवर्जनोपलक्षिता दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाऽऽहारगवेषणाप्रणिधानाऽऽगमविहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला तत्प्रतिबद्धा हि चरणसंपद्गुणा संपदिव साधुजनसेवानिबंधना सा लाभालाभयोःसरसविरसयोश्च समसन्तोषवद्भिर्भिक्षेति

सुनीतिपूर्वक चलने में विभव ठहरता है उसी प्रकार ईर्यापथ-शुद्धि के रहते हुए ही संयम ठहरता है। आगे भिक्षा-शुद्धि कहते हैं जिसमें बाह्य, अन्तरंग दोनों प्रकृतियों की परीक्षा की गई है, जिसमें दाता के शरीर की शुद्धि तथा देश की शुद्धि आदि सब विधियाँ की गई हैं, आचारसूत्रों में कहे हुए काल, देश और प्रकृति के अनुसार जिसमें नवधा भक्ति की कुशलता रखी गई है, भिक्षा के मिलने न मिलने, में तथा मान और अपमान होने में जिसमें अपने मन की प्रकृति समान रखी गई है, जिस भिक्षा में गीत-नृत्य होने वाले घर, जिसमें प्रसूति हुई हो अथवा कोई मर गया हो, जिसमें शराब बेची जाती हो, जो वेश्या का घर हो अथवा जिसमें और कोई पापकर्म होता हो, जो दीन का घर हो, अनाथ का घर हो, जो दानशाला हो, यज्ञादि करने का घर हो अथवा जिसमें विवाह आदि मंगल कार्य हों, ऐसे घर छोड़ दिये जाते हों, चन्द्रमा की गति के समान जिसमें छोटे-बड़े सब घरों में प्रवेश करना पड़ता हो, जो कुल या घर, लोक में निन्दित गिने जाते हैं, वे जिसमें छोड़ दिये जाते हों, जिसमें अपनी दीन वृत्ति न धारण करनी पड़ती हो और उदासीनतापूर्वक प्रासुक आहार ही ढूंढा जाता हो और शास्त्रों में कहे हुए निर्दोष भोजन के द्वारा प्राणों की यात्रा करना ही जिसका फल समझा जाता हो, वह लाभ-अलाभ (भोजन का मिलना, न मिलना इन दोनों में) तथा सरस और विरस (रस सहित या नीरस) में समान सन्तोष रखने वाले मुनियों की भिक्षा कहलाती है। ऐसी भिक्षा से ही चारित्र रूपी संपदा और गुण ठहर सकते हैं और ऐसी भिक्षा ही संपदा के समान साधु लोगों की सेवा करने का कारण होती है। ऐसी भिक्षा की शुद्धि रखना भिक्षा-शुद्धि कहलाती है।

भाष्यते । भिक्षाशुद्धिपरस्य मुनेरशनं पंचविधं भवति, गोचाराक्षम्रक्षणोदराग्निप्रशमनभ्रमराहारश्वभ्रपूरणनामभेदेन । यथा सलीलसालंकारयुवतिभिरुपनीयमानघासे गौर्न तदंगगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरस्तृणमेवाऽत्ति यथा वा तृणोलपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमपेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललिततनुरूपवेषाभिलाषविलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्ष्यमाणो यथाऽऽगतमश्नातीति गोरिव चारो 'गोचार' इति व्यपदिश्यते तथा गवेषणेति च । यथा शकटीं रत्नभारपूर्णां येन केनचित्स्नेहेनाक्षिलेपं कृत्वाऽभिलषितदेशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटीमनवद्यभिक्षाऽऽयुरक्षम्रक्षणेनाभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीति 'अक्षम्रक्षण' मिति

भिक्षा-शुद्धि में सदा तत्पर रहने वाले मुनियों का आहार पांच प्रकार का है और गोचार अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रमराहार, श्वभ्र पूरण—ये उसके नाम हैं । जिस प्रकार गाय को यदि कोई युवती लीलापूर्वक आभूषण पहिनकर घास डालने को आवे तो भी गाय उस युवती की सुन्दरता नहीं देखती, किन्तु घास खाने पर ही अपना लक्ष्य रखती है तथा जिस प्रकार वह गाय अनेक देश की घास, लता आदि को खाती है और जैसी मिलती है, जितनी मिलती है, उसे ही खाती है, वह किस तरह डाली गई है, किसने डाली है आदि बातों पर कुछ ध्यान नहीं रखती, उसी प्रकार वह मुनि भी भिक्षा देने वाले पुरुषों की कोमलता, सुन्दरता, सुन्दरता के अनुसार वेष और अभिलाषा आदि के देखने में कभी इच्छा नहीं रखते और न सूखा, पतला आहार आदि की विशेष योजना को देखते हैं और जो सामने आ जाता है, उसे ही खा लेते हैं, इसलिये गाय के समान चरने को, भोजन करने को गोचार कहते हैं । मुनि लोग गोचार के समान ही आहार ढूंढा करते हैं । जिस प्रकार कोई वैश्य रत्नों से भरी हुई गाड़ी को घी, तेल आदि किसी तरह की चिकनाहट लगाकर धुरी, पहियों को ठीक कर अपने ले जाने योग्य स्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी गुण रूपी रत्नों से भरी हुई इस शरीर रूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षा रूपी चिकनाहट लगाकर आयुरूपी धुरी, पहियों को ठीक कर अपने पहुँचने योग्य समाधि रूपी नगर में पहुँचाते हैं, उसको अक्षम्रक्षण कहते हैं । यह रूढ़ी से रखा हुआ नाम है । जिस प्रकार किसी भंडागार में (कोठार में) आग लग जाये तो गृहस्थ उसे पवित्र जल से अथवा

च नाम रूढं। यथा भांडागारे समुत्थितमनलं शुचिनाऽशुचिना वा वारिणा प्रशमयति गृही तथा यथा-लब्धेन यतिरप्युदराग्निं सरसेन विरसेन वाऽऽहारेण प्रशमयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृ-जनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्कृतवारेण श्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति श्वभ्रपूरणमिति च निगद्यते। प्रतिष्ठापनशुद्धिपरः संयतो नखरोमसिंघाणकनिष्ठीवनशुक्रोच्चारप्रस्रवणशोधने देहपरित्यागे च विदितदेशकालो जंतूपरो-धमंतरेण यत्नं कुर्यात्प्रयतते। संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौंडशाकुनिकादिपापज-नावासा वर्ज्याः श्रृंगारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्तवादित्राकुलप्रदेशा विकृतांगगुह्य-दर्शनकाष्ठमयालेख्यहास्योपभोगमहोत्सववाहनदमनायुधव्यायामभूमयश्च रागकारणानीन्द्रियगोचरा

अपवित्र जल से बुझाता है, उसी प्रकार मुनिराज भी सरस अथवा नीरस जैसा कुछ आहार मिल जाता है उसी से अपने पेट की अग्नि को शांत कर लेते हैं। इसको उदराग्नि प्रशमन कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर किसी भी फूल को बाधा न देता हुआ रस ग्रहण करता है, उसी प्रकार मुनिराज भी किसी भी दाता को बाधा न पहुंचाते हुए आहार ग्रहण करते हैं, इसलिये उनके आहार को भ्रमराहार कहते हैं। जिस प्रकार किसी गड्ढे को अच्छी-बुरी मिट्टी से भरकर पूरा कर देते हैं, उसी प्रकार मुनिराज भी स्वादिष्ट अथवा बेस्वाद किसी तरह के भी आहार से अपने पेट रूपी गड्ढे को भर लेते हैं, उसको श्वभ्रपूरण कहते हैं। इस प्रकार भिक्षा-शुद्धि निरूपण की। इसी प्रकार प्रतिष्ठापन-शुद्धि में तत्पर रहने वाले मुनियों को अपने नाखून, केश, नाक का मल, थूक, वीर्य, मल, मूत्र आदि के शुद्ध करने में अथवा शरीर का परित्याग करने में देश और काल दोनों को अच्छी तरह समझकर जीवों को किसी तरह की रुकावट किये बिना ही प्रयत्न करते हुए अपना बर्ताव करना चाहिये तथा शयनासन शुद्धि में तत्पर रहने वाले मुनियों को स्त्रियों का निवास स्थान, क्षुद्रजीव, चोर, जुआरी, मद्य पीने वाले और शकुन बतलाकर अपनी जीविका करने वाले आदि पापी लोगों का निवास स्थान छोड़ देना चाहिये। जहां पर विकृत अंगों के तथा गुह्य चीजों के काठ व रंग के चित्र बने हों, जो हंसी करने की, भोगोपभोग सेवन करने की, कोई बड़ा उत्सव करने की, सवारी के घोड़ा आदि जानवरों के दमन करने की, शस्त्र

मदमानशोककोपसंक्लेशस्थानादयश्च परिहर्त्तव्याः, अकृत्रिमा गिरीगुहातरुकोटरादयः कृत्रिमाश्च शून्यागारादयो मुक्तमोचितावासा अनात्मोद्देशनिर्वर्तिता निरारंभाः सेव्याः। तत्र संयतस्य त्रिविधो निवासः, स्थानमासनं शयनं चेति। पादौ चतुरांगुलान्तरे प्रस्थाप्याऽधस्तिर्यगूर्ध्वाऽन्यतममुखो भूत्वा यत्राऽऽत्मभावो यथात्मबलवीर्यसदृशः कर्मक्षयप्रयोजनोऽसंक्लिष्टमतिस्तिष्ठेत्, अथ न शक्नुयान्निष्प्रतिज्ञातः पर्यंकादिभिरासनैरासीत, यद्यपरिमितकालयोगः खिन्नो वैकपार्श्वबाहूपधानसंवृतांगादिभिरल्पकालं श्रमपरिहारार्थं शयीत। वाक्यशुद्धिः पृथिवीकायिकाद्यारंभप्रेरणरहिता युद्धकामकर्कशसभिन्ना

रखने की ओर व्यायाम करने की जगह हो, जहां पर इन्द्रियों से दिखाई न देने वाले भी राग उत्पन्न करने वाले साधन हों तथा जो मद, अभिमान, शोक, कोप और संक्लेश के स्थान हों, वे सब छोड़ देने चाहियें। जो अपने निमित्त से नहीं बनाये गये हैं और जिनके बनने-बनाने में अपनी ओर से किसी तरह का आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे स्वाभाविक रीति से (अकृत्रिम) बने हुए पर्वत की गुफायें या वृक्षों के कोटर आदि तथा बनवाये हुए सूने मकान (वसतिका) आदि अथवा जिनमें निवास करना छोड़ दिया गया है अथवा छुड़ा दिया गया है, ऐसे मोचितावास आदि स्थानों में रहना चाहिये। मुनियों का निवास तीन प्रकार का होता है: स्थान-खड़े होना, आसन-बैठना और शयन-सोना। मुनियों को दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर ऊपर की ओर मुंह करके, नीचे की ओर मुंह करके, किसी एक ओर मुंह करके अथवा इच्छानुसार जहां अपने आत्मा के परिणाम लगते हों, उधर चाहे जिधर को मुंह करके बिना किसी तरह के संक्लेश परिणामों के इस प्रकार खड़े होना चाहिये जिसमें अपने आत्मा के बल और वीर्य के समान कर्मों का क्षय बराबर होता रहे। यदि इस प्रकार खड़े होने की शक्ति न रहे अथवा ऐसी शक्ति न हो तो बिना किसी प्रतिज्ञा के पर्यंक आदि में से कोई सा भी आसन लगाकर बैठ जाना चाहिये। यदि समय परिमित न हो तो किसी एक करवट से अपनी बाहों का तकिया लगाकर शरीर को संकुचित कर समेट कर केवल परिश्रम दूर करने के लिये थोड़ी देर तक सो लेना चाहिये। यह सब शयनासन-शुद्धि कहलाती है। मुनि लोगों के मुंह से जो वचन निकलते हैं, उनमें पृथ्वी,

लापपैशून्यपरुषनिष्ठुरादिपरपीडाकरप्रयोगनिरुत्सुका स्त्रीभक्तराष्ट्रावनिपालाऽऽश्रितकथाविमुखा व्रतशीलदेशनादिप्रदानफला स्वपरहितमितमधुरमनोहरा परमवैराग्यहेतुभूता परिहृतपरात्मनिन्दाप्रशंसा संयतस्य योग्या तदधिष्ठाना हि सर्वसंपद इति ।

इति शुद्धिप्रकरण ।

अथ संयमभेदाः साक्षान्मोक्षप्राप्तिकारणान्युच्यन्ते । सामायिकं, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धिः, सूक्ष्मसाम्परायः, यथाख्यातचारित्रमिति ।

काय आदि जीवों की हिंसा रूप आरम्भ की प्रेरणा नहीं होती, उनमें युद्ध की प्रेरणा, काम की प्रेरणा नहीं होती व कठोर नहीं होते, दूसरों के गुप्त विषयों को प्रकट करने वाले अथवा निन्दा करने वाले नहीं होते व कठिन, निष्ठुर आदि दूसरे को पीड़ा पहुंचाने वाले नहीं होते। स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा और राज-कथा, इन चारों विकथाओं से रहित होते हैं। व्रत, शीलों का पालन करना-कराना या उपदेश देना ही उन वचनों का मुख्य फल होता है। इनके सिवाय उनके वचन अपने आत्मा का (उन मुनियों का) हित करने वाले होते हैं, अन्य समस्त जीवों का हित करने वाले होते हैं, परिमित होते हैं, मधुर होते हैं, मनोहर होते हैं और परम वैराग्य को उत्पन्न करने वाले होते हैं। उनमें न तो दूसरों की निन्दा होती है और न अपनी प्रशंसा रहती है। इस प्रकार के मुनियों के योग्य ही उनके वचन निकलते हैं, ऐसे ही वचनों का निकलना वाक्य-शुद्धि कही जाती है। ऐसी वाक्य-शुद्धि के होने से समस्त संपदाएं अपने आप प्राप्त हो जाती हैं।

इस प्रकार यह शुद्धियों का प्रकरण समाप्त हुआ।

☼——☼

अब आगे संयम के ऐसे भेदों को कहते हैं जो मोक्ष के साक्षात् कारण हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात चारित्र—ये संयम के साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराने वाले भेद हैं।

तत्र सामायिकमवस्थानं सर्वसावद्ययोगस्याभेदेन प्रत्याख्यानमवलंब्य प्रवृत्तमथवाऽवधृतकाल-मनवधृतकालं सामायिकमित्याख्यायते। त्रसस्थावरजन्तुदेशकालप्रादुर्भावनिरोधाप्रत्यक्षत्वात् प्रमाद-वशादभ्युपगतनिरवद्यक्रियाप्रबंधप्रलोपे सति तदुपात्तस्य कर्मणः सम्यक् प्रतिक्रिया छेदोपस्थापनाऽथवा सावद्यकर्मणो हिंसादिभेदेन विकल्पान्निवृत्तिश्छेदोपस्थापना। प्राणिवधान्निवृत्तिः परिहारस्तेन विशुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रं तत्पुनस्त्रिंशद्वर्षजातस्य सवत्सरपृथक्त्वं तीर्थंकरपादमूलसेविनः प्रत्याख्याननामधेयपूर्वार्णवपारंगतस्य जन्तुनिरोधप्रादुर्भावकालपरिणामजन्मयोनिदेशद्रव्यस्वभाव-

---

समय के अनुसार करने योग्य अवस्थान को सामायिक कहते हैं अर्थात् अभेद रूप से (पूर्ण रूप से) समस्त पाप रूप योगों का त्याग कर उसी के अनुसार (जिसमें किसी तरह का पाप रूप योग न होने पावे) किसी नियत समय तक अथवा अनियत समय तक अपनी प्रवृत्ति रखना सामायिक कहलाता है। त्रस और स्थावर जीवों के देश तथा काल के निरोध होने का प्रत्यक्ष न होने के कारण अथवा उसके प्रकट होने के प्रत्यक्ष न होने के कारण अथवा कोई प्रमाद हो जाने के कारण यदि करने योग्य क्रिया निर्दोष न की गई हो, उसक निर्दोष रीति से करने का प्रयत्न न किया गया हो तो उस की हुई क्रिया की अच्छी तरह प्रतिक्रिया करना—उसको शुद्ध करने का उपाय करना या उस दोष के बदले दंड लेना छेदोपस्थापना है अथवा हिंसा आदि के भेद से सावद्य कर्म (पापसहित योगों द्वारा की हुई क्रियायें) अनेक प्रकार के होते हैं उनको विकल्प रूप से त्याग करना (पूर्ण रूप से त्याग न कर उसके थोड़े या बहुत अंशों का त्याग करना) छेदोपस्थापना है। जिसमें प्राणियों को हिंसा से अलग रहना पड़े (किसी भी तरह प्राणियों की हिंसा न हो सके) उसको परिहार कहते हैं। जिस चारित्र में उस परिहार के द्वारा विशुद्धि रखी जाय उसको परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। जिसकी अवस्था कम से कम तीस वर्ष की हो, जो कम से कम तीन वर्ष या इससे कुछ अधिक समय तक किसी तीर्थंकर के चरण कमलों की सेवा करता रहा हो, चौदह पूर्वों में से प्रत्याख्यान नाम के पूर्व रूप महासागर का पारगंत हो अर्थात् जो ग्यारह अंग और पूर्वों का पाठी हो, जीवों के निरोध होने और प्रकट होने आदि के

विधानज्ञस्य प्रमादरहितस्य महावीर्यस्य परमनिर्जरस्यातिदुष्करचर्यानुष्ठायिनस्तिस्रः सन्ध्या वर्जयित्वा द्विगव्यूतिगामिनः संपद्यते नान्यस्य। सूक्ष्मस्थूलसत्त्ववधपरिहारप्रवृत्तत्वादनुपहतोत्साहस्याखंडितक्रियाविशेषस्य सम्यग्दर्शनज्ञानमहामारुतसंधुक्षितप्रशस्ताध्यवसायाग्निशिखोपश्लिष्टकर्मेन्धनस्य ध्यानविशेषविशिखीकृतकषायविषांकुरस्यापचयाभिमुखस्तोकमोहबीजस्य तत एव परिप्राप्तान्वर्थसूक्ष्मसाम्परायशुद्धसंयतस्य सूक्ष्मसाम्परायचारित्रं। चारित्रमोहस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्चात्मस्वभावावस्थोपेक्षालक्षणमथाख्यातचारित्रं, अथशब्दस्यानन्तरयथार्थवृत्तित्वान्निरवशेषमोहक्षयोपशमाऽनंतर-

---

समय परिणाम, जन्म, योनि, देश, द्रव्य और स्वभाव आदि के विधानों का अच्छा जानकार हो, जो प्रमादों से सर्वथा रहित हो, महावीर्यशाली (महाशक्तिमान) हो, जो कर्मों का परम निर्जरा करने वाला, अत्यन्त कठिन-कठिन तपश्चरणों को करने वाला और सामायिक के तीनों समयों को छोड़कर शेष समय में प्रतिदिन दो कोस गमन करने वाला हो, उसी के यह परिहार विशुद्धि चारित्र होता है। ऐसे मुनि के सिवाय अन्य किसी के यह परिहार विशुद्धि चारित्र नहीं हो सकता। सूक्ष्म और स्थूल जीवों की हिंसा के त्याग करने में सदा प्रवृत्ति या दत्तचित्त होने से जिसका उत्साह बराबर बढ़ता जा रहा है, जो अपनी विशेष क्रियाओं को अखडित रीति से (पूर्ण रीति से) पालन कर रहा है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूपी महावायु के द्वारा फूकी हुई, बढ़ाई हुई या तेज की हुई प्रशंसनीय ध्यान रूपी (शुक्लध्यान रूपी) अग्नि की शिखा में जिसका बहुत सा कर्म रूपी इंधन आ पड़ा हो, जिसने अपने विशेष ध्यान से कषाय रूपी विष का अंकुर नष्ट कर दिया हो, जिसका बचा हुआ थोड़ा सा मोहनीय कर्म का बीज भी अपचय होने के सन्मुख हो, और इसीलिये सूक्ष्म सांपराय ऐसा सार्थक नाम होने से जिसका संयम अत्यन्त शुद्ध है ऐसे मुनि के सूक्ष्म सांपराय नाम का चारित्र होता है। समस्त चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम होने से अथवा क्षय होने से आत्मस्वभाव की अवस्था प्रकट होने रूप अथवा उपेक्षा लक्षण रूप जो चारित्र प्रकट होता है उसे यथाख्यात या चारित्र कहते हैं। अथ शब्द का अनन्तर अर्थ है, इसलिये जो समस्त मोहनीय कर्म के क्षय अथवा उपशम होने के अनन्तर प्रकट हो उसे अथाख्यात कहते हैं

माविर्भवतीत्यथाख्यातं अथवा यथाऽऽत्मस्वभावावस्थितस्तथैवाऽऽख्यातस्वाद्यथाख्यातमिति ।

ततो यथाख्यातचारित्रात्सकलकर्मसमाप्तिर्भवति । सामायिकादीनामानुपूर्व्या वचनमुत्तरोत्तर-गुणप्रकर्षख्यापनार्थम् । तद्यथा– सामायिकछेदोपस्थापनासंयमस्य जघन्यविशुद्धिरल्पा ततः परिहारविशुद्धिचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा ततः सामायिकछेदोप-स्थापनासंयमोत्कृष्टविशुद्धिरनन्तगुणा ततः सूक्ष्मसाम्परायचारित्रस्य जघन्यविशुद्धिरनन्तगुणा तस्यैवोत्कृष्टा विशुद्धिरनन्तगुणा ततो यथाख्यातचारित्रविशुद्धिः संपूर्णा प्रकर्षाप्रकर्षविरहिताऽनन्त-गुणा । एवमेते पञ्च चारित्रोपयोगाः शब्दविषयत्वेन सङ्ख्येयभेदाः । बुद्धयध्यवसानभेदादसंख्येया अर्थादनन्तभेदाश्च भवंति । तदेतच्चारित्रं सर्वास्रवनिरोधकारणत्वात्परमसंवरहेतुरित्यवसेयं ।

अथवा इसका दूसरा नाम यथाख्यात भी है । आत्मा का जैसा स्वभाव है वैसा ही जिसका स्वरूप कहा गया हो उसे यथाख्यात कहते हैं । इसी यथाख्यात चारित्र से समस्त कर्मों का नाश होता है । इन सामायिक आदि पांचों चारित्रों का अनुक्रम उनके उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता दिखलाने के लिये कहा गया है । भावार्थ—सामायिक से छेदोपस्थापना में अधिक गुण हैं, छेदोपस्थापना से परिहार विशुद्धि में अधिक गुण हैं, परिहार विशुद्धि से सूक्ष्म सांपराय में और सूक्ष्म सांपराय से यथाख्यात में अधिक गुण हैं । इसी बात को आगे दिखलाते हैं—सामायिक और छेदोपस्थापना चारित्र की जघन्य विशुद्धि थोड़ी है, उससे परिहार विशुद्धि चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनंत गुनी है तथा परिहार विशुद्धि चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि उसकी जघन्य विशुद्धि से भी अनन्त गुनी है सामायिक छेदोपस्थापना चरित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि परिहार विशुद्धि चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि से भी अनन्त गुनी है । इस सामायिक छेदोपस्थापना की उत्कृष्ट विशुद्धि से भी सूक्ष्म सांपराय चारित्र की जघन्य विशुद्धि अनन्त गुनी है और इसी सूक्ष्म सांपराय चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि उसकी जघन्य विशुद्धि से भी अनन्त गुनी है । इस सूक्ष्म सांपराय चारित्र की उत्कृष्ट विशुद्धि से भी यथाख्यात चारित्र की जघन्य उत्कृष्टरहित संपूर्ण विशुद्धि अनन्त गुनी है । इस प्रकार उपयोग रूप से यह चारित्र पांच प्रकार का है । शब्द

अथ वा व्रतधारणसमितिपालनकषायनिग्रहदंडत्यागेन्द्रियजयः संयमः। तत्र हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरिति पंचधा व्रतं। तत्रेंद्रियकषायनिग्रहमकृत्वा प्रमत्त इव यः प्रवर्त्तते स प्रमत्तः। पंचेन्द्रियमनोवाक्कायबलोच्छ्वासनिःश्वासायुष्काणि प्राणाः। एकेन्द्रियादयः प्राणिनः प्रमत्तपरिणामयोगात्प्राणिप्राणव्यपरोपणं हिंसा। सा च संरंभसमारंभारंभैस्त्रिभिः कायवाङ्मनः कर्मयोगैस्त्रिभिः कृतकारितानुमतैस्त्रिभिः क्रोधादिकषायैश्चतुर्भिर्भिद्यते। तत्र प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादतः प्रयत्नावेशः संरंभः। साध्यायाः क्रियायाः साधनानां समाहारः समारंभः। आदौ क्रमः प्रक्रम आरम्भ इति। औदा-

---

का विषयभूत होने से इसके संख्यात भेद होते हैं, बुद्धि के विषयभूत होने से असंख्यात भेद होते हैं और अर्थ के विषयभूत होने से अनन्त भेद होते हैं। इन पांचों ही प्रकार के चारित्र से सब तरह के आस्रव का निरोध होता है। इसलिये यह सब तरह का चारित्र परम संवर का कारण है, ऐसा समझना चाहिए।

अथवा व्रतों को धारण करना, समितियों का पालन करना, कषायों का निग्रह करना, दण्डों का त्याग करना और इन्द्रियों को जीतना संयम है। हिंसा का त्याग करना, अनृत या झूठ का त्याग करना, चोरी का त्याग करना, अब्रह्म का त्याग करना और परिग्रह का त्याग करना—ये पांच व्रत कहलाते हैं। जो इन्द्रिय और कषायों को निग्रह न करके प्रमत्त के समान अपनी प्रवृत्ति करता है, उसको प्रमत्त कहते हैं। पाँचों इंद्रियाँ मन, वचन, काय ये तीन बल; श्वासोच्छ्वास और आयु–ये दस प्राण कहलाते हैं और इन प्राणों को धारण करने वाले एकेंद्रिय आदि जीव प्राणी कहलाते हैं। अपने प्रमत्त रूप परिणामों के निमित्त से प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण या घात करना हिंसा है और वह संरंभ, समारंभ, आरम्भ इन तीनों के द्वारा मन, वचन, काय की क्रिया रूप तीनों योगों के द्वारा कृत, कारित, अनुमत (करना, कराना और करते को भला मानना) इन तीनों के द्वारा और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों के द्वारा अनेक तरह की हो जाती है। प्रमाद के कारण जीवों की हिंसा करने आदि कार्य करने के लिये प्रयत्न करने का आवेश या इच्छा होना संरंभ है। जिस काम के करने का विचार किया है उसकी कारण सामग्री इकट्ठी करना समारंभ है। सबसे पहिले उस काम को प्रारम्भ करना

रिकशरीरनामकर्मोदयवशात्पुद्गलैश्चीयते इति कायः। वाक् द्विविधा, भाववाक्, द्रव्यवागिति। तत्र भाववाग्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमांगोपांगनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी। तदभावे तद्वृत्त्यभावात्तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावताऽऽत्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी। मनश्च द्विविधं, भावमनो द्रव्यमनश्चेति। तत्र भावमनो लब्ध्युपयोगाभ्यां लक्ष्यते पुद्गलावलंबनत्वात्पौद्गलिकं। द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहकाः पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्था मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकमिति। स्वातन्त्र्यविशिष्टेनात्मना यः प्रादुर्भावितं तत्कृतं। परस्य

आरम्भ है। औदारिक शरीर नाम कर्म के उदय होने के कारण पुद्गलों के द्वारा जो इकट्ठा किया जाय, बनाया जाय उसको काय या शरीर कहते हैं। वाक् अर्थात् वचन दो प्रकार के हैं—एक भाव वचन, दूसरे द्रव्य वचन। वीर्यांतराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम होने से तथा अंगोपांग नाम कर्म के लाभ का निमित्त मिलने से भाववचनों की प्राप्ति होती है, इसलिये भाव वचन भी पौद्गलिक हैं। इतनी पौद्गलिक सामग्री मिले बिना भाव वचन हो नहीं सकते, इसलिये भी भाव वचन पौद्गलिक हैं। उस भाव वचन की सामर्थ्य प्राप्त होने से क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरणा किये हुये जो पुद्गल वचन रूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य वचन कहते हैं तथा वे पुद्गलों के ही बनते हैं, इसलिये पौद्गलिक ही कहलाते हैं। मन भी दो प्रकार का है—एक भाव मन और दूसरा द्रव्य मन। भाव मन की प्राप्ति लब्धि और उपयोग के द्वारा होती है तथा लब्धि और उपयोग ये दोनों ही पुद्गलों के आलम्बन से ही होते हैं, इसलिये भाव मन भी पौद्गलिक ही गिना जाता है।

ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम का लाभ होने के कारण प्राप्त होने वाले गुण-दोषों का विचार करना, स्मरण करना आदि कार्यों के सन्मुख ऐसे आत्मा का अनुग्रह करने वाले और विशेष शक्ति को प्रकट करने की जिनमें सामर्थ्य है ऐसे पुद्गल मन रूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्य मन कहते हैं। द्रव्य मन पुद्गलों से ही बनता है, इसलिये वह भी पौद्गलिक ही कहलाता है। स्वतन्त्रतापूर्वक आत्मा के द्वारा जो स्वयं किया जाता

प्रयोगमपेक्ष्य सिद्धिमापद्यमानं कारितं । प्रयोजकस्य मनसाऽभ्युपगमनमनुमतमिति । आत्मनः सम्यक्त्वसंयमा संयमसंयमयथाख्यातचारित्र कषन्तीति कषायाः । अथ वा कृषन्ति फलवत्कुर्वन्ति कर्मबीजमिति कषायाः । संरंभसमारंभारंभाणामधस्तात् योगान् कृतकारितानुमतानि क्रोधमानमायालोभांश्च क्रमेण व्यवस्थाप्य सरभं निरुध्यांकसंचारे कृते षट् त्रिंशद्विकल्पा भवन्ति । एवं समारंभे आरभे च प्रत्येकंष ट्त्रिंशद्विकल्पा भवन्ति । सर्वे सपंडिता. अष्टोत्तरशतसंख्याका भवन्ति ।

एवं कायादियोगान्कृतकारितानुमतानि क्रोधादिकषायांश्चैकैकं निरुध्यांकसंचारः कर्त्तव्यः ।

है उसे कृत कहते हैं । दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा रखकर जो कार्य सिद्ध किया गया हो अर्थात् दूसरे से कराया गया हो उसे कारित कहते हैं । काम करने वाले को मन से भला मानना अनुमत कहलाता है । आत्मा के सम्यग्दर्शन, संयमासंयम, संयम और यथाख्यात चारित्र गुणों का जो घात करे उन्हें कषाय कहते हैं । अथवा कर्म रूप बीज को जो फलशाली बना देवें (जिनके कारण कर्म अपना फल दे सकें) उनको कषाय कहते हैं । कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार हैं । संरंभ, समारंभ और आरम्भ इन तीनों के नीचे मन, वचन, काय तीनों योगों को कृत, कारित, अनुमत इन तीनों को और क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों को अनुक्रम से रखना चाहिये । इस तरह रखने से तथा उनका अंक संचार करने से संरंभ छत्तीस तरह का होता है । इसी प्रकार समारंभ भी छत्तीस प्रकार का होता है और आरम्भ भी छत्तीस प्रकार का होता है । ये सब मिलकर एक सौ आठ भेद होते हैं ।

इसी प्रकार मन, वचन, काय तीनों योग; कृत, कारित, अनुमोदना और क्रोधादिक कषाय इन सबको एक-एक के साथ कहकर अंक संचार करना चाहिये ।

क्रोध कृत संरंभ, मान कृत काय संरंभ, माया कृत काय संरंभ, लोभ कृत काय संरंभ, क्रोध कारित काय संरंभ, मान कारित काय संरंभ, माया कारित काय संरंभ, लोभ कारित काय संरंभ, क्रोधानुमत काय संरंभ, मानानुमत काय संरंभ, मायानुमत काय संरंभ लोभानुमत काय संरंभ—यह बारह प्रकार का संरंभ हुआ । इसी प्रकार बारह प्रकार का

संख्यातासंख्यातानंतभवसंसारावस्थानमनन्तानुबन्धिनां कषायाणां। षण्मासावस्थानमप्रत्याख्यानानां। पक्षावस्थानं प्रत्याख्यानानां। अन्तर्मुहूर्तावस्थानं संज्वलनानां। एवंविधषोडशकषायभेदात् द्वात्रिंशदुत्तरचतुःशतविकल्पा भवन्ति।

अप्रतिपीड्याः सूक्ष्मजीवाः, बादरजीवानां गत्यादिमार्गणागुणस्थानकुलयोन्यायुष्यादिकं ज्ञात्वा गमनस्थानशयनासनादिषु स्वयं न हननं, परैर्वा न घातनं, अन्येषामपि हिंसतां नानुमोदनं हिंसाविरतिः।

संरंभ	समारंभ	आरंभ	
काय	वचन	मन	
कृत	कारित	अनुमत	
क्रोध	मान	माया	लोभ

वचन संरंभ और बारह प्रकार का मन संरंभ समझना चाहिये। इस तरह छत्तीस प्रकार का संरंभ, छत्तीस प्रकार का समारंभ और छत्तीसही प्रकार का आरम्भ समझना चाहिये। इस तरह सब एक सौ आठ भेद होते हैं।

अनंतानुबंधी कषाय का अवस्थान या संस्कार संख्यात, असंख्यात या अनंत भव-संसार तक रहता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अवस्थान छह महीने तक रहता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय का संस्कार पन्द्रह दिन तक रहता है और संज्वलन कषाय का संस्कार अन्तर्मुहूर्त तक रहता है। इस प्रकार कषायों के सोलह भेद भी होते हैं और कषायों के सोलह भेद होने से संरंभादिक के चार सौ बत्तीस भेद हो जाते है।

सूक्ष्म जीवों को तो किसी तरह पीड़ा हो ही नहीं सकती है, केवल बादर जीवों को पीड़ा हो सकती है, इसलिये उन बादर जीवों की गति आदि मार्गणाएं, गुणस्थान, कुल, योनि और आयुष्य आदि जानकर गमन करने, खड़े होने, शयन करने और बैठने आदि

अहिंसाव्रतं स्वर्गापवर्गफलप्रापणहेतुस्तत्प्रतिपालननिमित्तं शेषाणि व्रतानि । अहिंसकः पुरुषो निजजनकवद्विश्वास्यः पूज्यश्च भवति । हिंस्रो हि नित्योद्वेजनीयः सततोऽनुबद्धवैरश्चेहैव च वधबन्धपरिक्लेशादीन् परिलभते प्रेत्य चाशुभा गतिं, गर्हितश्च भवतीति हिंसाया व्युपरमः श्रेयान् । परमार्थग्रहणेच्छयाऽहिंसाव्रतस्थैर्यार्थं पंच भावना भवन्ति ।

वाग्गुप्तिः, मनोगुप्तिः, ईर्यासमितिः, आदाननिक्षेपणसमितिः, आलोकितपानभोजनमिति ।

पारमार्थिकस्य भूतनिह्नवेऽभूतोद्भावने च यदभिधानं तदेवानृतं स्यात् भूतनिह्नवे नास्त्यात्मा

कार्यों में न तो स्वयं उन जीवों की हिंसा करना, न किसी दूसरों से उनका घात कराना और न हिंसा करते हुए अन्य लोगों का अनुमोदन करना, हिंसा विरति या हिंसा का त्याग अथवा अहिंसा व्रत कहलाता है। यह अहिंसा व्रत स्वर्ग और मोक्ष फल प्राप्त होने का कारण है। इस अहिंसा व्रत का पालन करने के लिये ही बाकी के सब व्रत धारण किये जाते हैं। अहिंसा व्रत का धारण करने वाला अहिंसक पुरुष अपने पिता के समान विश्वास करने योग्य और पूज्य माना जाता है। हिंसक पुरुष सदा ललकार और फटकार पाता रहता है और सदा दूसरों के साथ बैर, विरोध बांधता रहता है। हिंसक पुरुष इस लोक में भी बध-बन्धन आदि के अनेक क्लेश भोगता है और परलोक में भी नीच गति पाकर निंदनीय होता है, इसलिये हिंसा का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है। परमार्थ रीति से ग्रहण करने की इच्छा से इस अहिंसा व्रत को स्थिर करने के लिये वाग्गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्या समिति, आदान-निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन—ये पांच भावनाएं कही गई है।

जो पदार्थ है, उसको छिपाने के लिये और जो नहीं है, उसको प्रकट करने के लिये जो वचन कहे जाते हैं उसी को अनृत या मिथ्या वचन कहते हैं। आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है, इत्यादि वचन पदार्थों के अस्तित्व को छिपाने वाले हैं। आत्मा श्यामाक जाति के चावल के बराबर है अथवा अंगूठे के पर्व के समान है अथवा समस्त संसार में व्याप्त है

नास्ति परलोक इत्यादि । अभूतोद्भावने च श्यामकतंदुलमात्र आत्मांगुष्ठपर्वमात्रः सर्वगतो निष्क्रिय इत्यादि । यद्विद्यमानार्थविषयं प्राणिपीडाकारणं तत्सत्यमप्यसत्यमेतद्विपरीतं यच्च प्राणिपीडाकरं तदनृतं कृतात्कारितादनुमोदिताद्वाऽनृताद्विरतिः सत्यव्रतं तदभ्युदयनिःश्रेयसकारणं । सत्यवादिनं सम्मानयति लोकः, सर्वेषु कार्येषु प्रमाणं भवति, अनृतवाद्यश्रद्धेयो भवति इहैव जिह्वाच्छेदनादीन् प्रतिलभते, मिथ्याभ्याख्यानदुःखितेभ्यश्च बद्धवैरेभ्यो बहूनि व्यसनान्यवाप्नोति प्रेत्य चाऽशुभां गतिं । निंदितश्च भवतीत्यनृतवचनाद्व्युपरमः श्रेयान् । सत्यव्रतदृढीकरणार्थं पंचभावना भवंति ।

क्रोधप्रत्याख्यानं, लोभप्रत्याख्यानं, भीरुत्वप्रत्याख्यानं, हास्यप्रत्याख्यानं, अनुवीचिभाषणं चेति । अनुवीचिभाषणमनुलोमभाषणमित्यर्थः, विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणं ।

और निष्क्रिय है, इत्यादि वचन जो पदार्थ नहीं है उसी को प्रकट करने वाले हैं । विद्यमान पदार्थों को विद्यमान कहने वाले वचन भी यदि प्राणियों को पीड़ा करने वाले हों तो वे सत्य होकर भी असत्य ही माने जाते हैं । जो वचन विपरीत हों तथा प्राणियों को पीड़ा देनें वाले हों वे सब अनृत कहलाते हैं । कृत, कारित, अनुमोदना से अनृत या असत्य का त्याग कर देना सत्य व्रत है । यह सत्य व्रत भी अभ्युदय और मोक्ष का कारण है । सत्यवादी का (सच बोलने वाले का) सब लोग सम्मान करते हैं और समस्त कार्यों में वह प्रमाण माना जाता है । झूठ बोलने वाले पर किसी की श्रद्धा नहीं होती, इस लोक में भी जीभ काटी जाना आदि अनेक दु.ख उसे भोगने पड़ते हैं तथा झूठ बोलकर जिन लोगों को दुःख दिया है और इसलिये जिनके साथ बैर बंध गया है ऐसे लोगों के द्वारा वह अनेक तरह के संकटों में डाला जाता है । परलोक में भी उसे अशुभ गति मिलती है तथा वह निंदनीय होता है इसलिये असत्य वचनों का त्याग कर देना ही कल्याणकारी है । क्रोध प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध त्याग कर देने की भावना रखना, लोभ प्रत्याख्यान अर्थात् लोभ का त्याग कर देने की भावना रखना, भीरुत्व प्रत्याख्यान अर्थात् डर को त्याग देने की भावना रखना, हास्य प्रत्याख्यान अर्थात् हंसी को त्याग देने की भावना रखना और अनुवीची भाषण— ये पांच सत्य व्रत को दृढ़ करने की भावनाएं हैं । विचार कर भाषण करना अथवा अनुकूलतापूर्वक भाषण करना अनुवीची भाषण कहलाता है ।

अदत्ताऽऽदानं स्तेयं। ग्रामारामशून्यागारवीथ्यादिषु निपतितमणिकनकवस्त्रादिवस्तुनो ग्रहणमदत्तादानं। कृतकारितादिभिस्तस्माद्विरतिरस्तेयव्रतं। तद्गीर्वाणनिर्वाणप्रदं। अस्तेयव्रतिनो बहिश्चरप्राणेष्वर्थेष्वपि विश्वसिति लोकः। परद्रव्यहरणासक्तमतिः सर्वस्योद्वेजनीयो भवति, इहैव चाभिघातवधबन्धहस्तपादकर्णनासोत्तरौष्ठच्छेदनभेदनशूलारोहणक्रकचपाटनकारागारविनिवेशनसर्वस्वहरणादीन्प्रतिलभते प्रेत्य चाशुभां गतिं। कुत्सितश्च भवति, तत्संसर्गतः शिष्टोऽपि संशयमवाप्नोति। अदत्तादानव्रतस्थिरीकरणार्थं भावनाः पंच भवति।

शून्यागारगिरिगुहातरुप्रकोटरादिष्वावासः, परकीयेषु मोचितेष्वावासः, परेषां मनुष्यव्यन्तरादीनामुपरोधाकारणं, आचारसूत्रमार्गेण भैक्ष्यशुद्धिः, ममेदं तवेदमिति लक्षणो विसंवादः, न विसंवादोऽविसंवादः, सधर्मिभिरविसवाद इति।

अदत्ता दान अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को लेना या ग्रहण करना चोरी है। किसी गांव में, किसी बगीचे में, किसी सूने मकान अथवा गली में पड़े हुए मणि, सोना, वस्त्र आदि पदार्थों को ग्रहण कर लेना, उठा लेना अदत्ता दान है। कृत, कारित, अनुमोदना से ऐसे अदत्ता दान का त्याग करना अस्तेय व्रत अथवा अचौर्य व्रत है। यही अचौर्य व्रत स्वर्ग और मोक्ष की सम्पदा देने वाला है। अचौर्य व्रत धारण करने वाला बाह्य प्राण रूप धन रखने में भी सब लोग विश्वास कर लेते हैं। जिसकी बुद्धि दूसरे के धन हरण करने में आसक्त रहती है, उसे सब लोग दण्ड और फटकार दिया करते हैं। इस लोक में मारना-पीटना, जान से मार डालना, बांधना, हाथ, पैर, कान, नाक, ऊपर का ओठ आदि अंगों को काट लेना, भेदना, शूली पर चढ़ाना, आरे से चीरना, कारागार में (जेल में) बन्द करना और उसका सब धन लूट लेना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। परलोक में उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और वह निंदनीय होता है, और तो क्या ऐसे चोर के संसर्ग मात्र से शिष्ट पुरुष भी (भले, सभ्य पुरुष) संशय में पड़ जाते हैं अर्थात् लोग उन पर भी संदेह करने लगते हैं, इसलिये चोरी का त्याग कर देना ही संसार का तथा आत्मा का कल्याण करने वाला है। इन अचौर्य व्रत को स्थिर करने के लिये नीचे लिखी हुई पांच भावनाएं हैं—पर्वतों की गुफाएं तथा वृक्षों के कोटर आदि सूने मकानों में निवास करने की भावना रखना, दूसरे के

मैथुनमब्रह्म, स्त्रीपुंसोर्वेदोदये वेदनापीडितयोर्यत्कर्म तन्मैथुनमथवैकस्याऽपि चारित्रमोहोदयोद्रिक्तरागस्य हस्तादिसंघट्टनेऽस्ति मैथुनमिति । अहिंसादिगुणबृंहणाद्ब्रह्म न ब्रह्म अब्रह्म । तिर्यग्मनुष्यदेवाऽचेतनभेदाच्चतुर्विधस्त्रीभ्यो मातृसुताभगिनीभावनया मनोवाक्कायप्रत्येककृतकारितानुमोदितभेदेन नवविधाद्विरतिश्चतुर्थव्रतं । तदेव स्वर्गमोक्षसाधनं ब्रह्मचारिणं भूमिस्थमपि साक्षाद्देव इव मन्यते लोकः । असंयतोपि तद्व्रतो मानार्हो भवति, तस्मिन्प्रतिष्ठिताः सर्वे गुणाः, विद्यादेवताश्च परिगृहीतब्रह्मव्रतस्य किंकरभावमुपयांति । अब्रह्मचारी मदविभ्रमोन्मथितचित्तो वनगज इव वासितावचितो

द्वारा छोड़े हुए स्थानों में निवास करने की भावना रखना, अन्य मनुष्य व्यंतर आदि को रोक-टोक न करने की भावना रखना, आचार सूत्रों में कहीं हुई विधि के अनुसार भिक्षा की शुद्धता रखने की भावना रखना और सार्धमियों के साथ "यह तेरा है, यह मेरा है" आदि विसंवाद न करना ।

मैथुन करने को अब्रह्म कहते हैं । अपने-अपने वेद-कर्म के उदय से वेदना से (काम की वेदना से) पीड़ित हुए स्त्री-पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं, उसको मैथुन कहते हैं अथवा चारित्र मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से जिसके तीव्र राग भाव प्रकट हुआ है, ऐसा एक पुरुष भी यदि हस्तादिक से संघट्टन क्रिया करे तो वह भी मैथुन कहलाता है । जिसमें अहिंसा आदि गुणों की वृद्धि होती हो, उसे ब्रह्म कहते हैं और ब्रह्म या ब्रह्मचर्य का पालन न करना ही अब्रह्म है । तिर्यंच मनुष्य देव और अचेतन के भेद से स्त्रियां चार तरह की होती हैं । इन चारों प्रकार की स्त्रियों में माता, बहिन और पुत्री की भावना रखकर मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा होने वाले नौ प्रकार के भेदों से उस अब्रह्म का त्याग कर देना ब्रह्मचर्य नाम का चौथा व्रत है । यह ब्रह्मचर्य व्रत भी स्वर्ग मोक्ष का साधन है । यदि कोई ब्रह्मचारी जमीन पर भी बैठा हो तो भी संसार उसे साक्षात् देव के समान ही मानता है । यदि ब्रह्मचारी असंयमी भी हो तो भी उसका आदर-सत्कार और मान-प्रतिष्ठा होती है । इस ब्रह्मचर्य व्रत में ही समस्त गुण शामिल हैं । जिसने ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है, उसी के सब विद्या देवता आकर स्वयं सेवक होकर काम करते हैं । जिस प्रकार मद के विकार से उन्मत्त चित्त वाला जंगली हाथी हथिनी के द्वारा ठगा जाकर

विवशो वधबंधपरिक्लेशादीननुभवति, मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरति, परांगनालिंगनसंगकृतरतिश्चेहैव वैरानुबंधिनो लिंगच्छेदनवधबन्धनसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति, प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते, तृणवल्लघुश्च भवतीत्यतः स्त्रीविरतिरात्महिता । ब्रह्मचर्यव्रतनिश्चलीकरणार्थं पंच भावना भवंति ।

स्त्रीरागकथाश्रवणवर्जनं, तन्मनोहरांगनिरीक्षणविरहः, पूर्वरतानुस्मरणव्यपोहः, वृष्येष्टरसानुभवनिरासः, स्वशरीरसंस्कारत्यागश्चेति ।

मूर्च्छा परिग्रहः, बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यावृत्तिर्मूर्च्छा । क्षेत्रवास्तुधनधान्यद्विपदचतुष्प-

---

परवश हो जाता है और बध-बन्धन आदि के अनेक क्लेशों का अनुभव करता है, उसी प्रकार अब्रह्मचारी भी मद के विकार से उन्मत्त चित्त होकर परवश हो जाता है और फिर बध-बन्धन आदि के अनेक क्लेश सहन करता है, मोह से तिरस्कृत होकर कार्य-अकार्य का कुछ विचार नहीं कर सकता और न वह किसी भी श्रेष्ठ कार्य का सम्पादन कर सकता है । पर स्त्रियों का आलिंगन अथवा उनके साथ समागम करने की लालसा करने वाले पुरुष के साथ हर किसी का बैर-विरोध हो जाता है और फिर उन बैर-विरोध करने वालों के द्वारा लिंगच्छेदन, बध-बन्धन और समस्त धन का हरा जाना आदि अनेक दुःख उसे भोगने पड़ते हैं । परलोक में उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और वह तृण के समान लघु या क्षुद्र गिना जाता है । इसलिये स्त्री मात्र का त्याग कर देना ही आत्मा का कल्याण करने वाला है । इस ब्रह्मचर्य व्रत को निश्चल करने के लिये स्त्री राग कथा श्रवण त्याग (स्त्रियों की राग रूप कथा सुनने का त्याग), तन्मनोहरांगनिरीक्षणविरह अर्थात् स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग करना, पूर्वरतानुस्मरणव्यपोह अर्थात् पहिले उपभोग की हुई स्त्रियों के स्मरण करने का त्याग करना, वृष्येष्टरसानुभवनिरास अर्थात् पौष्टिक और इष्ट रस के अनुभव करने का त्याग करना और स्वशरीरसंस्कारवर्जन अर्थात् अपने शरीर के संस्कार करने का त्याग करना—ये पांच भावनाएं हैं ।

मूर्छा को परिग्रह कहते हैं । बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह की रक्षा करना, उपार्जन

दयानशयनासनकुप्यभांडानि, दशविधश्चेतनाचेतनभेदलक्षणो बाह्यपरिग्रहः। मिथ्यात्वक्रोधमानमाया-लोभहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सावेदरागद्वेषचतुर्दशभेदोऽभ्यन्तरपरिग्रहः। एतस्मान्मनसः कृतकारितानु-मोदितेन वचसः कृतकारितानुमोदितेन कायस्य कृतकारितानुमोदितेन च विरतिरपरिग्रहलक्षणं व्रतं। तदेव सर्वमोक्षैकसाधनं सर्वेषां गुणानामलकरणं, निष्परिग्रहव्रतिनं सर्वेऽपि सन्मानयन्ति, स सर्वैश्च समभिवन्दनीयः संपूजनीयश्च भवति, तस्य नामग्रहणेऽपि बद्धांजलिर्भवति लोकः। परिग्रहवान् यथा श-कुनिगृ हीतामांसखंडोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्रिणामभिभवनीयः, तथा तस्करा दीनामभिभावनीयो मार्यश्च भवति, परिग्रहार्जननिमित्त निजाभिजनविद्यावृत्तं विहाय केचन जडधियो नीचतामुपगच्छन्ति, न चाऽस्य तृप्तिर्भवतीन्धनैरिवाऽग्नेर्लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति, प्रेत्य चाशुभां गतिमा-

---

करना आदि कार्यों में प्रवृत्त होने को मूर्छा कहते हैं। क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद (दास-दासी), चतुष्पद (चौपाये) सवारी, सोने-बैठने की पलंग, कुर्सी आदि चीजें, कुप्य (वस्त्रादि) और भांड (बर्तन आदि) दस प्रकार का बाह्य परिग्रह है और वह भी चेतन-अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, वेद, (स्त्री लिंग, नपुंसक लिंग, पुलिंग) राग और द्वेष यह चौदह प्रकार का अभ्यंतर परिग्रह है। इन दोनों प्रकार के परिग्रहों का मन के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से; वचन के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से और काय के द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना से इन नौ तरह से त्याग कर देना परिग्रह त्याग व्रत है। यह परिग्रह त्याग व्रत ही स्वर्ग और मोक्ष का साधन है तथा समस्त गुणों को सुशोभित करने वाला है। परिग्रह त्याग व्रत को धारण करने वाले पुरुष का सभी लोग सम्मान करते हैं, सभी लोग वंदना करते हैं और सभी लोग पूजा करते हैं। ऐसे पुरुष के नाम लेने मात्र से ही उसके लिये सब लोग अपने-अपने हाथ जोड़ लेते हैं। जिस प्रकार किसी पक्षी के पास मांस का टुकड़ा हो तो उस मांस को चाहने वाले अन्य पक्षी उसे त्रास देते हैं, उसी प्रकार चोर आदि धनार्थी लोग भी अधिक परिग्रह वाले को त्रास देते हैं तथा मार डालते हैं। परिग्रह को इकट्ठा करने के लिये अपने कुटुम्बी विद्या और चारित्र को छोड़कर कितने ही मूर्ख लोग नीचता धारण कर

स्कन्दति, लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति नीचवृत्त्या समुपार्जनीयमनित्यं दुःखकारणं परिग्रहं परित्यज्याकिंचन्यवृत्त्या नित्यमनंतसुखसाधनं मोक्षमार्गमुपार्जयन्त्यात्महितैषिणः। आकिंचन्यव्रतदृढिमार्गं पंच भावना भवति।

पंचानां स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणामिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु रागवर्जनमनिष्टेषु विषयेषूपनिपतितेषु द्वेषवर्जनमिति।

एवमहिंसादिव्रतानां लक्षणं फलं गुण तदभावे दोषभावनां च ज्ञात्वा यथा ममाप्रिय वधबन्धपरिपीडन तथा सर्वसत्त्वानां। यथा मम मिथ्यात्वाख्यानकटुकपरुषादीनि वचांसि शृण्वतोतितीव्र

लेते हैं। जिस प्रकार ईंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार परिग्रह से किसी को भी तृप्ति नहीं होती। लोभ के वशीभूत होकर वह कार्य-अकार्य आदि किसी का विचार नहीं कर सकता। परलोक में उसे अशुभ गति प्राप्त होती है और 'यह लोभी है', इस प्रकार वह निंदनीय गिना जाता है। इसलिये जो नीच वृत्ति से उपार्जन किया जाय और जो अनित्य तथा दुःख का कारण है, ऐसे परिग्रह को छोड़कर आत्मा का हित करने वाले लोगों को निष्परिग्रहवृत्ति धारण कर नित्य और अनन्त सुख का साधन ऐसे मोक्ष का मार्ग सदा उपार्जन करना चाहिये। इस आकिंचन्य व्रत को स्थिर करने के लिये स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांचों इन्द्रियों के इष्ट विषय प्राप्त होने पर उनमें राग नहीं करना और अनिष्ट पदार्थों के प्राप्त होने पर द्वेष नहीं करना—ये पांच भावनायें हैं।

इस प्रकार अहिंसा आदि व्रतों का लक्षण, फल और गुणों को समझकर तथा व्रतों के अभाव में दोषों की प्राप्ति समझकर विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार वध-बन्धन और पीड़न मुझे अप्रिय हैं, उसी प्रकार सब जीवों को अप्रिय हैं। जिस प्रकार मिथ्या वचन, कटुक और कठोर वचन सुनने से मुझे अभूतपूर्व और अत्यन्त तीव्र दुःख होता है, उसी प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार मेरे इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर मुझे दुःख होता है, उसी प्रकार सब जीवों को होता है। जिस प्रकार किसी दूसरे के द्वारा मेरी स्त्री का तिरस्कार होने पर मेरे हृदय में अत्यन्त तीव्र पीड़ा होती है, उसी प्रकार

दुःखमभूतपूर्वमुत्पद्यते तथा सर्वजीवानां। यथा च ममेष्टद्रव्यवियोगे व्यसनपूर्वमुपजायते तथा सर्वभूतानां। यथा मम कान्ताजनपरिभवे परकृते सति मानसी पीडाऽतितीव्रा जायते तथा सर्वप्राणिनां। यथा च मम परिग्रहेष्वप्राप्तेषु कांक्षोद्भवं प्राप्तेषु रक्षाजनितं विनष्टेषु शोकसमुत्थं दुःखमतितीव्रतरं भवति तथा च सर्वदेहिनां अतो न हिनस्मि, नानृतं वदामि, नादत्तमाददे, नांगनां स्पृशामि, न परिग्रहमुपाददे इत्येवं प्रमत्तपरिणामयोगजनितं हिंसादिकं विहायाप्रमत्तपरिणामादहिंसादिव्रतधारणे यत्नः कर्त्तव्यः।

समितिपालनं पूर्वमुक्तं। चतुर्विधकषायनिग्रहश्चोत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचेषु प्रतिपादितः।

दण्डस्त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पात्मा मानसो दण्डस्त्रिविधः, तत्र रागः प्रेमहास्यरतिमायालोभाः। द्वेषः क्रोधमानारतिशोकभयजुगुप्साः। मोहो मिथ्यात्वत्रिवेदसहिताः

सब जीवों को होती है। जिस प्रकार मुझे परिग्रहों की प्राप्ति न होने पर उनकी इच्छाजन्य अत्यन्त तीव्र दुःख होता है, उनकी प्राप्ति होने पर रक्षा करने का अत्यन्त दुःख होता है और उनके नष्ट होने पर शोक उत्पन्न होने का सबसे अधिक तीव्र दुःख होता है, उसी प्रकार सब जीवों को होता है। इसलिये मैं न तो किसी जीव की हिंसा करूंगा, न झूठ बोलूंगा, न चोरी करूंगा, न स्त्री का स्पर्श करूंगा और न परिग्रह ग्रहण करूंगा। इस प्रकार प्रमत्त परिणामों के संयोग से उत्पन्न हुए हिंसा आदि कार्यों को छोड़कर अप्रमत्त परिणामों से होने वाले अहिंसा आदि व्रतों के धारण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

समितियों के पालन करने का विधान पहिले कहा जा चुका है और चारों प्रकार के कषायों का निग्रह करना उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच में प्रतिपादन कर चुके हैं।

मन, वचन, काय के भेद से दण्ड तीन प्रकार का है और उसमें भी राग, द्वेष, मोह के भेद से मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार का है। प्रेम, हास्य, रति, माया और लोभ को राग कहते हैं; क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा को द्वेष कहते हैं तथा मिथ्यात्व, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद, प्रेम और हास्यादिक सब मोह कहलाता है। झूठ बोलना, वचन

प्रेमहास्यादयः। अनृतोपघातपैशून्यपरुषाभिशंसनपरितापहिंसनभेदाद्वाग्दण्डः सप्तविधः प्राणिवधचौर्यमैथुनपरिग्रहाऽऽरंभताडनोग्रवेषविकल्पात्कायदण्डोऽपि च सप्तविधः। गुप्त्यात्मना प्रयतमानेन दण्डत्यागो विधेयः।

विषयाटवीषु स्वच्छन्दप्रधावमानेन्द्रियगजानां ज्ञानवैराग्योपवासाद्यंकुशाकर्षणेन वशीकरणमिन्द्रियजयः। स चास्रावानुप्रेक्षायां वक्ष्यते।

सयमो ह्यात्महितस्तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते। परत्र किमत्र वाच्यं। असंयतः प्राणिवधविषयमार्गेषु नित्य प्रवृत्तो मूर्तिमदशुभकर्मवायमिति साधुजनविनिन्द्यमानो दुष्कर्म संचिनुते।

संयमिनो नैर्ग्रन्थ्यधारिणः पञ्चविधाः। पुलाकाः, बकुशा, कुशीलाः, निर्ग्रन्थाः, स्नातकाश्चेति।

से कहकर किसी के ज्ञान का घात करना, चुगली खाना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करने वाले वचन कहना और हिंसा के वचन कहना—यह सात तरह का वचन दण्ड कहलाता है। प्राणियों का वध करना, चोरी करना, आरम्भ करना, ताड़न करना और उग्र वेष (भयानक रूप) धारण करना—इस तरह काय दण्ड भी सात प्रकार का कहलाता है। अपनी आत्मा को गुप्त रखने के लिये, पापों से छिपाने या बचाने के लिये सदा प्रयत्न करने वाले मुनियों को इन तीनों प्रकार के दण्डों का त्याग कर देना चाहिये।

विषय रूपी वन में स्वतन्त्र रीति से दौड़ने वाले इन्द्रिय रूपी हाथियों को ज्ञान, वैराग्य, उपवास आदि अंकुशों से खींचकर वश में करना इन्द्रिय विजय कहलाता है। इस इन्द्रिय विजय का विस्तार आस्रवानुप्रेक्षा में कहेंगे।

यह निश्चय है कि संयम धारण करना आत्मा का हित करने वाला है, इसलिये जो इस संयम को करता है, वह इस लोक में भी पूज्य गिना जाता है, फिर भला परलोक की तो बात ही क्या है, वहां तो पूज्य होता ही है।

असंयमी पुरुष प्राणियों की हिंसा करना, विषय सेवन करना आदि मार्गों में ही

तत्रोत्तरगुणभावनोपेतमनस. व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवंतोऽविशुद्धपुलाकसादृश्या-त्पुलाका इत्युच्यंते । नैर्ग्रन्थ्यमुपस्थिता अखंडितव्रताः शरीरोपकरणविभूषणानुवर्तिनो वृद्धियशःकामाः सातगौरवाश्रिता अविविक्तपरिवाराश्च छेदशबलयुक्ताः बकुशाः । शबलपर्यायवाची बकुशशब्द इति । कुशीला द्विविधाः-प्रतिसेवनाकुशीलाः, कषायकुशीलाश्चेति तत्राविविक्तपरिग्रहाः परिपूर्णमूलोत्तर-गुणाः कथंचिदुत्तरगुणविराधिनः प्रतिसेवनाकुशीला ग्रीष्मे जंघाप्रक्षालनादिसेवनवदिति । वशीकृतान्य-

---

सदा प्रवृत्त रहा करता है, वह मूर्तिमान साक्षात् अशुभ कर्म ही जान पड़ता है और इसी-लिये सज्जनों के द्वारा निंद्य गिना जाता है और अनेक दुष्कर्मों को (पापरूप कर्मों को) संचित करता रहता है ।

निर्ग्रंथ (परिग्रह रहित) अवस्था को धारण करने वाले संयमी पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक के भेद से पांच प्रकार के होते हैं । जिस प्रकार पुलाक (छिलका सहित चावल) बिल्कुल शुद्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार जो बिल्कुल शुद्ध न हों अर्थात् जिनके मन में उत्तर गुणों के धारण करने की भावना बिल्कुल न हो और व्रतों में भी किसी जगह किसी समय पूर्णता प्राप्त न कर सकें, ऐसे मुनियों को पुलाक मुनि कहते हैं । जिन्होंने निर्ग्रंथ अवस्था धारण की है तथा जिनके व्रत अखंडित या पूर्ण हैं परन्तु जो शरीर और उपकरणों की सुन्दरता का अनुराग रखते हैं, (प्रभावना के लिये) अपने यश की वृद्धि चाहते हैं, परिवार अर्थात् अपने संघ से कभी अलग रहना नहीं चाहते, इसलिये परि-वार से (संघ से) उत्पन्न हुए हर्ष रूपी छेद से जो चित्र वर्णता (चित्रलाचरण) धारण करते हैं और जो अच्छी तरह रहने व सुन्दरता में ही अपना गौरव समझते हैं, उन्हें बकुश कहते हैं । शबल अर्थात् चित्र-विचित्र व अनेक रंग वाले को ही बकुश कहते हैं । भावार्थ—जो राग सहित चारित्र धारण करे उसे बकुश कहते हैं ।

कुशील दो प्रकार के होते हैं—एक प्रतिसेवना कुशील, दूसरे कषाय कुशील । जो परिग्रहों से अलग नहीं हुए हैं अर्थात् कमंडलु, पीछी, संघ, गुरु आदि से जिन्होंने अपना मोह नहीं छोड़ा है, जिनके मूलगुण और उत्तरगुण दोनों ही परिपूर्ण हैं परन्तु किसी तरह जो

कषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीला इति । यथोदके दण्डराजिराश्वेव विलयमुपयाति तथा-ऽनभिव्यक्तोदयकर्माण ऊर्द्ध्वं मुहूर्तादुद्भिद्यमानकेवलज्ञानदर्शनभाजो निर्ग्रंथा इति । ज्ञानावरणादि-घातिकर्मक्षयादाविर्भूतकेवलज्ञानाद्यतिशयविभूतयः सयोगिशीलेशिनो नवलब्ध्यास्पदाः केवलिनः स्ना-तका इति । एते प्रकृष्टाप्रकृष्टमध्यमचारित्रभेदे सत्यपि नैगमनयापेक्षया पंचापि निर्ग्रन्था इत्युच्यंते । यथा षोडशत्रयोदशदशवर्णिकादिषु सुवर्णशब्दोऽविशिष्टो वर्त्तते तथा निर्ग्रन्थशब्दोऽपि । सम्यग्दर्शन निर्ग्रंथरूपं च भूषावेषायुधरहित तत्सामान्ययोगात्सर्वेषु पुलाकादिषु निर्ग्रन्थशब्दो युक्तः ।

पुलाकादिनिर्ग्रन्था उत्तरोत्तरगुणप्रकर्षवृत्तिविशेषाः संयमादिभिरष्टाभिरनुयोगैर्व्याख्येयाः । तद्यथा—संयमः, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थं, लिगं, लेश्या, उपपादः स्थानमिति विकल्पतः पुलाकादयः

उत्तरगुणों की विराधना कर डालते हैं, उनको प्रतिसेवना कुशील कहते हैं । प्रतिसेवना कुशील मुनि गर्मियों के दिनों में जंघाप्रक्षालन आदि कर लेते हैं, यही उनकी उत्तरगुणों की विराधना है । जिनके अन्य सब कषायों का उदय हो गया है, केवल संज्वलन कषाय का उदय बाकी है, उनको कषाय कुशील कहते हैं । जिस प्रकार पानी में लकड़ी की रेखा शीघ्र ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिनके कर्मों का उदय व्यक्त या प्रकट नहीं है और एक मुहूर्त के बाद ही जिन्हें केवल ज्ञान प्रकट होने वाला है उनको निर्ग्रन्थ कहते हैं । ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मों के नाश होने से जिनके केवलज्ञान आदि अति-शय और विभूतियां प्रकट हो गई हैं, जो संयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान के स्वामी हैं और क्षायिक नौ लब्धियों को धारण करते हैं ऐसे केवलज्ञानियों को स्नातक कहते हैं । यद्यपि इनमें किसी के उत्तम चारित्र है, किसी के मध्यम है और किसी के जघन्य है । इस प्रकार इनके चारित्र में भेद है, तथापि नैगम नय की अपेक्षा से पांचों ही निर्ग्रंथ कहे जाते हैं । जिस प्रकार सोलह ताव लगा हुआ सोना भी सोना कहलाता है और तेरह तथा दस ताव लगा हुआ सोना भी सोना कहलाता है, उसी प्रकार निर्गंथ शब्द भी समझना चाहिये । सम्यग्दर्शन और आभूषण, वेष (वस्त्र) तथा शस्त्रों से रहित निर्ग्रंथपना ये दोनों ही साधारण रीति से सब मुनियों में रहते हैं, इसलिये पुलाक आदि सब तरह के मुनियों में निर्ग्रंथ शब्द चरितार्थ होता है ।

साध्याः। तत्र संयमे पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीलाः द्वयोः संयमयोः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोर्भवन्ति। कषायकुशीलाः सामायिकच्छेदोपस्थापनयोः परिहारविशुद्धिसूक्ष्मसांपराययोश्च भवन्ति। निर्ग्रन्था स्नातकाश्चैकस्मिन्नेव यथाख्यातसंयमे भवन्तीति। श्रुते पुलाकबकुशप्रतिसेवनाकुशीला उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वधराः कषायकुशीला निर्ग्रन्थाश्चतुर्दशपूर्वधराः। जघन्येन पुलाकस्य श्रुतमाचारवस्तु, बकुशकुशीलनिर्ग्रन्थानां श्रुतमष्टौ प्रवचनमातरः। स्नातका अपगतश्रुताः केवलिनः। प्रतिसेवनायां पंचानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद्बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः

उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता और चारित्र की विशेषता धारण करने वाले पुलाकादि निर्ग्रंथों का संयम आदि आठ अनुयोगों के द्वारा व्याख्यान करना चाहिये। यही बात आगे दिखलाते हैं—संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद और स्थान इन आठों भेदों के द्वारा पुलाकादिकों को सिद्ध करना चाहिये और वह इस तरह, संयम के द्वारा पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील ये सदा सामायिक और छेदोपस्थापना इन दो संयमों में रहते हैं। कषाय कुशील सामायिक छेदोपस्थापना परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म सांपराय इन चार संयमों में रहते हैं। निर्ग्रंथ और स्नातक एक ही यथाख्यात संयम में रहते हैं। श्रुत के द्वारा—पुलाक बकुश और प्रतिसेवना कुशील के उत्कृष्ट श्रुतज्ञान अभिन्नाक्षर दश पूर्व तक होता है। कषाय कुशील और निर्ग्रंथों के चौदह पूर्व तक होता है। जघन्य पुलाक के आचारवस्तु तक श्रुतज्ञान होता है। (आचारवस्तु आचारांग का एक भाग है) बकुश कुशील और निर्ग्रंथों के जघन्य श्रुतज्ञान अष्ट प्रवचनमातृका तक होता है। (आचारांग में एक अधिकार पांच समिति और तीन गुप्ति के व्याख्यान करने का है, उस अधिकार तक अष्ट प्रवचनमातृका कहते हैं) स्नातकों के कोई श्रुतज्ञान नहीं होता क्योंकि वे केवली होते हैं। प्रतिसेवना के द्वारा—प्रतिसेवना विराधना को कहते हैं। पुलाक मुनि के पांचों मूलगुण (महाव्रत) और रात्रिभोजन त्याग इन छह व्रतों में से दूसरे की जबदरस्ती से किसी एक में विराधना[1] होती है। बकुश दो प्रकार के हैं—एक उपकरण बकुश और दूसरे शरीर बकुश।

---

(१) इसका अभिप्राय यह है कि इन व्रतों की प्रतिज्ञा मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदन से होती है। उसमें सामर्थ्य की हीनता से किसी अंश में भंग हो जाता है।

पुलाको भवति। बकुशो द्विविधः, उपकरणबकुशः, शरीरबकुशश्चेति। तत्रोपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषोपयुक्तोपकरणाकांक्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणबकुशो भवति। शरीर-संस्कारसेवी शरीरबकुशः। प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु काञ्चि-द्विराधनां प्रतिसेवते। कषायकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकानां प्रतिसेवना नास्ति। तीर्थे-सर्वेषां तीर्थंकराणां तीर्थेषु भवन्ति। लिंगे, द्रव्यभावभेदाल्लिगं द्विविधं, भावलिगं प्रतीत्य सर्वे पंचाऽपि निर्ग्रन्था लिंगिनो भवन्ति, द्रव्यलिंगं प्रतीत्य भाज्याः। लेश्यायां पुलाकस्योत्तरास्तिस्त्रो लेश्या भवति बकुशप्रतिसेवनाकु-

---

जिसके चित्त में पीछो, कमंडलु, बन्ध आदि धर्मोपकरण की अभिलाषा रहती है, जो अनेक तरह के चित्र-विचित्र परिग्रहों को (पीछी, कमंडलु, पुस्तक बंधन आदि परिग्रहों को) धारण करता है, विशेष उपयोगी बहुत से उपकरणों की आकांक्षा रखता है और उनके संस्कार से विराधना करता रहता है, ऐसे मुनि को उपकरण बकुश कहते हैं। शरीर के संस्कारों की सेवा करने वाला मुनि शरीर बकुश कहलाता है। प्रतिसेवना कुशील नाम का मुनि मूलगुणों की विराधना तो नहीं करता किन्तु उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषाय कुशील, निर्गंथ और स्नातकों के विराधना[1] नहीं होती। तीर्थ के द्वारा—ये सब तरह के मुनि समस्त तीर्थंकरों के तीर्थों में होते हैं। लिंग दो प्रकार का है—एक भाव लिंग और दूसरा द्रव्य लिंग। भाव लिंग की अपेक्षा से पांचों प्रकार के सब ही मुनि निर्ग्रंथ लिंग को धारण करते हैं तथा द्रव्य लिंग की अपेक्षा से सबका अलग-अलग विभाग कर लेना[2] चाहिये।

लेश्या के द्वारा—पुलाक के पीत, पद्म, शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील के छहों लेश्याएं होती हैं। कषाय कुशील परिहार विशुद्धि वाले के

---

(१) त्याग की वस्तु को कारण पाकर ग्रहण कर लेना और फिर तत्काल ही सावधान होकर उसका त्याग कर देना प्रतिसेवना या विराधना कहलाती है।

(२) द्रव्य लिंग की अपेक्षा से—कोई आहार है, कोई उपवास करता है, कोई तप करता है, कोई उपदेश करता है, कोई अध्ययन करता है, कोई तीर्थ विहार करता है, कोई अनेक आसनों से ध्यान करता है, किसी के दोष लगता है, किसी के नहीं लगता, कोई प्रायश्चित्त लेता है, कोई आचार्य हैं, कोई निर्यापक हैं, कोई केवली हैं इत्यादि बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा अनेक तरह से लिंग भेद होता है।

शीलयोः षडपि, कषायकुशीलस्य परिहारविशुद्धस्य चतस्र उत्तराः, सूक्ष्मसांपरायस्य निर्ग्रन्थस्नातकयोश्च शुक्लैव केवला भवति, अयोगिनः शैलेशितां प्रतिपन्ना अलेश्याः। उपपादे, पुलाकस्योत्कृष्ट उपपादोऽष्टादशसागरोपमोत्कृष्टस्थितिषु देवेषु सहस्रारे, बकुशप्रतिसेवनाकुशीलयोर्द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिष्वारणाच्युतकल्पयोः, कषायकुशीलनिर्ग्रन्थयोस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिषु सर्वार्थसिद्धौ च सर्वेषामपि जघन्यः सौधर्मकल्पे द्विसागरोपमस्थितिषु, स्नातकस्य निर्वाणमिति। स्थानेऽसंख्येयानि संयमस्थानानि कषायनिमित्तानि भवन्ति। तत्र सर्वजघन्यानि लब्धिस्थानानि पुलाककषायकुशीलयोस्तौ युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छतः, ततः पुलाको व्युच्छिद्यते। कषायकुशीलस्ततोऽसंख्येयानि गच्छत्येकाकी ततः कषायकुशीलप्रतिसेवनाकुशीलबकुशा युगपदसंख्येयानि स्थानानि गच्छन्ति, ततो बकुशो व्युच्छिद्यते, ततोऽप्यसंख्येयानि स्थानानि गत्वा प्रतिसेवनाकुशीलो व्युच्छिद्यते, ततोऽप्यसंख्येयानि

कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये चारों लेश्याएं होती हैं। सूक्ष्म सांपराय निर्ग्रंथ और स्नातक के एक शुक्ल ही लेश्या होती है। मोक्षरूपी पर्वत के स्वामीपने को प्राप्त हुए अयोगकेवली लेश्यारहित होते हैं अर्थात् उनके कोई लेश्या नहीं होती। उपपाद के द्वारा—पुलाक मुनि का उत्कृष्ट उपपाद अठारह सागर की उत्कृष्ट आयु वाले देवों में सहस्रार स्वर्ग तक होता है। भावार्थ—पुलाक मुनि शरीर छोड़कर अधिक से अधिक सहस्रार स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील मुनि बाईस सागर की आयु पाकर आरण और अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकते हैं। कषाय कुशील और निर्ग्रंथ जाति के मुनि तेंतीस सागर की आयु पाकर सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न हो सकते हैं। इन सबका जघन्य उपपाद दो सागर की आयु लिये हुए सौधर्म स्वर्ग है, अर्थात् ये मुनि कम से कम दो सागर की आयु पाकर सौधर्म स्वर्ग में तो उत्पन्न होते ही हैं। स्नातक मुक्त ही होता है। स्थान के द्वारा—कषायों के निमित्त से संयम के असंख्यात स्थान होते हैं, उनमें से जघन्य लब्धि स्थान पुलाक और कषाय कुशील के होते हैं, वे दोनों ही असंख्यात स्थान तक तो साथ-साथ रहते हैं, परन्तु फिर भी पुलाक अलग हो जाता है, उसके बाद कषाय कुशील असंख्यात तक अकेला ही जाता है। उसके बाद कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश असंख्यात स्थान तक साथ-साथ जाते हैं, फिर बकुश नहीं रह जाता है, उसके बाद असंख्यात स्थान तक जाकर

स्थानानि गत्वा कषायकुशीलो व्युच्छिद्यते, अत ऊर्ध्वमकषायस्थानानि निर्ग्रन्थः प्रतिपद्यते, सोऽसंख्येतानि स्थानानि गत्वा व्युच्छिद्यते, अत ऊर्ध्वमेकस्थानं गत्वा स्नातको निर्वाणं प्राप्नोतीत्येषां संयमलब्धिरनन्तगुणा भवतीति । अथ परीषहजयप्रकरणं प्रस्तौति ।

संयतेन तपस्विना दर्शनचारित्ररक्षणार्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।

उक्तं हि— परिषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे निरतैः ।
संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्याः स्युः ॥

इत्युक्तत्वात्संयमतपसोर्मध्ये परीषहा उच्यन्ते । कर्मागमद्वाराणि संवृण्वंतो जैनेन्द्रान्मार्गान्मा च्योष्महीति पूर्वमेव परीषहान्विजयन्तो जितपरीषहाः संतस्तैरनभिभूयमानाः प्रधानसंवरमाश्रित्याप्रति-

---

प्रतिसेवना कुशील ठहर जाता है, उससे आगे भी असंख्यात स्थान जाकर कषाय कुशील रह जाता है। इसके बाद अकषाय स्थान हैं, उन्हें निग्रंथ प्राप्त करता है। वह भी असंख्यात स्थान जाकर अलग हो जाता है, उसके बाद एक स्थान ऊपर जाकर स्नातक मुक्त होता है। इन सबके उत्तरोत्तर संयम की प्राप्ति अनंत गुनी होती है।

इस प्रकार संयम का वर्णन किया है।



अब आगे परीषहजय प्रकरण को कहते हैं—संयमी तपस्वी को सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रक्षा करने के लिये परिषहों को सहन करना चाहिये। लिखा भी है—परिषोढव्या इत्यादि। दर्शन और चारित्र की रक्षा करने के लिये तत्पर रहने वाले मुनियों को सदा परिषहों का सहन करना चाहिये क्योंकि वे परीषहें संयम और तप दोनों का ही विशेष रूप हैं तथा उन्हीं दोनों का एक देश हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में लिखा है और इसलिये इस ग्रन्थ में ये परिषहें संयम और तप दोनों के मध्य में कही गई हैं। जो साधु कर्मों के आने के मार्ग को बन्द कर देते हैं तथा "मैं श्री जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मार्ग से कभी च्युत न होऊं" इसलिये जो पहले से ही परिषहों

संवरेण क्षपकश्रेण्यारोहणसामर्थ्यं प्रतिपद्यन्ते । अभिप्रोत्साहाः सकलसांपरायिकप्रध्वंसनशक्तयो ज्ञानध्यान-परशुच्छिन्नमूलानि कर्माणि विधूय प्रस्फोटितपक्षरेणव इव पतत्रिण उदूर्ध्वं व्रजंतीत्येवमर्थं परिषोढव्याः परीषहाः ।

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृण-स्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानीति क्षुधादयो द्वाविंशतिपरीषहाः । त एते बाह्याभ्यंतरद्रव्य-परिणामाः शरीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवस्तद्विजये विदुषा संयतेन तपस्विना मोक्षार्थिना प्रयत्नः कार्यः । तद्यथा—निवृत्तसंस्कारविशेषस्य शरीरमात्रोपकरणसन्तुष्टस्य तपःसंयमविलोपं परिहरतः कृतकारिता-

---

को जीतते रहते हैं, [इस तरह परिषहों को जीतकर जो कभी परिषहों से तिरस्कृत नहीं होते और मुख्य संवर का आश्रय लेकर बिना किसी रुकावट के क्षपक श्रेणी चढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त करते हैं, जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों पर लगी हुई धूल को झाड़कर ऊपर को उड़ जाते हैं उसी प्रकार जिनका उत्साह सदा पूर्ण रहता है और जो समस्त सांपराय आस्रव को नाश करने की शक्ति रखते हैं, ऐसे मुनिराज अपने ज्ञान और ध्यान रूपी कुल्हाड़ी से जड़ काटकर कर्मों को गिरा देते हैं—नष्ट कर डालते हैं और फिर मुक्त होकर ऊपर को गमन कर जाते हैं, इसी के लिये (मुक्त होने के लिये) परिषहों का सहन करना आवश्यक है ।]

क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, आरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, बध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन—ये बाईस परिषहें कही जाती हैं । ये परिषहें बाह्य और अभ्यंतर द्रव्यों के परिणामों से प्रकट होती हैं तथा शरीर और मन को सबसे कठिन पीड़ा देती हैं, इसलिये इनका विजय करने के लिये विद्वान और मोक्ष की इच्छा करने वाले संयमी तपस्वी को अवश्य प्रयत्न करना चाहिये । वह प्रयत्न किस प्रकार करना चाहिये यही आगे बतलाते हैं—

जिन्होंने शरीर के सब विशेष संस्कार छोड़ दिये हैं, जो केवल शरीर मात्र को ही धर्म का उपकरण मानकर उसी से संतुष्ट रहते हैं, जो तप और संयम के विघ्नों को सब तरह से दूर करते रहते हैं । कृत, कारित, अनुमत, संकल्पित, उद्दिष्ट, संक्लिष्ट, क्रियागत,

नुमतसंकल्पितोद्दिष्टसक्लिष्टक्रियागतप्रत्यादत्तपूर्वकर्मपश्चात्कर्मदशविधदोषविप्रमुक्तैषणस्य देशकाल-जनपदव्यवस्थापेक्षस्यानशनाध्वरोगतपःस्वाध्यायश्रमवेलातिक्रमावमोदर्यासद्वेद्योदयादिभ्यो नानाऽऽहा-रेन्धनोपरमे जठरांत्रदाहिनीमारुतांदोलिताऽग्निशिखेव समताच्छरीरेन्द्रियहृदयमक्षोभकरी क्षुदुत्पद्यते। तस्याः प्रतीकारं त्रिप्रकारमकाले संयमविरोधिभिर्वा द्रव्यै. स्वयमकुर्वतोऽन्येन क्रियमाणमसेवमानस्य-मनसा वाऽनभिसंद्धतो दुस्तरेय वेदना महांश्च कालो दीर्घमह इति विषादमनापद्यमानस्य त्वगस्थि-सिरावितानमात्रकलेवरत्यापि सतः आवश्यकक्रियादिषु नित्योद्यतस्य क्षुद्वशप्राप्तानर्थाचारकवधस्य-मनुष्यपंजरगततिर्यक्प्राणिन. क्षुदभ्यर्दितान्परतन्त्रानपेक्षमाणस्य ज्ञानिनो घ्रतथभसा शमकुंभधारितेन क्षुदग्नि शमयतस्तत्कृतपीडां प्रत्यविगणन क्षुज्जय इत्युच्यते।

प्रत्यावत्त, पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म—इन दस प्रकार के दोषों में से कोई भी दोष लग जाने से जो उसी समय आहार का त्याग कर देते हैं तथा जो देशकाल और देश की व्यवस्था की भी अपेक्षा रखते हैं उनके उपवास, मार्ग का परिश्रम, रोग का परिश्रम, तपश्चरण का परिश्रम, स्वाध्याय का परिश्रम, आहार के समय का उल्लंघन हो जाना, अवमोदर्य अर्थात् कम भोजन करना और असाता वेदनीय कर्म का उदय इन सब कारणों के द्वारा अनेक आहार रूपी ईंधनों से वंचित रह जाने पर (कितने ही दिन तक आहार न मिलने पर) पेट की आंतों की दाहिनी ओर की वायु के आंदोलन से बढ़ी हुई अग्नि की शिखा के समान चारों ओर से शरीर, इन्द्रिय और हृदय को क्षोभ उत्पन्न करने वाली जो क्षुधा उत्पन्न होती है उस क्षुधा का प्रतिकार मन, वचन, काय तीनों से असमय में संयम की विराधना करने वाले द्रव्यों से न तो वे स्वयं करते हैं, न करने वाले अन्य किसी को करने देते हैं और न मन में कभी भी उस क्षुधा का प्रतिकार करने के लिये विचार करते हैं, "यह क्षुधा की वेदना या भूख का दुःख बड़ा ही कठिन है, समय बहुत बड़ा है और अभी दिन बहुत बाकी है" इस प्रकार का विषाद या खेद भी कभी नहीं करते, शरीर में केवल चमड़ा, हड्डी और नसों का जालमात्र रह जाने पर भी आवश्यक कार्यों में सदा तत्पर रहते हैं। क्षुधा के कारण जिन्हें अनेक अनर्थ प्राप्त हुए है, ऐसे जेलखाने या हिरासत में रोके हुए मनुष्य अथवा पिंजड़ों में पड़े हुए पशु-पक्षी आदि भूख से पीड़ित रहने वाले और परतन्त्र रहने

जलस्नानावगाहनपरिषेकत्यागिनः पतत्त्रिवदनवस्थितासनावसथस्यातिलवणस्निग्धरूक्षविरुद्धाहार-ग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनीं पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारमनसो निदाघे पटुतपनकिरणसंतापिनोऽप्यटव्यामासन्नेऽप्यपि ह्रदेऽप्कायिकजीवपरिहारेच्छया जलमनाद-दानस्य सलिलसेकविवेकम्लानां लतामिव ग्लानिमुपगतां गात्रयष्टिमनपेक्ष्य तपःपरिपालनपरस्य भिक्षाकालेऽपींगिताकारादिभिर्योग्यमपि पानं पातुं परमचोदयतः परमधैर्यकुंभधारितशीतलसुगन्धिप्रति-ज्ञातोयेन विध्यापयतस्तृष्णाग्निशिखां संयमपरत्व पिपासासहनमित्यवसीयते ।

वालों के दुःखों का सदा विचार करते रहते हैं। ऐसे ज्ञानी मुनिराज शांत परिणाम रूपी घड़े में भरे हुए धैर्य रूपी जल से क्षुधा रूपी अग्नि को शांत करते रहते हैं और इस तरह उस क्षुधा से उत्पन्न हुई पीड़ा को बिलकुल नहीं जानते उसको क्षुधाविजय अथवा क्षुधा परीषह का जीतना कहते हैं।

जो मुनिराज पानी से स्नान करना, पानी में अवगाहन करना या पानी का छिड़कना आदि बातों के त्यागी हैं, पक्षियों के समान न तो जिनका कोई आसन ही निश्चित है और न कोई स्थान ही निश्चित है, भोजन में अधिक लवण आ लेने से, चिकने, रूखे अथवा और किसी तरह के विरुद्ध आहार का संयोग मिल जाने से या गर्मी, धूप, पित्तज्वर, उपवास आदि अनेक कारणों के द्वारा जो शरीर और इंद्रियों को अत्यन्त त्रास देने वाली प्यास लगती है उसके प्रतीकार करने का विचार वे कभी मन में भी नहीं लाते, गर्मी का समय है, सूर्य की तेज किरणें जला रही हैं, वन में सरोवर भी पास है तो भी जल-कायिक जीवों के बचाव करने की इच्छा से कभी जल ग्रहण नहीं करते, जल सींचने के बिना मुरझाई हुई लता के समान या ग्लानि करने योग्य बुरी दशा को प्राप्त हुई शरीर रूपी लकड़ी को कुछ भी न गिनते हुए तपश्चरण के पालन करने में ही तत्पर रहते हैं, भिक्षा करने के समय भी किसी इशारे या आकार से योग्य पानी को पीने के लिये भी प्रेरणा नहीं करते और परम धैर्य रूपी घड़े में भरे हुए शीतल सुगंधित प्रतिज्ञा रूपी जल से जो प्यास रूपी

परित्यक्तवाससः पक्षिवदनवधारिताऽऽलयस्य शरीरमात्राधिकरणस्य शिशिरसंतजलदाग-मादिकालवशाद् वृक्षमूले पथि गुहादिषु पतितप्रालेयतुषारलवव्यतिकरशिशिरपवनाभ्याहतमूर्त्तेस्तत्-प्रतिक्रियासमर्थद्रव्यान्तराग्न्याद्यनभिसंधानान्नारकदुःसहशीतवेदनाऽनुस्मरणात् तत्प्रतिचिकीर्षायां। परमार्थविलोपभयाद्विद्यामंत्रौषधपर्णवल्कलत्वक्तृणाजिनादिसंबंधात् व्यावृत्तमनसः परकीयमिव देहं मन्यमानस्य धृतिविशेषप्रावरणस्य गर्भागारेषु धूपप्रवेकपुष्पप्रकरप्ररूपितप्रदीपप्रभेषु वरांगनानवयौव-नोष्णघनस्तननितंबभुजान्तरर्तजितशीतेषु निवासं सुरतसुखाकरमनुभूतमसारत्वावबोधादस्मरतो विषादविरहितस्य संयमपरिपालनं शीतक्षमेति भाष्यते।

अग्नि की शिखा को बुझाते हैं उनके संयम में तत्पर रहने वाला पिपासा विजय अथवा पिपासा परिषह का सहन करना कहलाता है ।

जिन्होंने वस्त्रमात्र का त्याग कर दिया है, पक्षियों के समान जिनका कोई स्थान निश्चित नहीं है, जाड़े, गर्मी और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे चौहटे तथा गुफा आदिकों में रहने से जाड़े के दिनों में जो बहुत सा बर्फ या ओस पड़ती है तथा बहुत से ओले बरसते हैं उनकी ठंडी वायु से जिनका शरीर अत्यन्त ठंडा हो रहा है उस ठंडक को दूर करने की सामर्थ्य रखने वाले अग्नि आदि अन्य द्रव्यों की भरपूर अनिच्छा होने से, नारकियों की शीत वेदना के घोर दुःखों का स्मरण करने से तथा उस ठंडक को दूर करने का उपाय करने में परमार्थ के बिगड़ने का भय होने से विद्या, मंत्र, औषध, पत्ते, छाल, चमड़ा, तृण आदि पदार्थों के सम्बन्ध से जिनका चित्त बिल्कुल हट गया है, जो शरीर को बिल्कुल दूसरा (आत्मा से भिन्न) मानते है, जिन्होंने एक प्रकार का अटल धैर्य रूपी वस्त्र ही ओढ़ रखा है, मुनि होने के पहिले जो ऐसे भीतरी घरों में रहते थे जिनमें चारों ओर धूप जल रही थी, पुष्पों के ढेर लग रहे थे, दीपक का प्रकाश हो रहा था और नवयौवन उत्तम स्त्रियों के उष्ण स्तन, नितम्ब और भुजाओं के मध्य भाग में रहने से शीत दूर ही से भाग रहा था ऐसे घरों में सुरतसुख का आनन्द लेते हुए निवास करते थे परन्तु अब उस अनुभूत सुख में भी कुछ सार न होने से कभी उसका स्मरण तक नहीं करते हैं तथा दुस

प्रकर्ष्येण पटीयसा भास्करकिरणसमूहेन सन्तापितशरीरस्य तृष्णानशनपित्तरोगघर्मश्रमप्रादुर्भूतौष्ण्यस्य खेदशोषदाहाऽभ्यर्दितस्य जलभवनजलावगाहनानुलेपपरिषेकार्द्रावनितलोत्पलदलकदलीपत्रोत्क्षेपमारुतजलतूलिकाचन्दनद्रवचन्द्रपादकमलकल्हारमुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनाऽपेतचेतस उष्णवेदनातितीव्रा बहुकृत्वः परवशादवाप्ता इयं पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति तद्विरोधिनीं क्रियां प्रत्यनादरात्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समाम्नायते ।

प्रकार की शीत वेदना को सहन करते हुए भी कभी विषाद नहीं करते हैं और इस तरह संयम का परिपालन पूर्ण रीति से करते हैं उसको शीतविजय अथवा शीत परिषह का सहन करना कहते हैं ।

अत्यन्त उष्ण और बहुत तेज सूर्य की तेज किरणों से जिनका शरीर सब संतप्त हो गया है, प्यास, उपवास, पित्त, रोग, धूप, परिश्रम आदि कारणों से जिनके शरीर में उष्णता प्रकट हो रही है, जो खेद, शोष और दाह से मर्दित हो रहे हैं, मुनि होने के पहले जो जलभवन में रहते थे, जल में अवगाहन करते थे, शरीर पर ठंडा लेप लगाते थे, शरीर पर गुलाबजल आदि छिड़कते थे, जमीन पर छिड़काव कर बैठते थे, कमलों के दल, केलों के पत्ते बिछाते थे ऊपर से वायु झेलते थे, जल की बावड़ी में क्रीडा करते थे, चंदन का लेप करते थे, चन्द्रमा की चांदनी में बैठते थे, कमल कमोदनी और मोतियों के हार पहिनते थे, इत्यादि बहुत से शीतल पदार्थों को काम में लाते थे परन्तु अब भोगे हुए पदार्थों से भी जिन्होंने अपना चित्त बिलकुल हटा लिया है, जो सदा यही विचार करते रहते हैं कि मैंने परवश होकर अनेक बार अत्यन्त तीव्र उष्ण वेदनाएं सहन कीं परन्तु अब स्वयं इस वेदना को सहन करना तो मेरा तपश्चरण है जो कि कर्मों के नाश करने का कारण है इसीलिये जो उष्णता को दूर करने वाली क्रियाओं के प्रति कभी आदर भाव नहीं करते और इस तरह अपने चारित्र की रक्षा पूर्ण रीति से करते हैं उसको उष्णविजय अथवा उष्ण परिषह को जीतना या सहन करना कहते हैं ।

प्रत्याख्यातशरीराच्छादनस्य क्वचिदप्रतिबद्धचेतसः परकृतायतनगुहागह्वरादिषु रात्रौ दिवा वा दंशमशकमक्षिकापिशुकपुत्तिकामकुणकीटपिपीलिकावृश्चिकादिभिस्तीक्ष्णपातैर्भक्षमाणस्यातितीव्रवेदनोत्पादकैरव्यथितमनसः स्वकर्मविपाकमनुचिन्तयतो विद्यामंत्रौषधादिभिस्तन्निवृत्तिं प्रति निरुत्सुकस्याऽऽशरीरपतनादपि निश्चितात्मनः परबलप्रमर्दनं प्रति वर्त्तमानस्य मदांधगंधसिंधुरस्य रिपुजनप्रेरितविविधशस्त्रप्रतिघातादपराङ्मुखस्य निष्प्रत्यूहविजयोपलंभनमिव कर्म्मारातिपृतनापराभवं प्रति प्रयतनं दंशमशकादिबाधासहनमप्रतीकारमित्याख्यायते । दंशमशकमात्रग्रहणमुपलक्षणार्थं, तेन दंशमशकादिपरितापकारणस्य सर्वस्यैवेदमुपलक्षणं, यथा काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामिति ।

जिन्होंने सब तरह के शरीर के आच्छादनों को त्याग कर दिया है, जिनका हृदय किसी एक जगह बंधा हुआ नहीं है, दूसरे के बनाये हुए वसतिका, गुफा, कोटर आदि स्थानों में रहने से रात्रि या दिन में डांस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, मधुमक्खी, खटमल, कीड़े, चींटी और बिच्छू आदि तीक्ष्ण जानवर जिन्हें काट रहे हैं और अत्यन्त तीव्र वेदना दे रहे हैं, तथापि जिनका हृदय कभी व्यथित या खिन्न नहीं होता, जो सदा अपने कर्मों के उदय का चिंतवन करते रहते हैं, विद्या, मन्त्र, औषधि आदि के द्वारा उन जानवरों को जो कभी दूर करने की इच्छा नहीं करते, शरीर का नाश होने तक भी जो अपनी आत्मा में ही निश्चल रहते हैं, जिस प्रकार जो दूसरे के बल को मर्दन करने के लिये (चूर करने के लिये) तैयार हैं, जिसकी सेना में मदोन्मत्त गंधसिंधुर नाम के हाथी हैं और जो शत्रुओं के द्वारा चलाये हुए अनेक तरह के शस्त्रों से भी कभी विमुख नहीं होता, ऐसे किसी राजा का विजय निर्विघ्न होता है उसी प्रकार कर्म रूपी शत्रुओं की सेना का पराभव करने के लिये प्रयत्न करना दंशमशकबाधासहन अथवा दंशमशक परीषह का जीतना कहलाता है। यहां पर दंशमशक का ग्रहण उपलक्षण से किया है, जैसे "कौए से दही की रक्षा करना" यह उपलक्षण है। इसका अभिप्राय यह है कि कौए से तथा कुत्ता, बिल्ली आदि सबसे दही की रक्षा करना, उसी प्रकार डांस, मच्छर की परीषह सहन करने का अभिप्राय डांस, मच्छर, बिच्छू, मक्खी आदि सभी जानवरों की परीषह सहन करना है।

गुप्तिसमित्यविरोधपरिग्रहनिवृत्तिपरिपूर्णब्रह्मचर्यमप्रार्थितमोक्षसाधनं चरित्रानुष्ठान यथाजातरूपमसंस्कृतमविकारं मिथ्यादर्शनाविष्टविद्विष्टं परममागल्य नाग्न्यमभ्युपगतस्य स्त्रीरूपाणि नित्याशुचिबीभत्सकुणपभावेन पश्यतो वैराग्यभावनावरुद्धमनोविक्रियस्यासभावितमनुष्यत्वस्य नाग्न्यदोषासंस्पर्शात्परीषहजयसिद्धिरिति जातरूपधारणमुत्तमश्रेयःप्राप्तिकारणमित्युच्यते । इतरे पुनर्मनोविक्रिया निरोद्धुमसमर्थास्तात्पूर्विकामंगविकृतिं निगूहितुकामाः कौपीनफलकचीवराद्यावरणमातिष्ठन्तेंऽगसंवरणार्थमेव, तन्न कर्मसंवरणकारण ।

सयतस्य क्षुधाद्याऽऽबाधासंयमपरिरक्षणेंद्रियदुर्जयत्वव्रतपरिपालनभारगौरवसर्वदाऽप्रमत्तत्व-

---

जो गुप्ति समितियों का कभी विरोध नहीं करता, परिग्रह का बिलकुल त्याग कर देता है और ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है, बिना प्रार्थना किये ही जो मोक्ष का साधन है, चारित्र का अनुष्ठान करने वाला है, जिसका स्वरूप पैदा हुए के समान स्वाभाविक है, बिना संस्कार किया हुआ और विकाररहित है, मिथ्यादर्शन से जकड़े हुए लोगों का विरोधी है और परम मंगल रूप है, ऐसे नाग्न्य को (नग्न अवस्था को) जो धारण करते हैं, जो स्त्रियों के स्वरूप को सदा अपवित्र, वीभत्स और घृणित भाव से देखते हैं, वैराग्य भावनाओं के द्वारा जिनके मन के सब विकार रुक गये हैं, जो अपनी मनुष्य पर्याय का कभी विचार नहीं करते केवल आत्मा में ही लीन रहते हैं, उनके नग्न रहने से उत्पन्न होने वाले दोषों का स्पर्श न होने से नग्न परिषह के विजय होने की सिद्धि होती है अर्थात् नग्न परिषह का विजय करना या सहन करना कहलाता है। इसीलिये नग्न अवस्था धारण करना उत्तम से उत्तम कल्याण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति का कारण कहा जाता है। जो लोग नग्न अवस्था धारण नहीं कर सकते, वे मन के विकारों को रोक नहीं सकते। इसीलिये उन विकारों के कारण उत्पन्न हुये शरीर के विकारों को छिपाने की इच्छा से शरीर को ढकने के लिये कोपीन, लंगोटी, कपड़ा आदि शरीर ढकने के वस्त्रों को ग्रहण करते हैं। परन्तु उनकी इस क्रिया से आते हुये कर्म कभी नहीं रुक सकते।

जो मुनि भूख-प्यास आदि की बाधायें उत्पन्न होना, संयम की रक्षा करना,

देशभाषांतरानभिज्ञत्वविषमचपलसत्वप्रचुरभीमदुर्गनियतैकविहारत्वादिभिररतिं प्रादुष्यन्ती [?] धृतिविशेषान्निवारयतः सयमे रतिभावनाद्विषयसुखरतिमतिविषमाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतोऽरतिपरीषहबाधाऽभावादरतिपरीषहजय इति निश्चीयते ।

एकान्ते भवनारामादिप्रदेशे रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानाऽऽवेशादिभिः प्रेमदासु बाधमानासु तदक्षिवक्रभ्रूविकारशृंगाराकारविहारहावविलासहासलालाविजृंभितकटाक्षविक्षेपसुकुमारस्निग्धमृदुपीनोन्नतस्तनकलशनितान्तताम्राधरपृथुजघनरूपगुणाभरणगन्धवस्त्रमाल्यादीन्प्रत्ययनगृहीतमनोविप्लुतेर्दर्शनाभिलाषनिरुत्सुकस्य स्निग्धमृदुविशदसुकुमाराभिधानतंत्रीवंशमिश्रमधुरगीतश्रवणनिवृ-

---

इंद्रियों का दुर्जयपना, व्रतों के पालन करने के भार से गौरव धारण करना, सदा अप्रमत्त या प्रमादरहित रहना, अनेक देशों की भाषाओं को न जानना, विषम तथा चंचल प्राणियों का तथा अत्यन्त भयानक पदार्थों का संसर्ग होना और दुर्गम एक क्षेत्र में नियम रूप से विहार करना आदि कारणों के द्वारा जो अरति उत्पन्न होती है, उसे विशेष धैर्य से निवारण करते हैं और जो संयम में प्रेम रूप भावना होने के कारण विषय सुख से उत्पन्न हुई रति को अत्यन्त विषम आहार ग्रहण करने के समान फल देने के समय अत्यन्त कड़वी अथवा दुःखदायक समझते हैं, उनके अरति परिषह की बाधा कभी नहीं हो सकती, इसीलिये उनके अरति परिषह का जीतना अथवा सहन करना कहलाता है ॥७॥

किसी वसतिका अथवा बगीचा आदि एकान्त स्थानों में राग से, द्वेष से, यौवन के दर्प से, रूप के मद से अथवा विभ्रम, उन्माद और मद्यपान आदि के आवेश से अनेक स्त्रियां आकर सतावें तो उस समय भी उन स्त्रियों के नेत्र, टेढ़ी भोओं के विकार, शृंगार, आकार, विहार, हाव, भाव, विलास, हास, लीला, पूर्व के फेंके हुये कटाक्ष, सुकुमार कोमल चिकने और बड़े उठे हुये स्तन रूपी कलश, अत्यन्त लाल अधर, बड़े-बड़े जघन, रूप, गुण, आभरण, गन्ध, वस्त्र, माला आदि से भी जिनके मन में कभी विकार प्रकट नहीं होता, जो उनके देखने की भी कभी इच्छा नहीं करते, स्निग्ध, कोमल, विशद और सुकुमार नाम की वीणाओं की आवाज में मिले हुए मधुर गीतों के सुनने से भी जो अपने कानों को बिल्कुल

त्तादरश्रोत्रस्य कूर्मवत्संवृतेन्द्रियहृदयविकारस्य ललितस्मितमृदुकथितसविकारवीक्षणप्रहसनमदमंथरगमनमन्मथशरव्यापारविफलीकरणचरणस्य संसारार्णवव्यसनपातालरौद्रदुःखागाधावर्त्तकुटिलाध्यायिनः स्त्रैणानर्थनिवृत्तिः स्त्रीपरीषहजय इति कथ्यते । अन्यवादिपरिकल्पिता देवताविशेषा ब्रह्मादयस्तिलोत्तमादिदेवगणिकारूपसंपद्दर्शनलोललोचनविकाराः स्त्रीपरीषहपंकान्नोद्धर्तुमात्मानं समर्थाः ।

दीर्घकालाऽभ्यस्तगुरुकुलब्रह्मचर्यस्याधिगतबंधमोक्षपदार्थतत्त्वस्य कषायनिग्रहपरस्य भावनार्पितमनसः संयमायतनादिभक्तिहेतोर्देशान्तरातिथेर्गुरुणाऽभ्यनुज्ञातस्य नानाजनपदव्याहारव्यवहाराभिज्ञस्य ग्राम एकरात्रं नगरे पंचरात्रं प्रकर्षेणावस्थातव्यमित्येवं यातस्य वायोरिव निःसंगतामुपगतस्य देशकाल-

---

दूर हटा लेते हैं, जो कछुए के शरीर के समान इंद्रिय और हृदय के विकारों को संकुचित कर लेते हैं, मनोहर हास्य, मधुर भाषण, सविकार वीक्षण, हंसी-ठट्ठा, मदोन्मत्त होकर धीरे-धीरे गमन करना और कामदेव के बाणों के व्यापार आदि सबको निष्फल करने वाला जिनका चारित्र है और जो सदा यही विचार किया करते हैं कि यह संसार महासागर है, संकट रूप पाताल और सब नारकीय रौद्र दुःखस्वरूप अगाध भ्रमणों के द्वारा कुटिल है, इस प्रकार का विचार करते हुए जो स्त्रियों के अनर्थों से अलग रहते हैं, उनके स्त्रीपरिषहजय अर्थात् स्त्री परिषह को जीतना या सहन करना कहलाता है। अन्य वादियों के कल्पना किये हुए ब्रह्मा आदि विशेष देवताओं के भी चंचल नेत्रों में तिलोत्तमा आदि देव गणिकाओं की रूप संपत्ति देखकर विकार उत्पन्न हो आया था और वे स्त्री-परिषह रूपी कीचड़ से अपनी आत्मा का उद्धार नहीं कर सके थे ॥८॥

जिन्होंने गुरुकुल में (आचार्य के संघ में) बहुत दिन तक रहकर ब्रह्मचर्य का अभ्यास किया है, जो बंध मोक्ष आदि पदार्थों और तत्त्वों को अच्छी तरह जानते हैं, कषायों के निग्रह करने में सदा तत्पर रहते हैं, जिनका मन सदा भावनाओं में ही लगा रहता है, जो संयम पालन करने के लिये और तीर्थ क्षेत्र आदि धर्मायतनों की भक्ति करने के लिये अन्य देशों में भी विहार करते हैं, अन्य देशों में जाने के लिये जिन्होंने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर ली है, जो अनेक देशों के आहार-व्यवहार को अच्छी तरह से जानते हैं, "अधिक से अधिक गांव में एक रात रहेंगे और नगर में पांच रात रहेंगे" यही समझकर जो गमन करते हैं, जो वायु के समान परिग्रहरहित हैं, देशकाल के प्रमाण के अनुसार

प्रमाणोपेतमध्वगमनमनुभवतः क्लेशक्षमस्य भीमाटवीप्रदेशेषु निर्भयत्वात्सिंहस्येव सहायकृत्यमनपेक्षमाणस्य परुषशर्कराकंटकादिव्यथनजातपादखेदस्यापि सतः पूर्वोचितयानवाहनादिगमनमस्मरतः सम्यक चर्यादोषं परिहरतः चर्यापरीषहजयो वेदितव्यः।

श्मशानोद्यानशून्यागारगिरिगुहागह्वरादिष्वनभ्यस्तपूर्वेषु विदितसंयमक्रियस्य धैर्यसहायस्योत्साहवतो निषद्यामधिरूढस्य प्रादुर्भूतोपसर्गोत्रोगविकारस्यापि सतस्तत्प्रतिदेशादविचलतो मंत्रविद्यादिलक्षणप्रतीकारानपेक्षमाणस्य क्षुद्रजन्तुप्रायविषमदेशाश्रयात्काष्ठोपलनिश्चलस्यानुभूतमृदुसंस्तरणादिस्पर्शसुखमवगणयतः प्राणिपीडापरिहारोद्यतस्य ज्ञानध्यानभावनाधीनधियः संकल्पितवीरासनोत्कुटिकासनादिरतेरासनदोषजयान्निषद्यातितिक्षेत्याख्यायते।

प्राप्त हुये मार्ग के गमन का जिन्हें पूर्ण अनुभव है, जो क्लेशों को सहन करने में समर्थ हैं, भयानक वनों में भी सिंह के समान निर्भय होकर गमन करते हैं तथा किसी तरह की भी सहायता की अपेक्षा नहीं रखते, कठिन बालू, कांटे आदि के द्वारा पैर फट जाने से जिनके पैरों में खेद हो रहा है तो भी पहिले के रथ, घोड़ा आदि सवारियों पर किये हुए गमन को कभी स्मरण तक नहीं करते, इस प्रकार जो चर्या के (चलने के) दोषों को अच्छी तरह दूर करते हैं उनके चर्यापरिषहजय अथवा चर्या परिषह को जीतना या सहन करना कहलाता है ।।६।।

जो श्मशान, उद्यान, सूना मकान, पर्वत की गुफा और कोटर आदि ऐसे स्थानों में जाकर विराजमान होते हैं जहां कभी भी पहिले विराजमान न हुए हों, जो संयम की सब क्रियाएं जानते हैं, धैर्य ही जिनका सहायक है, जो बड़े उत्साही हैं, उपसर्ग और उग्र रोगों के विकार उत्पन्न होने पर भी उस स्थान से कभी चलायमान नहीं होते, मंत्र विद्या आदि कारणों के द्वारा जो कभी उसका प्रतिकार नहीं चाहते, अनेक छोटे-छोटे जन्तुओं के होने से तथा विषम (ऊंचा-नीचा) स्थान होने से जो लकड़ी और पत्थर के समान निश्चल रहते हैं, पहिले अनुभव किए हुए कोमल बिछौने आदि के स्पर्श के सुख को जो कभी मन तक में नहीं लाते, सदा प्राणियों की पीड़ा दूर करने के लिए ही तत्पर रहते हैं, जिनकी

स्वाध्यायध्यानाध्वश्रमपरिखेदितस्य खरविषमप्रचुरशर्कराकपालसंकटातिशीतोष्णेषु मौहूर्तिकी निद्रामनुभवतो यथाऽऽकृतैकपार्श्वदंडायतादिशायिनः संजातबाधिविक्षेपस्य संयमार्थमस्पन्दमानस्यानुतिष्ठतो व्यन्तरादिभिर्वा वित्रास्यमानस्य पलायनं प्रति निरुत्सुकस्य मरणभयनिर्विशंकस्य निपतितदारुवत् व्यपगतासुवच्च परिवर्तमानस्य द्वीपिशार्दूलमहोरगादिदुष्टसत्वपरिचरितोऽयं प्रदेशोऽचिराद्वतो निर्गमनं श्रेयः कदा नु रात्रिर्विरमतीति विषादमनाददानस्य सुखप्राप्तावप्य परितुष्यतः पूर्वानुभूतनवनीतवन्मृदुशयनमननुस्मरतः सम्यगागमोदितशयनादप्रच्यवतः शय्यासहनमिति तत्प्रत्येतव्यं ।

बुद्धि ज्ञान और ध्यान की भावना के ही आधीन रहती है और जो प्रतिज्ञा किए हुए वीरासन, उत्कुटिकासन आदि में सदा तल्लीन रहते है ऐसे मुनियों के आसन के दोषों का विजय होने से निषद्यापरिषहसहन अथवा निषद्यापरिषह का जीतना कहते हैं ॥१०॥

जो स्वाध्याय, ध्यान और मार्ग के परिश्रम से खेदखिन्न हैं, कठिन, ऊंची-नीची, बहुत सी रेती वाली जिसमें बहुत से कपाल या टुकडे पड़े हुए हैं जो अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्ण है ऐसी भूमि के ऊपर जो मुहूर्त भर निद्रा का अनुभव करते हैं, सीधे लेटकर या किसी एक करवट से लेटकर दंडे के समान निद्रा लेते हैं, विशेष बाधा या उपद्रव उपस्थित होने पर भी संयम पालन करने के लिए जो किसी तरह की हलन-चलन क्रिया नहीं करते, व्यंतरादि देव अनेक तरह की पीड़ा देते हैं तथापि जो भागने की बिल्कुल इच्छा नहीं करते, जिन्हें मरने का डर बिल्कुल नहीं है, पड़ी हुई लकड़ी के समान अथवा मरे हुए मुर्दे के समान जो अपना शरीर निश्चल रखते हैं "यह स्थान गेंडा, सिंह, सर्प, अजगर आदि दुष्ट जीवों से भरा हुआ है इसलिये यहां से शीघ्र ही दूसरी जगह चला जाना अच्छा है, यह रात कब पूरी होगी" इत्यादि विषाद कभी नहीं करते, सुख मिलने पर भी जो हर्ष नहीं मानते, पहिले अनुभव की हुई मक्खन के समान कोमल शय्या का जो स्मरण नहीं करते और जो आगम के अनुसार कहे हुए उत्तम निर्दोष शयन करने से कभी अलग नहीं होते ऐसे मुनियों के शय्या सहन अथवा शय्या परिषह का जीतना कहलाता है ॥११॥

तीव्रमोहाऽऽविष्टमिथ्यादृष्टयनार्यम्लेच्छखलपापाचारमत्तोदृप्तशंकितप्रयुक्त 'मा' शब्दपरुषावज्ञानाक्रोशादीन्कर्णमूले गतान् हृदयशलोद्भावकान् क्रोधज्वलनशिखाप्रवर्द्धनकरानभिप्रायान् शृण्वतोऽपि दृढमनसो दुर्भाषिणो भस्मसात्कर्त्तुमपि समर्थस्य परमार्थाविहितचेतसः शब्दमात्रश्राव्विणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैव यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते ।

ग्रामोद्याननगराटवीपुरेषु नक्तं दिवा चैकाकिनो निरावरणमूर्त्तेः समन्तात्पर्यटद्भिश्चोरारक्षकम्लेच्छचारपुरुषवधिरपूर्वापकारिद्विषत्परलिंगिभिराहितक्रोधैस्ताडनाकर्षणबन्धनशस्त्राभिघातादिभि-

---

जो कान के पास जाते ही हृदय में शूल उत्पन्न कर दें और क्रोध रूपी अग्नि की शिखा को खूब बढ़ा दें ऐसे तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से घिरे हुए मिथ्यादृष्टि, अनार्य, म्लेच्छ, दुष्ट, पापाचारी, मदोन्मत्त और महाअभिमानी और सशंकित जीवों के कठोर वचन, धिक्कार के वचन और निंदा करने वाले तथा गाली आदि बुरे वचनों को तथा उनके बुरे अभिप्रायों को सुनते हुए भी जिनका मन सदा दृढ़ रहता है, यद्यपि बुरे वचन कहने वाले को भस्म करने की सामर्थ्य रखते हैं तथापि परमार्थ की ओर चित्त लगे रहने से उस बुरे वचन कहने वाले की ओर या उसके अभिप्रायों की ओर कभी आंख उठाकर देखते तक नहीं, जो सदा यही विचार करते हैं कि "यह मेरे ही अशुभ कर्मों का उदय है जो ये लोग मुझसे द्वेष करते हैं" इस प्रकार के उपायों से अनिष्ट वचनों को सहन करना आक्रोश परिषहजय अथवा आक्रोश परिषह को जीतना या सहन करना कहते हैं ।।१२।।

जो गांव, उद्यान, नगर, वन और पुर में रात-दिन अकेले रहते हैं तथा जिनका शरीर बिल्कुल आवरणरहित है उन मुनियों को चारों ओर फिरते हुए चोर, लुटेरे, म्लेच्छ, जासूस, बहिरे, जिनका पहले कुछ अपकार हो चुका है और स्वाभाविक द्वेष करने वाले अन्यमती लोग क्रोधित होकर ताड़ना करते हैं, खींचते हैं, बांधते हैं और शस्त्रों की चोट से मारते हैं तथापि जिन्हें वैर उत्पन्न नहीं होता, वे शुद्ध भावों से यही विचार

मार्यमाणस्यानुत्पन्नवैरस्यावश्यं प्रपातुकमेवेदंशरीरंकुशलद्वारेणानेनापनीयते न मम व्रतशीलभावनाभ्रंशनमिति भावशुद्धस्य दह्यमानस्यापि सतः सुगन्धमुत्सृजतश्चन्दनस्येव शुभपरिणामस्य स्वकर्मनिर्जरामभिसंदधानस्य दृढमतेः क्षमौषधिबलस्य मारकेषु सुहृत्स्विवामर्षापोहभावनं वधमर्षणमित्याम्नायते ।

क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिभिरप्रच्यवितवीर्यस्य शुष्कपादपस्येव निरार्द्रमूर्त्तेरुन्नतास्थिस्नायुजालस्य निम्नाक्षपुटपरिशुष्काधरक्षामपांडुकपोलस्य चर्मवत्संकुचितांगोपांगत्वचः शिथिलजानुगुल्फकटिवाहुयंत्रस्य देशकालक्रमोपपन्नकल्पादायिनो वाचंयमस्य मौनिसमस्य वा शरीरसन्दर्शनमात्रव्यापारस्यो-

---

करते हैं कि "यह शरीर अवश्य ही नष्ट होने वाला है, यह कुशलतापूर्वक इसे नष्ट कर रहा है, कुछ मेरे व्रतशील और भावनाओं का नाश तो नहीं करता—इस प्रकार जिनके भाव शुद्ध रहते हैं, शरीर को जला देने पर भी जो सुगंध छोड़ते हुए चन्दन के समान अपने परिणामों को सदा निर्मल रखते हैं, अपने कर्मों की निर्जरा करने में ही तत्पर रहते हैं, जिनकी बुद्धि सदा दृढ़ रहती है और जिनके क्षमा रूपी औषधि ही सबसे बड़ा बल रहता है और जो मारने वाले को भी मित्र के समान ही देखते हैं ऐसे मुनियों के जो ईर्ष्या, द्वेष दूर करने की भावना रहती है उसे वधमर्षण अथवा वधपरिषह का जीतना कहते हैं ।।१३।।

क्षुधा, मार्ग का परिश्रम, तप और रोगादिक के कारण भी जिनकी शक्ति कम नहीं हुई है, सूखे वृक्ष के समान जिनके शरीर में आर्द्रता या शिथिलता बिल्कुल नहीं आई है, परन्तु जिनकी हड्डी और नसों का समूह नवा भी नहीं है, ज्यों का त्यों उन्नत रहता है, जिनके दोनों नेत्र नीचे की ओर रहते हैं, अधर सूखे रहते हैं तथा कपोल दुबले और सफेद रहते हैं, चमड़े के समान जिनके अंग और उपांगों का चमड़ा संकुचित हो गया है, जंघायें, एड़ियां, कमर और भुजायें जिनकी शिथिल हो गई हैं, जो देशकाल के क्रम के योग्य आहार ग्रहण करते हैं, जिन्होंने बोलना बन्द कर दिया है अर्थात् मौन धारण कर लिया है, जो केवल शरीर को दिखाकर ही वापिस चले जाते हैं, जिनकी शक्ति बहुत बढ़ी हुई है, जिनका चित्त सदा ज्ञान को बढ़ाने में ही लगा रहता है, प्राणों का नाश होने पर

जितसत्त्वस्य प्रज्ञाऽध्यायितचेतसः प्राणात्ययेऽपि वसत्याहारभेषजानि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञा-दिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवदुपलक्षितमूर्त्तेः बहुषु दिवसेषु रत्नवणिजो मणिसन्दर्शन-मिव स्वशरीरप्रकाशमकृपणं मन्यमानस्य वन्दमानं प्रति स्वकरविकासनमिव पाणिपुटधारणमदीनमिति गणयतो याचनासहनमवसीयते । अद्यत्वे पुनः कालदोषाद्दीनानाथपाखण्डिबहुले जगत्यमार्गज्ञैरनात्मवद्-भिर्याचनमनुष्ठीयते ।

वायुवदसंगानेकदेशचारिणोऽप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य सकृन्मूर्त्तिसन्दर्शितव्रत-कालस्य 'देहि' इत्यसभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्यानुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्याद्येदं श्वश्चेदमिति व्यपेतसंकल्प-

---

भी जो वसतिका आहार और औषधियों को दीन होकर, मुख की आकृति बिगाड़कर अथवा शरीर की किसी संज्ञा से इशारे से कभी याचना नहीं करते, आहार लेने के समय भी बिजली की चमक के समान जो बहुत शीघ्र दिखाई देकर चले जाते हैं, जिस प्रकार रत्न के व्यापारियों को बहुत दिन में अच्छी मणियों का दर्शन होता है उसी प्रकार जो अपने शरीर को दिखलाना भी उदारता समझते है, वंदना या पड़गाहन करने वाले के यहां जो हाथों को पसारकर करपात्र आहार कहते हैं उसको भी वे अदीनभाव समझते हैं। इस प्रकार याचना नहीं करना याचनासहन अथवा याचना परिषह का जीतना कहलाता है। आजकल काल दोष से दीन, अनाथ और पाखंडी बहुत से हो गये है और वे संसार में मोक्षमार्ग का स्वरूप और आत्मा का स्वरूप न जानने के कारण याचना करते हैं ॥१४॥

जो वायु के समान बिना किसी को साथ लिये अथवा बिना किसी परिग्रह के अनेक देशों में बिहार करते हैं, जो अपनी शक्ति कभी प्रकाशित नहीं करते, जिनके दिन में एक ही बार भोजन करने की प्रतिज्ञा रहती है, आहार के समय किसी के घर आकर एक बार शरीर दिखलाना (पड़गाहन न करने पर लौट आना) ही जिनका व्रत रहता है, "दे दीजिये" इत्यादि असभ्य शब्दों के प्रयोग करने का (किसी से मांगने का) जिनके सर्वथा त्याग रहता है, जो शरीर की कोई प्रतिक्रिया नहीं करते, "आज ऐसा है, कल ऐसा होगा" इस प्रकार के संकल्प का जिनके सर्वथा त्याग रहता है, एक गांव में आहार

स्यैकस्मिन् ग्रामे अलब्धे सति ग्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसो नाऽयं दाता तत्राऽन्यो दानशूरोऽतिधन्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य लाभादप्यलाभो मे परं तप इति संतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः।

दुःखाधिकरणमशुचिभाजनं जीर्णवस्त्रवत्परिहेयं पित्तमारुतकफसन्निपातनिमित्तानेकामयवेदनाऽभ्यर्दितमन्यदीयमिव विग्रहं मन्यमानस्योपेक्षकत्वादाप्रच्युतेश्चिकित्साव्यावृत्तचेष्टस्य शरीरयात्राप्रसिद्धये व्रणानुलेपनवद्यथोक्तमाहारमाचरतो विरुद्धाहारसेवाविरसवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युग-

---

न मिलने पर भी जो दूसरे गाँव में ढूंढने के लिए कभी नहीं जाते, जिनके पास केवल हाथ ही पात्र रहते हैं अन्य कुछ नहीं, बहुत दिनों तक और बहुत से घरों में आहार न मिलने पर भी जो अपने हृदय में कभी संक्लेश परिणाम नहीं करते, "यह दाता नहीं है, अमुक गाँव में अमुक मनुष्य दानशूर है, बड़ा दानी है और अत्यंत धन्य मनुष्य है" इस प्रकार की परीक्षा जो कभी नहीं करते और जो "आहार मिलने की अपेक्षा आहार न मिलना ही मेरे लिए परम तपश्चरण है" इस प्रकार मानते हुए आहार न मिलने से ही परम संतुष्ट रहते हैं ऐसे मुनियों के अलाभ विजय अथवा अलाभ परीषह का जीतना कहलाता है ॥१४॥

यह शरीर दुःखों का आधार है, अपवित्रता का पात्र है, जीर्ण वस्त्र के समान त्याग कर देने योग्य है, पित्त और कफ के संयोग के कारण अनेक रोगों की वेदना से कदर्थित है और आत्मा से बिलकुल भिन्न है—इस प्रकार जो शरीर के स्वरूप को मानते हैं, शरीर की ओर उपेक्षा होने से जो उसके नाश होने तक चिकित्सा (इलाज) करने की चेष्टा कभी नहीं करते, धर्मसाधन करने के लिये शरीर का टिकना आवश्यक है इसीलिये जो घाव पर लेप करने के समान योग्य और शास्त्रानुसार आहार ग्रहण करते हैं, विरुद्ध आहार ग्रहण करने तथा नीरस और विषम आहार ग्रहण करने से वायु आदि के अनेक रोग जिनके हो गये हैं, एक साथ सैकड़ों व्याधियों का प्रकोप होने पर भी जो कभी उनके वश नहीं होते, जल, औषधि प्राप्त आदि अनेक तपोविशेष से उत्पन्न

पदनेकशतसंख्याव्याधिप्रकोपे सत्यऽपि तद्वशयर्वात्तितां विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्प्रतीकारानपेक्षिणः पूर्वकृतपापकर्मणः फलमिदमनेनोपायेनाऽनृणी भवामीति चिन्तयतो रोगसहनं सम्पद्यते ।

यथाऽभिनिवृत्ताधिकरणशायिनः शुष्कतृणपरुषशर्कराभूमिकंटफलकशिलातलादिषु प्रासुकेष्व-संस्कृतेषु व्याधिमार्गगमनशीतोष्णजनितश्रमविनोदार्थं शय्यां निषद्यां वा भजमानस्य संस्कृतशुष्कतृणा-दिवाधितमूर्तेरुत्पन्नकंडूविकारस्य, दुःखमनभिचिन्तयतस्तृणादिस्पर्शबाधाभिरवशीकृतत्वात्तृणस्पर्शसह-नमवगन्तव्य ।

जलजन्तुपीडापरिहाराय स्नानप्रतिज्ञस्य स्वेदपंकदिग्धसर्वांगस्य पादरनिगोदप्रतिष्ठितजीवदयार्थं

हुई ऋद्धियों के संयोग होने पर भी शरीर से निष्पृह होने के कारण जो कभी उन व्याधियों के प्रतिकार करने की इच्छा नहीं करते, "यह सब पहिले किये हुए पाप कर्मों का फल है, इस उपाय से (इन रोगों के कारण अर्थात् वे पाप कर्म अपना राग, रूप, फल देकर नष्ट हो जायेंगे इसलिये) मैं उन कर्मों के ऋण से छूट जाऊंगा" इस प्रकार जो बार-बार चितवन करते हैं उनके रोग सहन अथवा रोगपरीषह का जीतना कहते हैं ॥१६॥

जो स्वाभाविक प्राप्त हुए अधिकरण पर सोते या बैठते है, प्रासुक और बिना संस्कार किये हुए सूखे तृण, कठिन पत्थर की भूमि, कांटे और पत्थर के टुकड़े वाली शिलाभूमियों पर व्याधि (मार्ग का चलना) और शीत-उष्ण से उत्पन्न हुए परिश्रम को दूर करने के लिये सोते हैं अथवा बैठते हैं, बिना संस्कार किये हुए तृणादिकों से जिनके शरीर पर अनेक तरह की बाधाएं आ रही हैं, खुजली का विकार प्रकट हो रहा है तथापि जो उसके दुःख का कभी चितवन नहीं करते तथा तृण आदि के स्पर्श से उत्पन्न हुई बाधा के जो कभी वश नहीं होते इसलिये उनके तृणस्पर्शसहन अथवा तृण स्पर्श परीषह का जीतना कहलाता है ।

जलकाय और जलचर जीवों की पीड़ा दूर करने के लिये जिनके स्नान न करने

च शरीरसंस्कारविरमणार्थं च परित्यक्तोद्वर्तनस्य सिध्मकच्छुदद्रूदीर्णकायस्य नखरोमश्मश्रुकेशविकृत-सहजबाह्यमलसम्पर्ककारणानेकत्वग्विकारस्य स्वांगमलापचये परमलापचये वा प्राणिहितचेतसः संकल्पितसम्यग्ज्ञानचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपंकापनोदायैवोद्यतस्य पूर्वानुभूतस्नानानुलेपनादिस्मरणपराङ्मुखचित्तवृत्तेर्मलधारणमाख्यायते। केशलुंचने तत्संस्काराकरणे महान्खेदः संजायते तत्सहनमपि मलधारणेऽन्तर्भवतीति।

चिरोषितब्रह्मचर्यस्य महातपस्विनः स्वपरसमयनिश्चयज्ञस्य हितोपदेशपरस्य कथामार्गकुशलस्य

की प्रतीक्षा है, पसीना और धूलि से जिनका सब शरीर मलिन हो रहा है, बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवों की दया पालन करने के लिये तथा शरीर का संस्कार दूर करने के लिये जिन्होंने उबटन आदि करना सब छोड़ दिया है, सीप रोग, खुजली और दाद से जिनका सब शरीर भर रहा है, नाखून रोम, दाढ़ी-मूछों के बाल आदि के विकारों से उत्पन्न हुए तथा स्वाभाविक बाह्य मल का सम्बन्ध होने से जिनके शरीर के चमड़े पर अनेक विकार हो गये हैं, अपने शरीर का मल दूर करने के लिये अथवा दूसरे का मल दूर करने के समय जिनका हृदय सदा प्राणियों के हित करने में ही लगा रहता है, कल्पना किये हुए सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी निर्मल जल से धोकर कर्ममल रूपी कीचड़ को दूर करने के लिये जो सदा तत्पर रहते हैं और पहिले अनुभव किये हुए, स्नान, उबटन, लेपन का स्मरण करने से जिनके चित्त की वृत्ति सदा पराङ्मुख रहती है। भावार्थ—जो पहिले किये हुए स्नानादि का कभी स्मरण नहीं करते उन मुनियों के मल धारण अथवा मल परीषह का जीतना कहलाता है। केशों का लोंच करने और उन बालों का संस्कार कभी न करने में भी बड़ा भारी खेद होता है इसलिये उस खेद को सहन करना भी मल परीषह को जीतने में ही शामिल है ॥१८॥

जो बहुत काल से ब्रह्मचारी हैं, महा तपस्वी हैं, अपने मत के शास्त्र और परमत के शास्त्रों का जिन्होंने खूब अच्छी तरह निर्णय या निश्चय किया है, जो सदा हितोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, प्रथमानुयोग की कथायें कहने में जो बहुत ही कुशल हैं, जिन्होंने कई

बहुकृत्व: परवादिविजयिन: प्रणामभक्तिसंभ्रमाऽऽसनप्रदानादीनि मे न कश्चित्करोतीत्येवमचिन्तयतो मानापमानयो: समानमनस: सत्कारपुरस्कारनिराकांक्षस्य श्रेयोध्यायिन: सत्कारपुरस्कारजयो वेदितव्य: । सत्कार: प्रशंसादिक:, पुरस्कारो नाम नन्दीश्वरादिपर्वयात्रात्मकक्रियारंभादिष्वग्रत: करणमामंत्रणं वा ।

अंगपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य कृत्स्नग्रन्थार्थधारिणोऽनुत्तरवादिनस्त्रिकालविषयार्थविद: शब्द-न्यायाऽध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतोद्योतवन्नितरामवभासत इति विज्ञानमद-निरास: प्रज्ञापरीषहजय: प्रत्येतव्य: ।

अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचन सहमानस्याध्ययनार्थग्रहणपरा-

---

बार परवादियों का विजय किया है, "प्रणाम, भक्ति और शीघ्रता के साथ आसन देना आदि सत्कार के कार्य मेरे लिये कोई नहीं करता" इस प्रकार का चितवन जो कभी नहीं करते, मान-अपमान में जिनका चित्त सदा समान रहता है, जो सत्कार पुरस्कार की कभी इच्छा नहीं करते और सबके कल्याण का ही सदा चितवन करते रहते हैं उन मुनियों के सत्कार पुरस्कारजय अथवा सत्कार पुरस्कार परीषह का जीतना कहा जाता है । प्रशंसा आदि करना सत्कार कहलाता है और नंदीश्वर आदि पर्व के दिनों में अथवा रथयात्रा या तीर्थ-यात्रा आदि क्रियाओं के प्रारम्भ में सबसे आगे करना अथवा आमन्त्रण देना पुरस्कार कहलाता है ॥१९॥

जो अंग पूर्व और प्रकीर्णकों में अत्यन्त निपुण हैं, समस्त ग्रन्थों के अर्थ को जिन्हें धारणा है, कोई भी प्रतिवादी जिनके सामने उत्तर नहीं दे सकता, जो तीनों कालों के समस्त विषयों के पदार्थों को जानते हैं, जो व्याकरण शास्त्र, न्याय शास्त्र और अध्यात्म शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों में निपुण हैं, "मेरे सामने अन्य सब वादी लोग सूर्य की प्रभा के सामने तिरस्कृत हुए खद्योत के समान सदा प्रतीत होते रहते हैं" इस प्रकार के ज्ञान के अभिमान से जो सदा अलग रहते हैं उनके प्रज्ञापरिषहजय अर्थात् प्रज्ञा परिषह का जीतना समझना चाहिए ॥२०॥

"यह मूर्ख है, कुछ नहीं जानता; पशु के समान है" इत्यादि आक्षेप के वचनों को

भिभवादिष्वनासक्तबुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषभाराक्रान्तमूर्तेः सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यत इत्येवं मनस्यसन्दधतोऽज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः ।

सयमिप्रधानस्य दुष्करतपोऽनुष्ठायिनः परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतनसाधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमिदमनर्थकेयं प्रव्रज्या विफलं व्रतपालनमित्येव मानसमनादधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनमवसातव्यं ।

जो सदा सहन करते रहते हैं, अध्ययन करने के लिए दूसरे के द्वारा किए हुए तिरस्कार आदि में भी जिनकी बुद्धि कभी आसक्त नहीं होती, जो बहुत दिन के दीक्षित हैं, अनेक तरह के विशेष-विशेष तपश्चरण के भार से जिनका शरीर आक्रांत हो रहा है, जो सब तरह की सामर्थ्य में अप्रमत्त हैं, "मैंने अनिष्ट मन, वचन, काय की चेष्टायें सब दूर कर दी हैं तथापि मुझे अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान आदि अतिशय ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती" इस प्रकार का विचार जो अपने मन में कभी नहीं लाते, उनके अज्ञान परिषह का जीतना समझना चाहिये ।।२१।।

जो संयमियों में प्रधान हैं, अत्यन्त कठिन-कठिन तपश्चरण करने वाले हैं, परम वैराग्य की भावना से जिनका हृदय अत्यन्त शुद्ध है, जो समस्त पदार्थ और तत्वों के स्वरूप को जानते हैं, अरहंत, अरहंत के आयतन, साधु और धर्म की सदा पूजा करते रहते है "मै बहुत दिनों का दीक्षित हूं तथापि मुझे अब तक कोई ज्ञान का अतिशय प्राप्त नहीं हुआ है, महोपवास आदि तपश्चरण करने वालों को विशेष-विशेष प्रातिहार्य प्रगट होते हैं, यह बात केवल प्रलाप मात्र है, यह दीक्षा लेना बिल्कुल व्यर्थ है और व्रत पालन करना भी निष्फल है" इस प्रकार जो अपने मन में कभी विचार नहीं करते इसलिये सम्यग्दर्शन की शुद्धता होने से ऐसे मुनियों के अदर्शन परिषह सहन अथवा अदर्शन परिषह का जीतना कहलाता है ।।२२।।

एवं परीषहानसंकल्पितोपस्थितान् सहमानस्यासंक्लिष्टचेतसो रागादिपरिणामास्रवाभावान्महान् संवरो भवति । एते सर्वेपि परीषहाः कर्मोदयजनितास्तद्यथा—

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने, दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ, चारित्रमोहे मानकषायोदये नाग्न्यनिषद्याऽऽक्रोशयाचनासत्कारपुरस्काराः, अरतिवेदयोररतिस्त्रीपरीषहौ, वेदनीये क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकचर्याशय्यावधरोगतृणस्पर्शमलाः ।

एकस्मिन् जीव एकस्मिन् काले एकादयः परीषहा आ एकोनविंशतेर्युगपद्भवन्ति । तद्यथा— शीतोष्णपरीषहयोरेकतरः, शय्याचर्यानिषद्यानाञ्चान्यतम एव भवन्ति । श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञाप्रकर्षे सत्यवध्यभावापेक्षयाऽज्ञानोपपत्तेः सहावस्थाविरोधो न भवति ।

इस प्रकार बिना संकल्प के उपस्थित हुई परिषहों को सदा सहन करते हैं और अपने हृदय में जो कभी संक्लेश परिणाम नहीं करते उनके रागादि परिणामों के द्वारा होने वाले कर्मास्रव का अभाव होने से महान् संवर होता है । ये सब परिषहें कर्मों के उदय से प्रकट होती हैं । यही बात आगे दिखलाते हैं—ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान परिषहें होती हैं, दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से अदर्शन परिषह होती है । अन्तराय कर्म के उदय से अलाभ परिषह होती है, चारित्रमोहनीय मान कषाय के उदय से नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती हैं, अरति कर्म के उदय से अरति परिषह वेद कर्म के उदय से स्त्रीपरीषह होती है । वेदनीय कर्म के उदय से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, बध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषहें होती हैं ।

एक ही जीव के एक ही समय में एक साथ एक से लेकर उन्नीस परीषह तक हो सकती हैं । शीत, उष्ण इन दो परीषहों में से कोई भी एक हो सकती है । शय्या, चर्या, निषद्या इन तीनों में से कोई भी एक हो सकती है (इस प्रकार तीन परीषह छूट सकती हैं), श्रुत ज्ञान की अपेक्षा बुद्धि की तीव्रता होने से प्रज्ञा परीषह और अवधिज्ञान के अभाव होने की अपेक्षा से अज्ञान परीषह की उत्पत्ति होती है, इसलिए इन दोनों के एक साथ होने में कोई किसी तरह का विरोध नहीं आता ।

मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतेषु सप्तसु गुणस्थानेषु सर्वे परीषहाः सन्ति। अदर्शनपरीषहं विनाऽपूर्वकरणे एकविंशतिपरीषहा भवन्ति। अरतिपरीषहमन्तरेण सवेदानिवृत्तौ विंशतिपरीषहाः स्युः। अवेदानिवृत्तौ स्त्रीपरीषहे नष्टे एकोनविंशतिपरीषहा भवेयुः। तस्यैव मानकषायोदयक्षयान्नाग्न्यनिषद्याऽऽक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारा विनश्यन्ति। तेषु विनष्टेषु अनिवृत्तिसूक्ष्मसांपरायोपशान्तकषायक्षीणकषायेषु चतुर्षु गुणस्थानेषु चतुर्दश परीषहाः सन्ति। क्षीणकषाये प्रज्ञाऽज्ञानालाभा विनश्यन्ति। सयोगिभट्टारकस्य ध्यानानलनिर्दग्धघातिकर्मेन्धनस्यानन्ताप्रतिहतज्ञानादिचतुष्टयस्यान्तरायभावान्निरन्तरमुपचीयमानशुभपुद्गलसन्ततेर्वेदनीयाख्यं कर्म विद्यमानमपि प्रक्षीणघातिसहायबलं स्वप्रयोजनोत्पादनं प्रत्यसमर्थं, यथा—विषद्रव्यं मंत्रौषधि-

---

मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यक् मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत——इन सातों गुण स्थानों में सब परीषहें होती हैं। अपूर्वकरण नाम के आठवें गुणस्थान में अदर्शन परीषह को छोड़कर शेष इक्कीस परीषहें होती हैं। नौवें गुण स्थान में जहां तक वेद की निवृत्ति नहीं होती वहां तक अरति परीषह को छोड़कर बाकी बीस परीषहें होती हैं, जहां वेद की निवृत्ति हो जाती है वहां स्त्री परीषह भी नष्ट हो जाती है इसलिये वहां उन्नीस परीषहें होती हैं। उसी नौवें गुणस्थान में मानकषाय के उदय का नाश हो जाने पर नाग्न्य निषद्या, आक्रोश याचना और सत्कार पुरस्कार परीषहें नष्ट हो जाती हैं। इन पांचों परीषहों के नाश हो जाने पर शेष के अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में तथा सूक्ष्म सांपराय, उपशांत कषाय और क्षीण कषाय——इन चारों गुणस्थानों में बाकी की चौदह परीषहें होती हैं। क्षीण कषाय गुणस्थान में प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषहें नष्ट हो जाती हैं। जिन्होंने ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मरूपी ईंधन को जला दिया है, जिनके अप्रतिहत अनंत ज्ञानादि चतुष्टय प्रकट हुआ है, अंतराय कर्म के अभाव होने से जिनके निरंतर शुभ पुद्गल वर्गणाओं का समुदाय बढ़ता जा रहा है ऐसे भट्टारक सयोगी केवली भगवान के यद्यपि वेदनीय कर्म विद्यमान है तथापि उसके बल को सहायता देने वाले घातिया कर्मों का नाश हो जाने से उसमें अपना प्रयोजन उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रही है। जिस प्रकार मंत्र, औषधि

बलादुपक्षीणमारणशक्तिकमुपयुज्यमानं न मारणाय समर्थं, यथा छिन्नमूलतरुः कुसुमफलप्रदो न भवति, यथोपेक्षावतोरनिवृत्तिसूक्ष्मसांपराययोर्मैथुनपरिग्रहसंज्ञा, यथा च परिपूर्णज्ञान एकाग्रचिन्तानिरोधाऽभावेपि कर्मरजोविधूननफलसंभवाद्ध्यानोपचारस्तथा क्षुधारोगवधादिवेदनासद्भावपरीषहाभावे वेदनीयकर्मोदयद्रव्यपरीषहसद्भावादेकादश जिने संतीत्युपचारो युक्तः, वेदकर्मोदयसद्भावे एकादश जिने सन्ति घातिकर्मबलसहायरहित वेद्यं फलवन्न भवति तेनैकादश जिने सन्ति। एवं सति स्यादस्ति स्यान्नास्तीति स्याद्वाद उपपन्नो भवति। तथा च शतकस्य प्रदेशबन्धे वेदनीयस्य भागविशेषकारण-कथनेऽप्युक्तं—"जम्हा वेदणीयस्स सुहदुक्खोदयस्सणाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहदुक्खोदयोद्दीसदे" इति। तस्माद्वेदनीय घातिकर्मोदय विना फलवन्न भवतीति सिद्धं।

आदि के बल से जिसकी मारण शक्ति (प्राणहरण करने की शक्ति) नष्ट कर दी गई है, ऐसा विष खा लेने पर भी वह किसी को मार नहीं सकता अथवा जिस प्रकार जिसकी जड़ काट डाली गई है ऐसा वृक्ष फल और फूल नहीं दे सकता अथवा जिस प्रकार उपेक्षा बुद्धि रखने वाले मुनियों के नौवें-दसवें गुणस्थान में मैथुन और परिग्रह संज्ञा केवल नाममात्र को होती है अथवा जिस प्रकार पूर्ण केवलज्ञान के होने पर एकाग्र चिंता निरोध रूप ध्यान का अभाव होने पर भी कर्मरूपी रज के नाश होने रूप फल की संभावना होने से ध्यान का उपचार किया जाता है उसी प्रकार क्षुधा रोग और बध आदि वेदनाओं के सद्भावरूप परीषहों का अभाव होने पर भी केवल वेदनीय कर्म के उदयरूप द्रव्य परीषह का सद्भाव होने से तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिनेंद्र भगवान के ग्यारह परीषहें उपचार से कही जाती हैं। वेदनीय कर्म के उदय का सद्भाव होने से जिनेंद्र देव के ग्यारह परीषहें हैं और घातिया कर्मों के बल की सहायता के बिना वेदनीय कर्म अपना कुछ फल नहीं दे सकता, इसलिये जिनेंद्र देव के ग्यारह परीषहें नहीं हैं। इस प्रकार स्यादस्ति स्यान्नास्ति अर्थात् परीषह हैं भी और नहीं भी हैं, इस प्रकार का स्याद्वाद मत प्रकट होता है। यही बात प्रदेश बंध के कथन करते समय सौ भागों में से वेदनीय के विशेष भागों का कारण कथन करते हुए कही गई है "जम्हा वेदणीयस्स दुःखोदयस्स णाणावरणादि उपकरणकरणं तम्हा वेदणीयस्सेव सुहदुःखोदयो दीसदे" अर्थात् सुख-दुःख

नरकतिर्यग्गत्योः सर्वे परीषहाः, मनुष्यगतावाद्यभंगा भवन्ति देवगतौ घातिकर्मोत्थपरीषहः सह वेदनीयोत्पन्नक्षुत्पिपासावधैः सह चतुर्दश भवन्ति इन्द्रियकायमार्गणयोः सर्वे परीषहाः सन्ति, वैक्रियकद्वितयस्य देवगतिभंगा तिर्यग्मनुष्यापेक्षया द्वाविंशतिः। शेषयोगानां वेदादिमार्गणानां च स्वकीयगुणस्थानभंगा भवन्ति।



तपोवर्णनम्।

रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः, अथवा कर्मक्षयार्थं मार्गविरोधेन तप्यत इति तपः। तद्द्विविधं, बाह्यमाभ्यन्तरं च। अनशनादिबाह्यद्रव्यापेक्षत्वापरप्रत्ययलक्षणत्वाच्च बाह्यं, तत् षड्विधं,

---

देने वाले वेदनीय कर्म के सहायक ज्ञानावरणादि घातिया कर्म हैं, इसीलिये अर्थात् उन घातिया कर्मों की सहायता से ही वेदनीय कर्म का सुख-दुःखोदय दिखाई पड़ता है।" इससे यह सिद्ध है कि घातिया कर्मों के उदय के बिना वेदनीय कर्म अपना फल नहीं दे सकता।

नरक और तिर्यंच गति में सब परीषहें होती हैं। मनुष्य गति में ऊपर कहे अनुसार होती हैं। देव गति में घातिया कर्मों के उदय से होने वाली सात परीषहें और वेदनीय कर्म के उदय से होने वाली क्षुधा, पिपासा और वध इस प्रकार चौदह होती हैं। इन्द्रिय और कायमार्गणा में सब परीषहें होती हैं। वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रयोग में देवगति की अपेक्षा देवगति के अनुसार और तिर्यंच मनुष्यों की अपेक्षा बाईस होती हैं। शेष योग मार्गणा में तथा वेद आदि सब मार्गणाओं में अपने-अपने गुणस्थान की अपेक्षा लगा लेना चाहिये।

इस प्रकार परीषहों का प्रकरण पूर्ण हुआ॥

आगे तपश्चरण का वर्णन करते हैं—रत्नत्रय को प्रकट करने के लिये इच्छा का निरोध करना तप कहलाता है अथवा कर्मों का नाश करने के लिये मोक्ष मार्ग का विरोध न करते हुए तपश्चरण करना तप है। वह तप दो प्रकार का है—एक बाह्य तप और दूसरा

अनशनावमोदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशभेदात् । अभ्यन्तरमपि षड्विधं, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदात् ।

तत्राऽनशनं नाम यत्किंचिद्दृष्टफल मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते । तत्किमर्थं प्राणेन्द्रियसंयमप्रसिद्धिरागद्वेषाद्युच्छेदबहुकर्मनिर्जरणशुभध्यानागमावाप्त्यर्थं । तद्द्विविधमवधृतानवधृतकालभेदात् । तत्रावधृतकालं सकृद्भोजनचतुर्थषष्ठाष्टमदशपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरेष्वशनपानखाद्यस्वाद्यलक्षणचतुर्विधाहारनिवृत्तिः । अनवधृतकालमादेहोपरमात् ।

आत्मीयप्रकृत्योदनस्य चतुर्थभागेनार्द्धेन ग्रासेण वोनाहारनियमोऽवमोदर्यं, आवमोदर्यमिति

अभ्यंतर तप । अनशन आदि बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से अथवा अन्य लोगों को प्रत्यक्ष होने से बाह्य तपश्चरण कहलाता है। वह बाह्य तपश्चरण छह प्रकार का है—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश उसके नाम हैं । प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान के भेद से अभ्यंतर तपश्चरण भी छह प्रकार का है ।

किसी प्रत्यक्ष फल की अपेक्षा न रखकर और मंत्रसाधन आदि उद्देश्यों के बिना जो उपवास किया जाता है उसे अनशन कहते हैं । वह अनशन प्राणसंयम और इंद्रिय-संयम की प्रसिद्धि के लिये राग-द्वेष आदि कषायों को नाश करने के लिये बहुत से कर्मों की निर्जरा करने के लिये शुभध्यान और आगम की प्राप्ति के लिये किया जाता है । वह अनशन या उपवास दो प्रकार का है—एक नियमित समय तक और दूसरा अनियमित समय तक । दिन में एक बार भोजन करना, एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन, पांच दिन, पन्द्रह दिन, एक महीने, दो महीने, छह महीने और वर्ष दिन तक अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर देना नियमित समय तक का उपवास कहलाता है तथा शरीर छूटने तक उपवास धारण करना अनियमित समय तक का उपवास कहलाता है ।

अपने लिये स्वाभाविक जितना भोजन चाहिये उससे चौथाई भाग कम आहार

च । तत्किमर्थं निद्राजयार्थं दोषप्रशमनार्थंमतिमात्राऽऽहारजातविहितस्वाध्यायभयार्थंमुपवासश्रम-समुद्भूतवातपित्तप्रकोपपरिह्रीयमानसंयमसंरक्षणार्थं च ।

स्वकीयतपोविशेषेण रसरुधिरमांसशोषणद्वारेणेन्द्रियसंयमं परिपालयतो भिक्षार्थिनो मुनेरेकागार-सप्तवेश्मैकरथ्यार्द्धग्रामदातृजनवेषगृहभाजनभोजनादिविषयसंकल्पो वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थम-वगन्तव्यम् ।

शरीरेन्द्रियरागादिवृद्धिकरक्षीरदधिघृतगुडतैलादिरसत्यजनं रसपरित्याग इत्युच्यते । तत्किमर्थं दुर्दान्तेंद्रियतेजोहानिः संयमोपरोधनिवृत्तिरित्येवमाद्यर्थं ।

लेने का नियम लेना अथवा एक ग्रास, आधा ग्रास कम लेने का नियम लेना अवमोदर्य कहलाता है। निद्रा को जीतने के लिये, दोषों को शांत करने के लिये, अधिक आहार से उत्पन्न होने वाले स्वाध्याय के विघ्नों को दूर करने के लिये और उपवासों के परिश्रम से उत्पन्न होने वाले वात, पित्त के प्रकोप से कम होने वाले संयम की रक्षा करने के लिये अवमोदर्य तपश्चरण किया जाता है।

अपने विशेष तपश्चरण के द्वारा अथवा शरीर के रस, रुधिर, मांस आदि को सुखाकर इन्द्रिय संयम को पालन करने वाले तथा आहार के लिये गमन करते हुए मुनियों के एक घर, सात घर, एक गली, आधा गांव, दान देने वाले दाता का वेष, घर, पात्र और भोजन आदि के विषय में संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान नाम का तपश्चरण कहलाता है। यह तपश्चरण केवल भोजन की आशा और लालसा दूर करने के लिये किया जाता है।

शरीर इन्द्रिय और रागादि कषायों को बढ़ाने वाले दूध, दही, घी, गुड़, तेल आदि रसों का त्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है। अत्यंत प्रबल इन्द्रियों का तेज घटाने के लिये और संयम की रुकावटें दूर करने के लिये यह रसपरित्याग तपश्चरण किया जाता है।

ध्यानाध्ययनविघ्नकरस्त्रीपशुपण्ढकादिपरिवर्जितगिरिगुहाकन्दरपितृवनशून्यागाराऽऽरामोद्यानादिप्रदेशेषु विविक्तेषु जन्तुपीडारहितेषु सवृतेषु संयतस्य शयनासनं विविक्तशयनासनं नाम। तत्किमर्थमाबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यायनादिप्रसिद्धयर्थमसभ्यदर्शनेन तत्सहवासेन वा जनितत्रिकालविषयरागद्वेषमोहापोहार्थं वा। वृक्षमूलाभ्रावकाशाऽऽतापनयोगवीरासनकुक्कुटासनपर्यंकार्द्धपर्यंकगोदोहनमकरमुखहस्तिशुण्डामृतकशयनैकपार्श्वदंडधनुःशय्यादिभिः शरीरपरिखेदः कायक्लेश इत्युच्यते। तत्किमर्थं वर्षाशीताऽऽतपविषमसरथुलाऽऽसनविषमशय्यादिषु शुभध्यानपरिचर्यार्थं दुःखोपनिपाततितिक्षार्थं विषयसुखानभिष्वंगाय प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं च कायक्लेशानुष्ठानं क्रियते। इतरथा हि ध्यानप्रवेशकाले सुखोचितः स्यात् द्वन्द्वोपनिपाते सति समाधानं न स्यात् एवं षड्विधं बाह्यलक्षणमुक्तं।

ध्यान और अध्ययन में विघ्न करने वाले स्त्री, पशु, नपुंसक आदि से रहित ऐसी पर्वत की गुफाएं, कंदरा, श्मशान, सूने मकान, वन और उद्यान आदि एकांत, जीवों की पीड़ा से रहित और आछन्न (ढके हुए) स्थानों में मुनियों का शयन आसन करना (सोना, बैठना) विविक्त शय्यासन तप कहलाता है। निर्बाध पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करने के लिए, स्वाध्याय तथा ध्यान की सिद्धि के लिये और असभ्य लोगों के दर्शन करने से अथवा उनका सहवास करने से तीनों कालों में उत्पन्न हुए राग, द्वेष और मोह को दूर करने के लिये यह विविक्त शय्यासन तप किया जाता है।

वृक्ष के नीचे अथवा चौहटे में आतापनयोग धारण करना, वीरासन, कुक्कुटासन, पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, गोदोहन आसन, मकरमुखासन, हस्तिशुंडासन, मृतकशयन, एक करवट से सोना, दंड के समान सोना और धनुष के समान सोना इत्यादि कार्यों के द्वारा शरीर को क्लेश पहुंचाना काय क्लेश तप कहलाता है। वर्षा ऋतु, शीत ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में विषम स्थल पर विषम आसन लगाकर बैठना तथा विषम स्थान में सोना आदि कार्यों में शुभ ध्यान बराबर बने रहने के लिये, उपस्थित हुए अनेक दुखों को सहन करने के लिये, विषय-सुखों की लालसा दूर करने के लिये और अपने मन की प्रभावना होने के लिये कायक्लेश तपश्चरण किया जाता है। यदि कायक्लेश तपश्चरण न किया जाय तो ध्यान के प्रारम्भ में तो सुखपूर्वक ध्यान हो सकता है परन्तु

उत्तरमाभ्यन्तरमुच्यते । य तोऽन्यैस्तीर्थैरनभ्यस्तं ततोऽस्याऽऽभ्यन्तरत्वं, प्रायश्चित्तादितपो हि बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वादन्तःकरणव्यापाराच्चाभ्यंतरं । तत्र कर्तव्यस्याकरणे वर्जनीयस्यावर्जने यत्पापं सोऽतीचारस्तस्य शोधनं प्रायश्चित्तं । तत्किमर्थं प्रमाददोषव्युदासो भावप्रसादो नैःशल्यमनवस्था-व्यावृत्तिर्मर्यादात्यागः संयमदाढ्र्य चतुर्विधाराधनमित्येवमादीनां सिद्धयर्थं प्रायश्चित्तं । तद्दशविधं, आलोचनं, प्रतिक्रमणं, तदुभयं, विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, मूल, परिहारः, श्रद्धानमिति । तत्रैकान्त-निषण्णायापरिश्राविणे श्रुतरहस्याय गुरवे प्रसन्नमनसे विद्यायोग्योपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्त-रेण प्रवृत्तस्य, विदितदेशकालस्य शिष्यस्य सविनयमात्मप्रमादनिवेदनमालोचनमित्युच्यते । तस्य दश

किसी उपद्रव के उपस्थित होने पर समाधान नहीं रह सकता, इसलिये कायक्लेश तपश्चरण करना ही चाहिये । इस प्रकार छह प्रकार का बाह्य तपश्चरण कहा ।

अब आगे का अभ्यंतर तपश्चरण कहते हैं । अन्यमती लोग अभ्यंतर तपश्चरण का अभ्यास नहीं करते, इसीलिये इसको अभ्यंतर तप कहते हैं अथवा प्रायश्चित्त आदि तपश्चरणों में किसी भी बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, केवल अन्तःकारण में ही व्यापार करना पड़ता है, इसलिये भी इसको अभ्यंतर तप कहते हैं । किसी करने योग्य कार्य के न करने पर और त्याग करने योग्य पदार्थ के त्याग न करने पर जो पाप होता है उसे अतीचार कहते हैं । उस पाप को या अतीचार को शुद्ध करना प्रायश्चित्त कहलाता है । प्रमाद से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए अपने परिणामों को निर्मल रखने के लिये, शल्यों से अलग रहने के लिये, अनवस्था या चंचलता दूर करने के लिये, मर्यादा को कायम रखने के लिये, संयम को दृढ़ रखने के लिये और चारों प्रकार की आराधनाओं के आराधन करने के लिये यह प्रायश्चित्त नाम का तपश्चरण किया जाता है । वह प्रायश्चित्त आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान के भेद से दस प्रकार का है । जो (आचार्य) एकान्त स्थान में बैठे हुए हैं, जो सुने हुए दोषों को कभी किसी के सामने प्रकट नहीं करते, शास्त्रों के रहस्य को अच्छी तरह जानते हैं और जिनका चित्त प्रसन्न है ऐसे गुरु के समीप जाकर विद्या के योग्य उपकरण आदि को ग्रहण

दोषा भवन्ति आकम्पितं, अनुमापितं, यद्दृष्टं, बादरं, सूक्ष्मं, छन्नं शब्दाऽऽकुलितं, बहुजनं, अव्यक्तं, तत्सेवितमिति । तत्रोपकरणेषु दत्तेषुप्रायश्चित्त मे लघु कुर्वीतेति विचिन्त्य भयदादानं प्रथम आकंपित-दोषः । प्रकृत्या पित्ताधिकोऽस्मि दुर्बलोऽस्मि ग्लानोस्मि नाऽलमहमुपवासादिक कर्त्तुं यदि लघुदीयेत तद्दोषनिवेदन करिष्य इति वचन द्वितीयोऽनुमापितदोषः । अन्यादृष्टदोषगूहनं कृत्वा दृष्ट-दोषनिवेदन मायाचारस्तृतीयो यद्दृष्टदोषः । आलस्यात्प्रमादज्ञानाद्वाऽल्पापराधावबोधनिरुत्सुकस्य स्थलदोषप्रतिपादनं तुर्यो बादरदोष. । महा दुश्चरप्रायश्चित्तभयाद्वाऽहो सूक्ष्मदोषपरिहारकोऽयमिति स्वगुणाख्यापनचिकीर्षया वा महादोषसंवरण कृत्वा तनुप्रमादाचारनिवेदनं पंचमः सूक्ष्मदोषः । ईदृशे

करने का प्रश्न या विनय किए बिना ही देशकाल को जानने वाले शिष्य का विनयपूर्वक अपना प्रमाद निवेदन करना आलोचन कहलाता है । उस आलोचना के आकंपि, अनुमापित, यद्दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छल, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवित ये दस दोष हैं । "यदि मैं कोई उपकरण भेंट करूंगा तो मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा" यही समझ-कर कुछ भेंट देना पहिला आकंपित दोष है । "मेरी प्रकृति अधिक पित्तवाली है, मैं दुर्बल हूं, रोगी हूं, उपवास आदि करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है, यदि मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त दिया जायगा तो मै अपना दोष निवेदन करूंगा" इस प्रकार के वचन कहना दूसरा अनुमापित दोष है । जो दोष किसी दूसरे को दिखाई नहीं पड़े उन्हें तो छिपा लेना और दिखाई देने योग्य अथवा जो दूसरों ने देख लिए हैं ऐसे दोषों को निवेदन करना, इस प्रकार का मायाचार करना तीसरा यद्दृष्ट दोष है । आलस्य, प्रमाद या अज्ञान से छोटे-छोटे अपराधों के जानने में चित्त न लगाना और स्थूल दोषों को निवेदन करना चौथा बादर दोष है । बड़े भारी कठिन प्रायश्चित्त के भय से अथवा 'यह सूक्ष्म दोषों को भी दूर कर डालता है' इस प्रकार के अपने गुणों की प्रसिद्धि होने की इच्छा से बड़े-बड़े दोषों को छिपाकर थोड़े से प्रमाद रूप आचरणों का निवेदन करना पांचवां सूक्ष्म दोष है । "इस प्रकार के व्रतों में अतीचार लगने से मनुष्य को क्या प्रायश्चित्त लेना चाहिये" इस तरह अपना दोष न कहकर उपायांतर से पूछना अथवा पूछने के लिए गुरु की उपासना करना छठा छन्न दोष है । जहां पर पाक्षिक अर्थात् पन्द्रह दिन को, चातुर्मासिक अर्थात् चार

व्रतातिचारे सति नु: किं स्यात्प्रायश्चित्तमित्युपायेन गुरूपासना षष्ठश्छन्नदोष: । पाक्षिकचातुर्मासिक-सांवत्सरिकेषु कर्मसु महति यतिसमवाय आलोचनशब्दाकुले पूर्वदोषकथनं सप्तम: शब्दाकुलितदोष । गुरूपपादितं प्रायश्चित्तं किमिदं युक्तमागमे स्यान्न वेति यावल्लघु प्रतिपादयति तावद्वाशंकमानस्याऽन्यसाधुपरिप्रश्नोऽष्टमो बहुजनदोष: । यत्किंचित्प्रयोजनमुद्दिश्याऽऽत्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्त न फलकरमिति नवमोऽव्यक्तदोष: । अस्यापराधेन ममातीचार: समानस्तमयमेव वेत्त्यस्मै यद्दत्तं तदेव मे युक्तं लघुकर्तव्यमिति स्वदुश्चरितसंवरणं दशमस्तत्सेवित-दोष: । आत्मन्यपराधं चिरमनवस्थाप्य निकृतिभावमन्तरेण बालवदृजुबुद्धेर्दोषान्निवेदयतो न ते दोषा भवन्त्यन्यच्च संयतालोचनमेकांते द्विविषयमिष्टं, संयतकालोचनं प्रकाशे त्र्याश्रयमिष्टं, लज्जापर-

---

महीने की या सांवत्सरिक अर्थात् एक वर्ष की आलोचना हो रही है और सब मुनियों की आलोचना एक साथ हो रही है, ऐसे शब्दों के समुदाय में पहिले दोषों का कहना सातवां शब्दाकुलित दोष है । "गुरु ने जो प्रायश्चित्त बतलाया है वह ठीक है या नहीं, आगम में कहा है या नहीं" इस प्रकार जब तक थोड़ा प्रायश्चित्त देता रहे तब तक शंकाकर अन्य साधुओं से पूछना आठवां बहुजन दोष है । अपना कुछ भी प्रयोजन विचार कर अपने समान किसी मुनि से अपने प्रमादरूप आचरण कहना नौवां अव्यक्त दोष है । इस अव्यक्त दोष के होते हुए अपने समान किसी मुनि से वह बड़ा भारी प्रायश्चित्त ग्रहण कर ले तो भी उसका कुछ फल नहीं होता है । किसी दूसरे मुनि को जो प्रायश्चित्त दिया गया है उसे देखकर विचार करना कि "मेरे व्रतों में लगा हुआ अतिचार इन्हीं मुनिराज के अपराध के समान है अथवा मेरा अतिचार भी ठीक ऐसा ही है, इसलिये जो प्रायश्चित्त इसको दिया गया है वह मेरे लिये ठीक है, अब मुझे यह प्रायश्चित्त शीघ्र ही ले लेना चाहिये" इस प्रकार विचार कर अपने अपराधों को छिपाना दसवां तत्सेवित नाम का दोष है । जो अपराध लगा हो उसे बहुत दिन तक नहीं रखना चाहिये । बिना किसी मायाचार के बालक के समान सरल बुद्धि से जो दोषों को निवेदन करते हैं उनके ऊपर लिखे दोषों में से कोई दोष नहीं होते । दूसरी बात यह है कि यदि कोई मुनि आलोचना करेगा तो एकांत में करेगा और गुरु तथा वह शिष्य दो ही वहां रहेंगे, तीसरा नहीं । परन्तु यदि

परिभवादिगणनया निवेद्यातिचारं न शोधयेदपरीक्षिताऽऽयव्ययोऽधमर्णवदवसीदति । महदपि तपः कर्मानालोचनपूर्वकं नाभिप्रेतफलप्रदं सामदेहगतौषधिवत् । कृताऽऽलोचनोऽपि गुरुमतं प्रायश्चित्तमकुर्वाणो विनिश्चितमन्त्रानुष्ठानशून्यराज्यवन्महती शाश्वती च संपद न प्राप्नोति कृतालोचनचित्तगतं प्रायश्चित्तं परिमृष्टदर्पणगतरूपवत्परिभ्राजते ।

आस्थितानां योगाना धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सत्यालोचनं पुनरनुष्ठाय कस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्नकरोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्त्तनं प्रतिक्रमणं ।

आर्जिका आलोचना करेगी तो प्रकाश में करेगी, एकान्त स्थान में नहीं तथा वहाँ पर तीन जने रहने चाहिये । यदि कोई मुनि या आर्जिका लज्जा अथवा दूसरे के तिरस्कार के डर से अतिचार को निवेदन कर उनका प्रायश्चित्त न ले, दोषों को न शोधे तो जो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब नहीं रखता ऐसे किसी कर्जदार के समान वह दुःख पाता है । जिस प्रकार श्वासरहित शरीर में प्राप्त हुई औषधि अपना फल नहीं देती उसी प्रकार आलोचना किये बिना बड़ा भारी किया हुआ तपश्चरण भी इच्छानुसार फल नहीं देता । जिस प्रकार निश्चय किये हुए मंत्र के अनुसार न चलने वाले राजा को कोई बड़ी भारी और सदा टिकने वाली संपदा प्राप्त नहीं होती उसी प्रकार आलोचना करने पर भी यदि गुरु के दिये हुए प्रायश्चित्त को न करे तो भी उसे सबसे भारी और सदा टिकने वाली मोक्ष रूप संपदा नहीं मिलती । आलोचना करने पर हृदय में आया हुआ जो प्रायश्चित्त है वह मंजे हुए दर्पण में प्राप्त हुए रूप के समान बहुत अच्छा शोभायमान होता है । भावार्थ–प्रायश्चित्त करने से सब व्रत निर्मल शोभायमान होते हैं ।

धर्मकथा आदि में किसी विघ्न उपस्थित हो जाने पर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगों को भूल जाय तो वे पहले आलोचना करते हैं और फिर वे यदि संवेग-वैराग्य में तत्पर रहें, गुरु समीप में न हो तथा छोटा सा अपराध लगा हो तो "मैं फिर

किंचित्कर्माऽऽलोचनमात्रादेव शुद्धयत्यपरं प्रतिक्रमणेनेतरं दुःस्वपनादिक तदुभयसंसर्गेण शुद्धिमुपयाति। आलोचनप्रतिक्रमणपूर्वं गुरुणाऽभ्यनुज्ञातं शिष्येणैव कर्तव्यं तदुभयं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयं।

संसक्तेषु द्रव्यक्षेत्रान्नपानोपकरणादिषु दोषान्निवर्तयितुमलभमानस्य तद्द्रव्यादिविभजनं विवेकः। अथ वा शक्तयनवगूहनेन प्रयत्नेन परिहरतः कुतश्चित्कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयोः प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात्प्रतिगृहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जनं विवेकः।

दुःस्वप्नदुश्चिन्तनमलोत्सर्जनाऽऽगमातीचारनदीमहाटवीरणादिभिरन्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलंब्य कायमुत्सृज्यान्तर्मुहूर्तदिवसपक्षमासादिकालावस्थानं व्युत्सर्ग इत्युच्यते।

कभी ऐसा नहीं करूंगा, यह मेरा पाप मिथ्या हो" इस प्रकार दोषों से अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है।

कोई कर्म केवल आलोचना करने से ही शुद्ध हो जाते हैं, कोई अकेले प्रतिक्रमण से ही शुद्ध हो जाते हैं और दुःस्वप्न आदि कितने ही दोष तदुभय अर्थात् आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के संबंध से शुद्ध होते हैं। प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होता है और गुरु की आज्ञानुसार शिष्य स्वयं उसे कर लेता है परन्तु तदुभय गुरु के द्वारा ही किया जाता है।

किसी मुनि का हृदय किसी द्रव्यक्षेत्र, अन्न-पान अथवा उपकरण में आसक्त हो और किसी दोष को दूर करने के लिये गुरु उन मुनि को वह पदार्थ प्राप्त न होने दें, उस पदार्थ को उन मुनि से अलग कर लें तो वह विवेक नाम का प्रायश्चित कहलाता है अथवा अपनी शक्ति को न छिपाकर प्रयत्नपूर्वक जीवों की बाधा दूर करते हुए भी किसी कारण से अप्रासुक पदार्थ को ग्रहण कर लें अथवा जिसका त्याग कर चुके हैं ऐसे प्रासुक पदार्थ को भी भूलकर ग्रहण कर लें और फिर स्मरण हो आने पर उन सबका त्याग कर दें तो वह भी विवेक प्रायश्चित कहलाता है।

कोई दुःस्वप्न हो जाय, किसी का बुरा चिंतवन हो जाय, मल छूट जाय, आगम में अतिचार लग जाय अथवा नदी, महावन, युद्ध और अन्य किसी कारण से अतिचार

सत्त्वादिगुणालङ्कृतेन कृतापराधेनोपवासैकस्थानाचाम्लनिर्विकृत्यादिभिः क्रियमाणं तप इत्युच्यते । भयोन्मादत्वरणविस्मरणानवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातीचारे सत्यनन्तरोक्तषड्विधप्रायश्चित्तं भवति । चिरप्रव्रजितस्य सहजबलस्य स्वभावशूरस्य गर्वितस्य कृतदोषस्य दिवसमासादिभागेन प्रव्रजनं छित्वा छिन्नकालादिनाऽवस्थानं छेदो नाम ।

पार्श्वस्थादीनां मूलं प्रायश्चित्तं, तद्यथा—पार्श्वस्थः, कुशीलः, संसक्तः, अवसन्नः, मृगचारित्र इति । तत्र यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी च श्रमणानां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः । क्रोधा-

---

लग जाय तो ध्यान लगाकर और शरीर से ममत्व छोड़कर अन्तर्मुहूर्त तक, एक दिन तक, पंद्रह दिन तक या एक महीने तक ज्यों के त्यों खड़े रहना अथवा बैठे रहना व्युत्सर्ग कहलाता है ।

जो शारीरिक या मानसिक बल आदि गुणों से परिपूर्ण हैं और जिनसे कुछ अपराध हुआ है ऐसे मुनि उपवास, एकाशन, आचाम्ल, निर्विकृत्य (दूध आदि रसों से रहित) आदि के द्वारा जो तपश्चरण करते हैं उसे तप प्रायश्चित कहते हैं । भय, उन्माद, शीघ्रता, भूल, अज्ञान, शक्तिहीनता और व्यसनादि के द्वारा महाव्रतों में अतिचार लगने पर ऊपर कहे हुए आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग और तप ये छहों प्रकार के प्रायश्चित होते हैं ।

जो साधु बहुत दिन के दीक्षित हैं, स्वाभाविक बलशाली हैं, स्वभाव से ही शूरवीर हैं और बड़े अभिमानी हैं परन्तु जिनसे कुछ अपराध हो चुका है ऐसे मुनियों की एक दिन की दीक्षा अथवा एक महीने की या अधिक दिनों की दीक्षा कम कर देना और फिर उनकी दीक्षा कम कर देने के बाद जितने दिनों की दीक्षा कायम रहती है उतने ही दिनों के दीक्षित मुनियों के साथ रखना छेद नामक प्रायश्चित है ।

पार्श्वस्थ आदि मुनियों के लिये मूल नाम का प्रायश्चित्त होता है, वही आगे दिखलाते हैं—पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न और मृगचारित्र ये पांच प्रकार के मुनि जिनधर्म से बहिष्कृत होते हैं । जो मुनि वसतिकाओं में रहते हैं, उपकरणों से ही अपनी

दिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परीहिनः संघस्यानयकारी कुशीलः । मंत्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः । जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्नः । त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्रः स्वच्छन्द इति वा । एते पंच श्रमणा जिनधर्मबाह्याः । एवमुक्तपार्श्वस्थादिपंचविधोन्मार्गस्थितस्यापरिमितापराधस्य सर्वं पर्यायमपहाय पुनर्दीक्षादानं मूलमित्युच्यते ।

परिहारोऽनुपस्थानपारंचिकभेदेन द्विविधः । तत्राऽनुपस्थानं निजपरगणभेदाद् द्विविधं । प्रमादादन्यमुनिसंबधिनमृषि छात्रं गृहस्थं वा परपाखंडिप्रतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेन-

---

जीविका चलाते हैं, परन्तु मुनियों के समीप रहते हैं उन्हें पार्श्वस्थ कहते हैं। जिनकी आत्मा क्रोधादि कषायों से कलुषित है, जो व्रत-गुण तथा शीलपालन करने से रहित हैं और जो संघ का बुरा करने वाले हैं उनको कुशील कहते हैं। जो मंत्र वैद्यक या ज्योतिष शास्त्र से अपनी जीविका करते हैं और राजा आदिकों की सेवा करते हैं उन्हें संसक्त कहते हैं। जो जिन वचनों को जानते तक नहीं, जिन्होंने चारित्र का भार सब छोड़ दिया है, जो ज्ञान और चारित्र दोनों से भ्रष्ट हैं और चारित्र के पालन करने में आलस करते हैं उन्हें अवसन्न कहते हैं। जिन्होंने गुरु का संघ छोड़ दिया है, जो अकेले ही स्वच्छंद रीति से विहार करते हैं और जो जिनेन्द्र देव के वचनों को दूषित करने वाले हैं उनको मृगचारित्र अथवा स्वच्छंद कहते हैं। ये पांचों ही मुनि जिनधर्म से बाह्य हैं। ये ऊपर कहे हुए पांचों प्रकार के पार्श्वस्थ आदि मुनि मिथ्या मार्ग में रहते हैं और अपरिमित अपराध करते हैं, इसलिये उनकी मुनि अवस्था की सब पर्याय का त्याग कर अर्थात् उनकी समस्त दीक्षा का छेद कर फिर से दीक्षा देना मूल नाम का प्रायश्चित कहलाता है।

परिहार नामक प्रायश्चित्त अनुपस्थान और पारंचिक भेद से दो प्रकार का है। उसमें अनुपस्थान भी निजगण और परगण के भेद से दो प्रकार का है। प्रमाद से अन्य मुनि सम्बन्धी ऋषि, विद्यार्थी, गृहस्थ या दूसरे पाखंडी के द्वारा रोके हुए चेतनात्मक या

यतो मुनीन् प्रहरतो वाऽन्यदप्येवमादिविरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्वधरस्यादित्रिकसंहननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मिणो धीरस्य भवभीतस्य निजगुणानुपस्थापन प्रायश्चित भवति । तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तर विहितविहारेण बालमुनीनपि वदमानेन प्रतिवन्दनाविरहितेन गुरुणा सहाऽऽलोचयता शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यतः पंचपचोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्त्तव्याः, उभयमप्याद्वादशवर्षादिति । दर्पादिनन्तरोक्तान्दोषानाचरतः परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त भवतीति । स सापराध. स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः, सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्वाऽऽचार्यांतर प्रस्थापयति, सप्तम यावत् पश्चिमश्च प्रथमाऽऽलोचनाऽऽचार्य प्रति प्रस्थापयति, स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचरयति ।

अचेतनात्मक द्रव्य अथवा परस्त्री आदि को चुराने वाले, मुनियों को मारने वाले अथवा और भी ऐसे ही ऐसे विरुद्ध आचरण करने वाले परन्तु नौ या दस पूर्वों के जानकार, पहिले तीन संहननों को धारण करने वाले, परीषहों को जीतने वाले, धर्म में दृढ़ रहने वाले, धीर, वीर और संसार से डरने वाले मुनियों के निजगणानुपस्थापन नाम का प्रायश्चित्त होता है । जिनको यह प्रायश्चित दिया जाता है वे मुनियों के आश्रम से बत्तीस दंड के अन्तर से बैठते हैं, बालक मुनियों को (कम उम्र के अथवा थोड़े दिन के दीक्षित मुनियों को) भी वे वंदना करते है परन्तु बदले में कोई मुनि उन्हें वंदना नहीं करता, वे गुरु के (आचार्य के) साथ सदा आलोचना करते रहते हैं, शेष लोगों के साथ वे बातचीत नहीं करते, मौनव्रत धारण किये रहते हैं, अपनी पीछी को उल्टी रखते हैं, कम से कम पांच-पांच उपवास और अधिक से अधिक छह-छह महीने तक के उपवास करते रहते हैं और इस प्रकार दोनों प्रकार के उपवास बारह वर्ष तक करते है । यह निजगणानुपस्थापन प्रायश्चित्त है । जो अभिमान से ऊपर लिखे दोषों को करते है उनके परगणानुपस्थापन नाम का प्रायश्चित होता है । उसकी क्रिया यह है कि अपने संघ के आचार्य ऐसे अपराधी को दूसरे संघ के आचार्य के समीप भेजते है, वे दूसरे संघ के आचार्य भी उनकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित दिये बिना हीं किसी तीसरे संघ के आचार्य के समीप भेजते हैं । इसी प्रकार सात संघों के आचार्यों के समीप उन्हें भेजते है । अन्त के अर्थात् सातवें संघ के

परिहारस्य प्रथमभेदो द्विविधो गतः । पारंचिकमुच्यते, तीर्थंकरगणधरगणिप्रवचनसंघाद्यासादनकारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानमभिमतामात्यादीनां दत्तदीक्षस्य नृपकुलवनितासेवितस्यैवमाद्यन्यैर्दोषैश्च धर्मदूषकस्य पारंचिकं प्रायश्चित्तं भवति । चातुर्वर्ण्यश्रमणाः संघं संभूय तमाहूय एष महापातकी समयवाह्यो न वंद्य इति घोषयित्वा दत्वाऽनुपस्थानं प्रायश्चित्तं देशान्निर्घाटयन्ति ।

मिथ्यात्वं गत्वा स्थितस्य पुनरपि गृहीतमहाव्रतस्याऽऽप्ताऽऽगमपदार्थानां श्रद्धानमेव प्रायश्चित्तं, तदेतद्दशविधं, देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनाल्पानल्पापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सित-

---

आचार्य उन्हें पहिले आलोचना सुनने वाले आचार्य के समीप भेजते हैं, तब वे पहिले ही आचार्य उन्हें ऊपर लिखा हुआ (निजगणानुपस्थापन में लिखा हुआ) प्रायश्चित्त देते हैं । इस प्रकार निजगणानुपस्थापन और परगणानुपस्थापन ये दोनों ही परिहार के भेद कहे । अब पारंचिक नाम के परिहार को कहते हैं—जो मुनि तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, शास्त्र और संघ आदि की झूठी निंदा करने वाले हैं, राज्यविरुद्ध आचरण करते हैं, जिन्होंने किसी राजा को मानने वाले अथवा किसी राजा को प्रिय ऐसे किसी मंत्री आदि को दीक्षा दी है जिन्होंने राजकुल की स्त्रियों का सेवन किया है अथवा ऐसे ही ऐसे अन्य दोषों के द्वारा जिन्होंने धर्म में दोष लगाया है ऐसे मुनियों के पारंचिक प्रायश्चित्त होता है । उसकी क्रिया यह है कि आचार्य पहिले चारों प्रकार के मुनियों के संघ को इकट्ठा करते हैं और फिर उस अपराधी मुनि को बुलाकर घोषणा करते हैं कि यह मुनि महापापी है, अपने मत से बाह्य है, इसलिये वंदना करने के अयोग्य है । इस प्रकार घोषणा कर तथा अनुपस्थान नाम का प्रायश्चित्त देकर उसे देश से निकाल देते हैं ।

जिन्होंने अपना मिथ्यात्व छोड़ दिया है, महाव्रत धारण कर लिये हैं और आप्त आगम पदार्थों का श्रद्धान कर लिया है उनके श्रद्धान नाम का प्रायश्चित कहा जाता है । इस प्रकार दस प्रकार का प्रायश्चित कहा । देश, काल, शक्ति और संयम में किसी तरह का विरोध न आने पावे और छोटा-बड़ा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्य के समान

वद्विधेयं । जीवस्याऽसंख्येयलोकमात्रपरिमाणाः परिमाणविकल्पा अपराधाश्च तावंत एव न तेषां ताव-द्विकल्पं प्रायश्चित्तमस्ति व्यवहारनयापेक्षया पिंडीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्तं ।

कषायेन्द्रियविनयनं विनयः, अथवा रत्नत्रयस्य तद्वतां च नीचैर्वृत्तिर्विनयः, स चतुःप्रकारः । ज्ञानविनयो दर्शनविनयश्चारित्रविनय उपचारविनयश्चेति । तत्राऽनलसेन शुद्धमनसा देशकालादि-विशुद्धिविधानविचक्षणेन सबहुमानेन यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि-र्ज्ञानविनयः । सामायिकादौ लोकबिन्दुसारपर्यंते श्रुतसमुद्रे ये यथा भगवद्भिरुपदिष्टाः पदार्थास्तेषां तथाश्रद्धाने निःशंकितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयः । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्यवतो दुश्चरचरण-श्रमणानंतरपुद्भिन्नरोमाचाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः पर प्रसादमस्तकांजलिकरणादिभिर्भावयतश्चा-

---

दोषों का शमन करना चाहिये । प्रत्येक जीव के परिणामों के भेदों की संख्या असंख्यातलोक मात्र है और अपराधों की संख्या भी उतनी ही है परन्तु प्रायश्चित्त के उतने भेदन नहीं कहे हैं । प्रायश्चित्त के ऊपर लिखे भेद तो केवल व्यवहार नय की अपेक्षा से समुदाय रूप से कहे गये हैं ।

कषाय और इन्द्रियों को नम्र करना विनय है अथवा रत्नत्रय और रत्नत्रय को धारण करने वाले के प्रति अपनी नम्र वृत्ति रखना, उनके साथ उद्धतपना न करना, नम्रता से रहना विनय है । वह विनय चार प्रकार की है—ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, और उपचार विनय । जो आलसरहित है, जिसका मन शुद्ध है और जो देश काल आदि की विशुद्धि के भेद-प्रभेद जानने में चतुर है ऐसा पुरुष अपनी शक्ति के अनुसार आदर-सत्कारपूर्वक मोक्ष के लिये ज्ञान का ग्रहण करना, अभ्यास करना, स्मरण करना आदि रीति से ज्ञान की सेवा करता है उसे ज्ञान विनय कहते हैं । सामायिक से लेकर लोकबिंदुसार पर्यंत श्रुतज्ञान रूपी महासागर में भगवान जिनेन्द्रदेव ने जो पदार्थों का स्वरूप कहा है उनका उसी प्रकार श्रद्धान करना तथा निःशंकित आदि आठों अंगों का पालन करना दर्शन विनय है । जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांचों आचारों का पालन करते हैं, बड़े बड़े कठिन चारित्र को सुनकर भी रोमांच प्रकट हो जाने से जिनके अंतरंग

नुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः। उपचारविनयो द्विविधः, प्रत्यक्षः परोक्ष इति। तत्राऽऽचार्योपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरादिषु पूजनीयेष्वभ्युत्थानमभिगमनमंजलिकरणं वंदनाऽनुगमनं रत्नत्रयबहुमानः सर्वकालयोग्यानुरूपक्रिययाऽनुलोमता सुनिगृहीतत्रिदंडता सुशीलयोगता धर्मानुरूपकथा कथनश्रवणभक्तिताऽर्हदायतनगुरुभक्तितादोषवद्वर्जनं गुणवृद्धसेवाऽभिलाषाऽनुवर्तनं पूजनं। यदुक्तं—"गुरुस्थविरादिभिनान्यथा तदित्यनिशं भावनं समेष्वनुत्सेको हीनेष्वपरिभवः जातिकुलधनैश्वर्यरूपविज्ञानबललाभर्द्धिषु निरभिमानता सर्वत्र क्षमापरता मितहितदेशकालाऽनुगतवचनता कार्याकार्यसेव्यासेव्यवाच्यावाच्यज्ञातृता इत्येवमादिभिरात्मानुरूपः प्रत्यक्षोपचारविनयः।" परोक्षोपचारविनय उच्यते, परोक्षे-

---

की भक्ति बाहर प्रकट हो रही है और प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर भावना करते हैं ऐसे मुनि जो चारित्र का पालन करते हैं उसे चारित्र विनय कहते हैं। उपचार विनय दो प्रकार का है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध साधु उपदेशादि देकर जिनमत की प्रवृत्ति करने वाले गणधरादिक तथा और भी पूज्य पुरुषों के आने पर खड़े होना, उनके सामने जाना, हाथ जोड़ना, वंदना करना, चलते समय उनके पीछे-पीछे चलना, रत्नत्रय का सबसे अधिक आदर-सत्कार करना, समस्त काल के योग्य अनुरूप क्रिया के अनुकूल चलना, मन, वचन, काय तीनों योगों का निग्रह करना, सुशीलता धारण करना, धर्मानुकूल कथाओं का कहना, सुनना तथा भक्ति रखना, अरहंत, जिनमंदिर और गुरु में भक्ति रखना, दोषों का या दोषियों का त्याग करना, गुणों से बढ़े हुए मुनियों की सेवा करने की अभिलाषा रखना, उनके अनुकूल चलना और उनकी पूजा करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है। कहा भी है "वृद्ध मुनियों के साथ अथवा गुरु के साथ कभी भी प्रतिकूल न होने की सदा भावना रखना, बराबर वालों के साथ कभी अभिमान न करना, हीन लोगों का कभी तिरस्कार न करना, जाति, कुल, धन, ऐश्वर्य, रूप, विज्ञान, बल, लाभ और ऋद्धियों में कभी अभिमान न करना, सब जगह क्षमा धारण करने में तत्पर रहना, थोड़े, हितरूप और देशकाल के अनुसार वचन कहना, कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य, (सेवन और न सेवन करने योग्य) तथा कहने और न कहने योग्य का ज्ञान होना इत्यादि क्रियाओं के द्वारा अपनी आत्मा को प्रवृत्त करना प्रत्यक्ष उपचार विनय है।"

ष्वप्याचार्यादिष्वंजलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणाऽऽज्ञानुष्ठायित्वादिः कायवाङ्मनोभिरवगन्तव्यः रागप्रहसनविस्मरणैरपि न कस्यापि पृष्ठमांसभक्षणकरणीयमेवमादिः परोक्षोपचारविनयः प्रत्येतव्यः। मंत्रौषधोपकरणयशःसत्कारलाभाद्यनपेक्षितचित्तेन परमार्थनिस्पृहमतिनेहलौकिकफलनिरुत्सुकेन कर्मक्षयकांक्षिणा ज्ञानलाभाऽऽचारविशुद्धिसम्यगाराधनादिसिद्ध्यर्थं विनयभावनं कर्तव्यं।

वैयावृत्यमुच्यते। कायपीडादुष्परिणामव्युदासार्थं कायचेष्टया द्रव्यांतरेणोपदेशेन च व्यावृत्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यं। तद्दशविधं, आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्ष्यग्लानगणकुलसंघसाधुमनोज्ञवैयावृत्य-

---

अब आगे परोक्ष उपचार विनय को कहते हैं—आचार्य आदि के परोक्ष रहते हुए भी मन, वचन, काय से उनके लिये हाथ जोड़ना, उनके गुणों का वर्णन करना, स्मरण करना और उनकी आज्ञा का पालन करना आदि परोक्षोपचार विनय है। रागपूर्वक या हंसीपूर्वक अथवा भूलकर भी कभी किसी की पीठ का मांस भक्षण नहीं करना चाहिये अर्थात् पीछे कभी किसी की बुराई या निंदा नहीं करनी चाहिये। यह सब परोक्षोपचार विनय कहलाता है। जिनके हृदय में मंत्र, औषधि, उपकरण, यश, सत्कार और लाभ आदि की अपेक्षा नहीं है, जिनकी बुद्धि वास्तव में निस्पृह है, जिनको इस लोक सम्बन्धी फल की इच्छा बिलकुल नहीं है और जो केवल कर्मों का नाश करने की इच्छा रखते हैं उन्हें ज्ञान का लाभ होने के लिये, आचरणों की विशुद्धता होने के लिए और आराधनाओं का अच्छी तरह आराधन करने के लिये, ऐसे ही ऐसे और भी श्रेष्ठ कार्यों के लिये विनय करने की भावना रखनी चाहिये। इस विनय को धारण करने से मोक्ष का द्वार खुला रहता है।

अब आगे वैयावृत्य को कहते हैं—शरीर की पीड़ा अथवा दुष्ट परिणामों को दूर करने के लिये शरीर की चेष्टा से, किसी अन्य द्रव्य से अथवा उपदेश देकर प्रवृत्त होना अथवा कोई भी क्रिया करना वैयावृत्य है। वह वैयावृत्य आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ की सेवा-चाकरी के भेद से दस प्रकार का होता है। भव्य पुरुष अपनी आत्मा का कल्याण करने के लिये सम्यग्ज्ञान आदि पंचाचारों के आधार रूप जिन आचार्यों से स्वर्ग-मोक्ष सुख देने वाले कल्पवृक्ष के बीज रूप व्रतों को लेकर

भेदेन। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिपंचाचाराधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखकल्पकुजबीजानि भव्या आत्महितार्थमाचरन्ति स आचार्यः। विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाऽधिष्ठानादागमं श्रुताभिधानमधीयते स उपाध्यायः। आचाम्लवर्द्धनसर्वतोभद्रसिंहनिष्क्रीडितशातकुंभमन्दरपंक्तिविमानपंक्तिनन्दीश्वरपंक्तिजिनगुणसंपत्तिश्रुतज्ञानकनकावलिमुक्तावलिमृदंगमध्यवज्रमध्यकर्मक्षपणत्रैलोक्यसारादिमहोपवासानुष्ठायी तपस्वी। श्रुतज्ञानशिक्षणपरोऽनुपरतव्रतभावनानिपुणः शैक्षः। रुजादिभिः क्लिष्टशरीरो ग्लानः। स्थविराणां सन्ततिर्गणः। दीक्षकस्याऽऽचार्यस्य शिक्षस्याऽऽम्नायः कुलं। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः सङ्घः। चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुः। अभिरूपो मनोज्ञः, आचार्याणां संमतो वा दीक्षाभिमुखो वा मनोज्ञः, अयं वा विद्वान् वाग्मी महाकुलीन इति यो लोकस्य संमतः स मनोज्ञस्तस्य ग्रहणं प्रवचनस्य लोके गौरवोत्पादनहेतुत्वादसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा संस्कारोपेतरूपत्वान्मनोज्ञः। आचार्यादीनां व्याधिपरीषहमिथ्यात्वा-

---

आचरण करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। व्रत, शील और भावना के आधाररूप जिन मुनि से श्रुतज्ञान रूपी आगम का अध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। आचाम्लवर्द्धन, सर्वतोभद्र, सिंहनिष्क्रीडित, शतकुंभ, मंदरपंक्ति, विमानपंक्ति, नंदीश्वरपंक्ति, जिनगुणसंपत्ति, श्रुतज्ञान, कनकावली, मुक्तावली, मृदंगमध्य, वज्रमध्य, कर्मक्षपण और त्रैलोक्यसार आदि महाउपवास करने वाले तपस्वी कहलाते हैं। जो श्रुतज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने में तत्पर हैं और व्रत भावनाओं के पालन करने में निपुण हैं उन्हें शैक्ष कहते हैं। रोगादि के द्वारा जिनका शरीर क्लेशित है उन्हें ग्लान कहते है। वृद्ध मुनियों के समुदाय को गण कहते हैं। दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्यों की परम्परा को कुल कहते हैं। ऋषि, मुनि यति, अनगार—इन चारों प्रकार के मुनियों के समुदाय को संघ कहते हैं। जो बहुत दिन के दीक्षित हों उन्हें साधु कहते हैं। जो सुन्दर हों उन्हें मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो आचार्य को मान्य हों अथवा दीक्षा लेने के सम्मुख हों उन्हें मनोज्ञ कहते हैं अथवा जो विद्वान हो, वक्ता हो, महाकुलीन हो इस प्रकार लोक में जो मान्य हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। मनोज्ञ ग्रहण करने का यह भी अभिप्राय है कि संसार में जो अपने मत का गौरव उत्पन्न करने का कारण हो ऐसा असंयत सम्यग्दृष्टी भी मनोज्ञ कहलाता है अथवा जो संवेगादिक संस्कार सहित हैं उन्हें भी मनोज्ञ कहते हैं। ऊपर लिखे हुए आचार्य आदि के व्याधि परीषह आ

धुपनिपाते सत्यप्रत्युपकाराशया प्रासुकौषधभुक्तिपानाऽऽश्रयपीठफलकसंस्तरादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकारः सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्यं । बाह्यस्यौषधभुक्तिपानादेरसम्भवे स्वकायेन श्लेष्मसिंघाणकांतर्मलाद्यपकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैयावृत्यमिति कथ्यते, तत्पुनः किमर्थं समाध्याध्यान विचिकित्साऽभावः प्रवचनवात्सल्यं सनाथता चेत्येवमाद्यर्थं ।

स्वाध्यायो भण्यते । स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः, स च वाचनापृच्छनाऽनुप्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशभेदेन पंचविधः । तत्र निरपेक्षात्मना मुमुक्षुणा विदितवेदितव्येन निरवद्यस्य ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य या पात्रं प्रति प्रतिपादनं वाचनेत्युच्यते । आत्मोन्नतिप्रकटनार्थं पराभिसंधनार्थमुपहाससंघर्षप्रहस-

---

जाने पर अथवा मिथ्यात्व का सम्बन्ध हो जाने पर बिना किसी प्रत्युपकार की इच्छा के प्रासुक औषध, भोजन पान, आश्रय, आसन, काष्ठासन, बिछौना आदि धर्मोपकरणों के द्वारा उस व्याधि या परीषह को दूर करना, मिथ्यात्व को दूर करना, सम्यग्दर्शन स्थापन करना आदि वैयावृत्य कहलाता है । यदि औषध, भोजन पान आदि बाह्य सामग्रियों का मिलना असम्भव हो तो अपने शरीर के द्वारा कफ, नाक का मल तथा अन्तर्मल आदि को दूर करना और उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना वैयावृत्य कहलाता है । समाधि, ध्यान, विचिकित्सा (ग्लानि) का अभाव, साधर्मियों के साथ प्रेम भाव और सबको सनाथ बनाये रखने के लिये वैयावृत्य किया जाता है ।

अब आगे स्वाध्याय को कहते हैं—अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है । वह स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश के भेद से पांच प्रकार का होता है । जिसकी आत्मा में किसी तरह की अपेक्षा नहीं है, जो केवल मोक्ष की इच्छा रखता है और जानने योग्य सब विषय जिसे मालूम हैं ऐसे किसी मनुष्य या मुनि के द्वारा किसी योग्य पात्र के लिए निर्दोष ग्रंथ अथवा अर्थ अथवा ग्रंथ (पाठ) अर्थ दोनों ही प्रतिपादन करना वाचना है । अपनी आत्मा की उन्नति प्रकाशित करने के लिए अथवा अन्य किसी को समझाने के लिए उपहास, संघर्ष, प्रहसन आदि को (हंसी-मजाक आदि को) छोड़कर संशय दूर करने के लिए अथवा स्वयं पदार्थ का

नादिवर्जितः संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्यार्थस्य तदुभयस्य परं प्रति पर्यनुयोगः पृच्छना। अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तप्तायःपिंडवदर्पितचेतसो मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। व्रतिनो विदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुतविलम्बितपदाक्षरच्युतादिघोषदोषविशुद्धं परिवर्त्तनमाम्नायः। दृष्टप्रयोजनपरित्यागादुन्मार्गनिवर्त्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनार्थमपूर्वपदार्थप्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेशः। किमर्थोऽयं स्वाध्यायः, प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः प्रवचनस्थितिः, संशयोच्छेदः, परवादिशंकाऽभाव., प्रभावना, परमसंवेगः, तपोवृद्धिः, अतिचारविशुद्धिः, कषायेन्द्रियजयः, परमोपायः, इत्येवमाद्यर्थं स्वाध्यायोऽनुष्ठेयः।

कायोत्सर्ग उच्यते। विविधानां बाह्याभ्यन्तराणां बन्धहेतूनां दोषाणामुत्तमस्त्यागो व्युत्सर्गः।

स्वरूप निश्चय करने के लिए कोई ग्रन्थ (पाठ) अर्थ अथवा ग्रन्थ अर्थ दोनों ही किसी दूसरे से पूछना पृच्छना कहलाती है। जिन्हें पदार्थों की प्रक्रियाएं सब मालूम हैं और तपाये हुए लोहे के गोले के समान जिनका चित्त उन्हीं पदार्थों में लगा हुआ है ऐसे मुनि जो उन पदार्थों को अपने मन में बार-बार चिंतवन करते हैं उसको अनुप्रेक्षा कहते हैं। व्रती सब समाचारों को (श्रेष्ठ आचरणों को) जानने वाले और इस लोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा से रहित मुनि का शीघ्रता या धीरता के कारण पद या अक्षरों का छूट जाना आदि घोकने के दोषों से रहित शुद्ध पाठ का बार-बार बांचना या घोकना, आवृत्ति करना आम्नाय कहलाता है। किसी प्रत्यक्ष प्रयोजन का त्यागकर मिथ्यामार्ग को दूर करने के लिए, किसी सन्देह को दूर करने के लिए अथवा अपूर्व पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए धर्मकथा आदि का कहना, उपदेश देना धर्मोपदेश है। यह स्वाध्याय, बुद्धि को बढ़ाना, श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करना, शास्त्र ज्ञान को स्थिर रखना, संशयों को दूर करना, परवादियों की शंका का निरास करना, जिनमत की प्रभावना करना, परम वैराग्य धारण करना, तप की वृद्धि करना, अतिचारों की विशुद्धि करना, कषाय तथा इन्द्रियों को जीतना और परम मोक्ष का उपाय करना आदि कार्यों के लिए सदा करते रहना चाहिये।

अब आगे कायोत्सर्ग कहते हैं—अनेक तरह के बाह्य तथा आभ्यंतर बंध के

आत्मनाऽनुपात्तस्यैकत्वमनापन्नस्याहारादेस्त्यागो बाह्योपधिव्युत्सर्गः। क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वहास्यरत्यरतिशोकभयादिदोषनिवृत्तिराभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः, कायत्यागश्चाऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः। स द्विविधः। यावज्जीवं, नियतकालश्चेति। तत्र यावज्जीवं त्रिविधः। भक्तप्रत्याख्यानेंगिनीमरणप्रायोपगमनभेदात्। तत्र भक्तप्रत्याख्यान जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टेन द्वादशवर्षाणि, अवान्तरो मध्यम उभयोपकारसापेक्ष भक्तप्रत्याख्यानमरणं। परप्रतीकारनिरपेक्षमात्मोपकारसापेक्षमिंगिनीमरणं। उभयोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमन। नियतकालो द्विविधः, नित्यनैमित्तिकभेदेन। नित्य आवश्यकादयः। नैमित्तिकः पार्वणी क्रिया निषद्याक्रियादयश्च। क्रियाकरणे वन्दनायाः कायोत्सर्गस्य च द्वात्रिंशद्-द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति। तत्र वन्दनाया अनादृतं, स्तब्ध, प्रविष्ट, परपीडितं, दोलायित, उन्मस्तक,

---

कारणरूप दोषों का उत्तम रीति से त्याग करना व्युत्सर्ग है। जिसे आत्मा स्वयं ग्रहण नहीं करती और न जो आत्मा के साथ मिलकर एक दोषरूप होता है ऐसे आहार आदि का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक और भय आदि दोषों को दूर करना अभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है। शरीर का त्याग करना भी आभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है। वह दो प्रकार का है—एक जीवन पर्यंत तक और दूसरा किसी नियत समय तक। उसमें भी जीवन पर्यंत तक का अभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग, भक्त प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रयोपगमन के भेद से तीन प्रकार का है। उसमे भी भक्त प्रत्याख्यान का जघन्य समय अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट बारह वर्ष है और अवांतर के भेदरूप समय सब मध्यम है। स्व-पर दोनों प्रकार के उपकार की अपेक्षा रखकर जो मरण किया जाता है वह भक्त प्रत्यख्यानमरण है। जिसमें दूसरे के प्रतिकार की अपेक्षा न रखकर केवल आत्मा के उपकार की अपेक्षा हो उसे इंगिनीमरण कहते है। जिसमें दोनों प्रकार के उपकार की अपेक्षा न हो उसे प्रायोपगमन कहते हैं। नियत काल भी नित्य नैमित्तिक के भेद से दो प्रकार का है—आवश्यक आदि क्रियाओं का करना नित्य है तथा पर्व के दिनों में होने वाली क्रियाएं करना या निषद्या क्रिया आदि करना नैमित्तिक है। क्रियाओं के करने पर भी वंदना और कायोत्सर्ग के बत्तीस-बत्तीस दोष होते हैं। उनमें से वंदना के अनादृत, स्तब्ध, प्रविष्ट, परपीड़ित,

कच्छपरंगितं, मत्स्योद्वर्तनं, मनोदुष्टं, वेदिकाबंधं, भेष्यत्वं, भीषितं, ऋद्धिगौरवं, गौरवं, स्तेनितं, प्रत्यनीकं, क्रोधादिशल्यं, तर्जितं, शब्दितं, हेडितं, त्रिवलितं, कुंचितं आचार्यादिदर्शनं, अदृष्टं, सङ्घकरमोचनं, आलब्धं, अनालब्धं, हीनं, अधिकं, मूकं, घर्घरं, चुरुलितमिति द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति। व्युत्सृष्टबाहुयुगले चतुरंगुलान्तरितसमपादे सर्वांगचलनरहिते कायोत्सर्गेऽपि दोषाः स्युः। घोटकपादं, लतावक्रं, स्तंभावष्टंभं, कुडयाश्रितं, मालिकोद्वहनं, शबरीगुह्यगूहनं, शृंखलितं, लंबितं, उत्तरितं, स्वप्नदृष्टिः, काकाऽलोकन, खलीनितं, युगकन्धरं, कपित्थमुष्टिः, शीर्षप्रकंपितं, मूकसंज्ञा, अंगुलिचालन, भ्रूक्षेपं, उन्मत्तं, पिशाच, अष्टादिगवलोकनं, ग्रीवोन्नमन, ग्रीवावनमनं, निष्टीवन, अंगस्पर्शनमिति द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति।

क्रियां कुर्वाणो वीर्योपगूहनमकृत्वा शक्त्यनुरूपतः स्थितेनाशक्तः सम्पर्यंकासनेन वा त्रिकरणशुद्धया सपुटीकृतकरः क्रियाविज्ञापनपूर्वकं सामायिकदंडकमुच्चारयेत्, तदावर्त्तत्रयं यथाजातं शिरोन-

---

दोलायित, उन्मस्तक, कच्छपरंगित, मत्स्योद्वर्तन, मनोदुष्ट, वेदिका बंध, भेष्यत्व, भीषित, ऋद्धिगौरव, शेष गौरव, स्तेनित, प्रत्यनीक, क्रोधादिशल्य, तर्जित, शब्दित, हेड़ित, त्रिवलित, कुंचित, आचार्यादिदर्शन, अदृष्ठ, संघकरमोचन, आलब्ध, अनालब्ध, हीन, अधिक, मूक, घर्घर और चुरुलित ऐसे बत्तीस दोष होते हैं। इसी प्रकार जिसमें दोनों भुजाएं लंबी छोड़ दी गई हैं, चार अंगुल के अंतर से दोनों पैर एक से रखे हुए हैं और शरीर के अंग-उपांग सब स्थिर हैं ऐसे कायोत्सर्ग के भी बत्तीस दोष होते हैं। उनके नाम ये हैं— घोटकपाद, लतावक्र, स्तंभावष्टंभ, कुड्याश्रित, मालिकोद्वहन, शबरीगुह्यगूहन, शृंखलित, लंबित, उत्तरित, स्तनदृष्टि, काकालोकन, खलीनित, युगकंधर, कपित्थमुष्टि, शीर्षप्रकंपित, मूकसंज्ञा, अंगुलिचालन, भ्रूक्षेप, उन्मत्त, पिशाच, पूर्वदिशावलोकन, आग्नेयदिशावलोकन, दक्षिणदिशावलोकन, नैऋत्यदिशावलोकन, पश्चिमदिशावलोकन, वायव्यदिशावलोकन, उत्तरदिशावलोकन, ईशानदिशावलोकन, ग्रीवोन्नमन, ग्रीवावनमन, निष्ठीवन और अंगस्पर्शन। क्रिया करते समय अपनी शक्ति को कभी नहीं छिपाना चाहिये, अपनी शक्ति के अनुसार खड़े होकर कायोत्सर्ग करना चाहिये। यदि खड़े होने की सामर्थ्य न हो तो पर्यंकासन से बैठकर करना चाहिये। मन, वचन, काय तीनों की शुद्धता-

मनमेकं भवति, अनेन प्रकारेण सामायिकदंडकसमाप्तावपि प्रवर्त्य यथोक्तकालं जिनगुणानुस्मरण-सहितं कायव्युत्सर्गं कृत्वा द्वितीयदण्डकस्यादावन्ते च तथैव प्रवर्त्तनं, एवमेकैकस्य कायोत्सर्गस्य द्वादशावर्त्ताश्चत्वारि शिरोवनमनानि भवन्ति। अथवैकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्याऽऽवर्त्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्त्ताश्चतस्रः शिरोवनतयो भवन्ति। आवर्त्तानां शिर:प्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमिति न दोषाय। उक्तं च—

दुउपादं जहाजादं बारसावत्तमेव च। चदुस्सिसरंति सुद्धि च किदियम्मं पउं बंदे।।

वक्ष्यमाणक्रियाणां कालनियम उच्यते। दैवसिकस्य नियमस्याष्टोत्तरशतं, रात्रिकस्य तदर्द्धं,

---

पूर्वक दोनों हाथों का संपुट बांधकर करने योग्य क्रियाओं की प्रतिज्ञा कर सामायिक दंडक का (सामायिक पाठ का) उच्चारण करना चाहिये। उस समय तीन आवर्त, यथाजात अवस्था धारण कर एक शिरोनति करना चाहिये। इसी प्रकार सामायिक दंडक के समाप्त होने पर भी सब क्रियाएं करनी चाहिये। इस तरह शास्त्रों में लिखे हुए समय तक भगवान जिनेंद्र देव के गुणों का स्मरण करते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे दंडक के प्रारंभ और अंत में करना चाहिये। इस प्रकार एक-एक कायोत्सर्ग के बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं अथवा एक-एक प्रदक्षिणा में (दिशा बदलते समय) उस दिशा सम्बन्धी चैत्य-चैत्यालय के सन्मुख तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। इस प्रकार चारों दिशाओं में बारह आवर्त और चार शिरोनति करनी चाहिये। आर्वत और शिरोनति का जो प्रमाण ऊपर लिखा है उससे अधिक करना कुछ दोष नहीं गिना जाता। लिखा भी है—दुउपादं इत्यादि।

अर्थात्—दो आसानों से यथाजात अवस्था धारण कर बारह आवर्त, चार शिरोनति और मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक काल का नियम कर प्रभु की वंदना करनी चाहिये।

अब आगे कहने वाली क्रियाओं के समय का नियम बतलाते हैं—दिन में होने वाले नियम का एक सौ आठ उच्छ्वास, रात्रि में होने वाले नियम का उससे आधा अर्थात्

पाक्षिकस्य त्रिशतं, चातुर्मासिकस्य चतुःशत सांवत्सरिकस्य पंचशतं, उच्छ्वासानामेषां पंचानां नियमानस्य कायोत्सर्गस्य प्रमाणं । अहिंसादिपंचनियमानामन्यतमस्यातीचारे सत्येकैकस्याष्टोत्तर-शतं, गोचारस्य ग्रामान्तरगमनस्याऽर्हच्छ्रमणनिषद्यानामुच्चारप्रस्रवणयोश्च पंचविंशतिः, ग्रन्थप्रारंभे परिसमाप्तौ च स्वाध्याये वन्दनायां प्रणिधाने च सप्तविंशतिः । एवमुक्तोच्छ्वासप्रमाणेन कायोत्सर्गं कृत्वा अनुत्सुकः सन् किंचित्कालं धर्म्यं शुक्लं च ध्यायेत् । नामस्थापनाद्रव्यभावसंनिधानं पुण्यपापा-स्रवहेतुस्तः चैत्यं चैत्यालयो गुरवो निषद्यास्थानादयश्च सम्यग्दृष्टीनां क्रियार्हा भवन्ति । अचेतनात्मका व्यपगतदानबुद्धयः कल्पवृक्षचिन्तामणयो यथा च देहिनां पुण्यानुरूपेणाभिलषितार्थप्रदायिनस्तथा जिन-बिंबानि, भव्यजनभक्त्यनुरूपेण गीर्वाणनिर्वाणपदप्रदायीनि गारुडमुद्रया यथा गरलापहरणं तथा चैत्या-

---

चौउन उच्छ्वास, पाक्षिक नियम का तीन सौ उच्छ्वास और चातुर्मासिक (चौमासे के) नियम का चार सौ उच्छ्वास और वार्षिक नियम का पांच सौ उच्छ्वास । इस प्रकार पांचों नियमों में कायोत्सर्ग का यह प्रमाण है । अहिंसा आदि पांचों नियमों में से किसी एक में अतिचार लगने पर प्रत्येक के एक सौ आठ उच्छ्वास का गोचार अर्थात् आहार के लिये गमन करने एक गांव से दूसरे गांव तक जाने, अरहंत देव के पंचकल्याणक अथवा समवसरण आदि क्षेत्रों की वंदना के लिये तथा साधुओं के समाधि स्थान की वंदना के लिये जाने के मल-मूत्र करने आदि कार्यों में पच्चीस उच्छ्वास कायोत्सर्ग का प्रमाण है । ग्रंथ के प्रारंभ और समाप्ति में स्वाध्याय, वंदना और प्रणिधान करते समय सत्ताइस उच्छ्वास कायोत्सर्ग करना चाहिये । इस प्रकार ऊपर कहे हुए उच्छ्वास के प्रमाण से कायोत्सर्ग कर बिना किसी उत्सुकता के थोड़ी देर तक धर्मध्यान अथवा शुक्ल-ध्यान करने चाहिये । नाम स्थापना द्रव्य भाव की समीपता पुण्य-पाप का कारण है इसलिये जिनप्रतिमा, चैत्यालय, गुरु और साधुओं के समाधि स्थान आदि ही सम्यग्दृष्टियों की क्रिया करने योग्य होते हैं—जिस प्रकार दान देने की बुद्धि से रहित और अचेतन ऐसे कल्पवृक्ष तथा चिंतामणि रत्न अपने-अपने पुण्य कर्मों के अनुसार प्राणियों को इच्छा-नुसार पदार्थ देते हैं उसी प्रकार जिनबिंब भी भव्य लोगों की भक्ति के अनुसार स्वर्ग और मोक्ष पद देते हैं । जिस प्रकार गरुड़मुद्रा से विष दूर हो जाता है उसी प्रकार जिन-

लोकनमात्रेणैव दुरितापहरणं भवत्यतश्चैत्यस्य तदाश्रयचैत्यालयस्यापि वन्दनाः कार्या ऐहिकार्थ-निरपेक्षाः परानुग्रहबुद्धयोऽकारणबन्धवो मोक्षपरिभ्रष्टजनमार्गोपदेशकाः प्रत्यक्षनिस्तारकाश्च तत-स्तेभ्यः सकाशात्सम्यक्त्वं ज्ञानाऽऽदानमणुव्रत सयमो तपश्च भवति ।

तेन गुरूणां पुण्यपुरुषोषितनिरवद्यनिषद्यास्थानादीनामुच्यते क्रियाविधानं। परायत्तस्य सतः क्रियां कुर्वाणस्य कर्मक्षयो न घटते, तस्मादात्माधीनः सच्चैत्यादीन् प्रतिवन्दनार्थं गत्वा धौत-पादस्त्रिप्रदक्षिणीकृत्येर्यापथकायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्याऽऽलोच्य चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शनमात्रान्निजनयनचन्द्रकातोपलविगलदानन्दाश्रुजलधारापूरपरिप्लावित-पक्ष्मपुटोऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारकप्रतिबिंबदर्शनजनितहर्षोत्कर्षपुलकिततनूरति -

---

बिंब के दर्शन करने मात्र से पापों का नाश हो जाता है। इसलिये जिनबिंब की वंदना करनी चाहिये और जिनबिंब के आश्रय होने से चैत्यालय की भी वंदना करनी चाहिये। आचार्य आदि गुरु लोग संसार सम्बन्धी किसी कार्य की अपेक्षा नहीं रखते, उनकी बुद्धि सदा दूसरों के अनुग्रह करने में ही लगी रहती है, वे बिना कारण के सबके बंधु हैं, मोक्ष मार्ग से भ्रष्ट हुए लोगों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देने वाले हैं और संसार से प्रत्यक्ष पार कर देने वाले हैं इसीलिये ऐसे गुरुजनों से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान का अभ्यास, अनुव्रत, महाव्रत, संयम और तप प्राप्त होता है। अतएव पुण्यपुरुषों के द्वारा सेवन करने योग्य तथा निर्दोष ऐसे गुरुजनों के निषद्या स्थान आदिकों की क्रियाओं को विधान कहते हैं। जो पराधीन होकर क्रियाएं करता है उसके कर्मों का नाश कभी नहीं होता इसलिये केवल आत्मा के आधीन होकर जिनबिंब आदिकों की प्रतिवंदना के लिये जाना चाहिये। पैर धोकर, तीन प्रदक्षिणा देकर ईर्यापथ कायोत्सर्ग करना चाहिये और फिर बैठकर आलोचना करनी चाहिये। तदनंतर "मैं चैतन्यभक्ति कायोत्सर्ग करता हूं" इस प्रकार प्रतिज्ञा कर तथा खड़े होकर श्री जिनेंद्रदेव रूपी चंद्रमा के दर्शन करने मात्र से अपने नेत्र रूपी चंद्रकांतमणि से निकलते हुए आनंदाश्रु की जलधारा के पूर से जिसके नेत्रों के दोनों पलक भीग गये हैं, अनादि संसार में दुर्लभ ऐसे भगवान अरहंत परमेश्वर परम भट्टारक के प्रतिबिंब के दर्शन करने से उत्पन्न हुए उत्कृष्ट

भक्तिभरावनतमस्तकन्यस्तहस्तकुशेशयकुड्मलो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्य चैत्यस्तवनेन त्रि: परीत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्याऽऽलोच्य पंचगुरुभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पंच परमेष्ठिन: स्तुत्वा तृतीयवारेऽप्युपविश्याऽऽलोचनीय: । एवमात्माधीनता, प्रदक्षिणीकरणं, त्रिवारं, निष्पन्नत्रयं, चतु:शिरो, द्वादशावर्त्तकमिति क्रियाकर्म षड्विधं भवति । तत्र चतु:शिरो दंडकद्वयान्ते प्रणतौ प्रदक्षिणीकरणे च दिक्चतुष्टयावनतौ चतु:शिरो भवति, अथवा शिर:शब्द: प्रधानवाची वन्दनाप्रधानभूता अर्हत्सिद्धसाधुधर्मा इति । उक्तं च राद्धान्तसूत्रे । "आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं बारसावत्तं चेति ।" एव देवतास्तवनक्रियायां चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति च कुर्यात् ।

हर्ष से जिसका शरीर पुलकित हो गया है तथा अत्यन्त भक्ति के भार से नम्रीभूत मस्तक पर जिसने अपने दोनों हाथरूपी कमलों का कुड्मल (जुड़े हुए हाथ) रख लिया है ऐसे उस कायोत्सर्ग करने वाले को दोनों दंडकों के आदि-अंत में पहिले कहे हुए क्रम से सब क्रियाएं करनी चाहिये अर्थात् तीन-तीन आवर्त और एक-एक शिरोनति करनी चाहिये । फिर जिनबिंब की स्तुति करनी चाहिये । दूसरी बार भी बैठकर आलोचना करनी चाहिये तथा "मैं पंचगुरुभक्ति कायोत्सर्ग करता हूं" ऐसी प्रतिज्ञा कर खड़े होकर पांचों परमेष्ठियों की स्तुति करनी चाहिये । तीसरी बार भी बैठकर आलोचना करनी चाहिये । इस प्रकार आत्मा की स्वाधीनता, तीन प्रदक्षिणा करना, तीन बार बैठना, तीन शुद्धि, चार शिरोनति और बारह आवर्त इस प्रकार छह प्रकार का क्रियाकर्म कहलाता है । उसमें भी चार शिरोनति दोनों दंडकों के आदि-अन्त में, प्रमाण करते समय, प्रदक्षिणा करते समय और चारों दिशाओं में नमस्कार करते समय, इस तरह चार-चार करनी चाहिये अथवा शिर शब्द का प्रधान अर्थ है अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म । वंदना के योग्य ये चार ही प्रधान हैं । इन छह कर्मों के लिये राद्धांत सूत्र में भी लिखा है "आदाहीणं पदाहीणं तिखुत्तं तिऊणदं चदुस्सिरं बारसावत्तं चेदि" अर्थात् आत्मा की स्वाधीनता (पदाहीणं) प्रदक्षिणा करना, (त्रिखुत्तं) त्रिवारशुद्धि, (तिऊणदं) तीन बार निषद्या या बैठना, (चदुस्सिरं) चार शिरोनति, (बारसावत्तं) बारह आवर्त—ये छह कर्म हैं । इस प्रकार देवता की स्तवन क्रिया करते समय चैत्यभक्ति और पंचगुरु की भक्ति करनी चाहिये ।

चतुर्दशीदिने तियोर्मध्ये सिद्धश्रुतशांतिभक्तिर्भवति । अष्टम्यां सिद्धश्रुतचारित्रशांतिभक्तयः । पाक्षिके सिद्धचारित्रशांतिभक्तयः । सिद्धप्रतिमायाः सिद्धभक्तिरेव, जिनप्रतिमायास्तीर्थंकरजन्मनश्च पाक्षिकी क्रिया, अष्टम्यादिक्रियासु दर्शनपूजा त्रिकालवन्दनायोगे शान्तिभक्तितः प्राक् चैत्यभक्तिं पंचगुरुभक्तिं च कुर्यात् । चतुर्दशीदिने धर्मव्यासंगादिना क्रिया कर्तुं न लभेत चेत्पाक्षिकेऽष्टम्याः क्रियाः कर्त्तव्याः । नन्दीश्वरदिने सिद्धनन्दीश्वरपंचगुरुशांतिभक्तयोऽभिषेकवन्दनायाः सिद्धचैत्यपंचगुरुशांतिभक्तयः । स्थिरचलजिनप्रतिमाप्रतिष्ठायाः सिद्धशांतिभक्ती भवतः । स्थिरप्रतिमायाश्चतुर्थस्थाने सिद्धभक्तिरालोचनासहिता चारित्रभक्तिश्चैत्यपंचगुरुशांतिभक्तयश्च कार्याः । चलप्रतिमाया अभिषेकवन्दना स्यात् । महत्तरस्य सामान्यर्षेः सिद्धभक्तिपूर्विका वंदना । सिद्धान्तविदां सिद्धश्रुतभक्ती भवतः ।

चतुर्दशी के दिन (चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति के मध्य में) सिद्धभक्ति, श्रुत तथा शान्तिभक्ति करनी चाहिये । अष्टमी के दिन सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । पाक्षिक कायोत्सर्ग में सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये । सिद्ध प्रतिमा की वंदना करते समय सिद्धभक्ति ही होती है । जिनप्रतिमा की और तीर्थंकरों के जन्म के दिन पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । अष्टमी आदि की क्रियाओं में दर्शनपूजा करनी चाहिये, तीनों कालों की वंदना करने के समय शांतिभक्ति से पहिले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये । चतुर्दशी के दिन धर्मक्रियाओं के व्यासंग से यदि कोई क्रिया न कर सके तो उसे पाक्षिक कायोत्सर्ग के समय अष्टमी के दिन की क्रिया करनी चाहिये । नन्दीश्वर पर्वों के दिनों में सिद्धभक्ति, नंदीश्वरभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । अभिषेक वंदना के समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । स्थिर और चल दोनों ही प्रकार की जिन प्रतिमा की प्रतिष्ठा के समय सिद्धभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये । स्थिर प्रतिमा के चतुर्थ स्थान में सिद्धभक्ति, आलोचना सहित चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । चल प्रतिमा की अभिषेक वंदना होती है । बड़े भारी ऋषि तथा सामान्य ऋषियों की सिद्धभक्तिपूर्वक वंदना की जाती है । सिद्धान्त के

आचार्याणां सिद्धाचार्यभक्ती । सिद्धांतवेदिनामाचार्याणां सिद्धश्रुतसूरिभक्तयः । प्रतिमायोगस्थितस्य मुनेर्लघीयसोऽपि सिद्धयोगशांतिभक्तयः । निष्क्रमणे सिद्धचारित्रयोगशांतिभक्तयो भवन्ति प्रदक्षिणीकरणं योगभक्त्या । ज्ञानोत्पत्तौ सिद्धश्रुतचरणयोगशांतिभक्तयो योगभक्त्या प्रदक्षिणीकरणं । जिननिर्वाणक्षेत्रे सिद्धश्रुतचारित्रयोगपरिनिर्वाणशांतिभक्तयो निर्वाणभक्त्या प्रदक्षिणीकरणं । श्रीवर्द्धमानजिननिर्वाणदिने सिद्धनिर्वाणपंचगुरुशांतिभक्तयः निर्वाणभक्त्या प्रदक्षिणा । सामान्यर्षौ मृते शरीरस्य निषद्यिकास्थानस्य वा सिद्धयोगशांतिभक्तयः । सिद्धांतवेदिनां साधूनां सिद्धश्रुतयोगशांतिभक्तयः । उत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगशांतिभक्तयः । सैद्धांतोत्तरयोगिनां सिद्धचारित्रयोगशान्तिभक्तयः । आचार्यस्य सिद्धयोगाचार्यशान्तिभक्तयः । सैद्धांताचार्यस्य सिद्धश्रुतयोगाचार्यशान्तिभक्तयः । उत्तरयोगिनामाचा-

---

जानकार मुनियों की सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति की जाती है। आचार्यों की सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति की जाती है। सिद्धान्त के जानकार आचार्यों की सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति की जाती है। प्रतिमायोग धारण करने वाले मुनि चाहे छोटे भी हों तो भी उनकी सिद्धभक्ति, योगभक्ति तथा शांतिभक्ति की जाती है। दीक्षाकल्याण के समय सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति तथा शांतिभक्ति की जाती है और उस समय योगभक्ति के पाठपूर्वक प्रदक्षिणा दी जाती है। केवलज्ञान उत्पन्न होने के समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति और शांतिभक्ति की जाती है और योगभक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा दी जाती है। तीर्थंकर के निर्वाण क्षेत्र में सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, परिनिर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये तथा निर्वाणभक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा देनी चाहिये। श्री वर्द्धमान जिनेंद्रदेव के निर्वाण होने के दिन सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति की जाती है तथा निर्वाणभक्तिपूर्वक प्रदक्षिणा दी जाती है। सामान्य ऋषि के स्वर्गवास के समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है तथा उनके शरीर की या निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, योगभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। सिद्धांतवेत्ता मुनियों के स्वर्गवास समय, उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। उत्तरयोगियों के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की

र्याणां सिद्धचारित्रयोगाचार्यशान्तिभक्तयः। उत्तरयोगिनः सैद्धांताचार्यस्य सिद्धश्रुतयोगाचार्यशान्तिभक्तयः। अनंतरोक्ता अष्टौ क्रिया शरीरस्य निषद्यास्थानस्य च। श्रुतपंचम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विकां वाचनां गृहीत्वा तदनु स्वाध्यायं गृह्णतः श्रुतभक्तिमाचार्यभक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्यायाः कृतश्रुतभक्तयः स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्तिभक्तिं कुर्युः। संन्यासप्रारंभे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा गृहीतवाचनाः कृतश्रुतसूरिभक्तयः स्वाध्यायं गृहीत्वा श्रुतभक्तौ स्वाध्यायं निष्ठापयेयुः। वाचनानिष्ठापने-

---

सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। सैद्धांतोत्तर योगियों के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। आचार्य के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। सैद्धान्ताचार्य के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। उत्तरयोगी आचार्यों के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति, शांतिभक्ति की जाती है। उत्तरयोगी सिद्धान्ताचार्य के स्वर्गवास के समय उनके शरीर की तथा निषद्यास्थान की सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगभक्ति, आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति की जाती है। (ऊपर कही हुई आठों क्रियायें शरीर और निषद्यास्थान की भी होती हैं, जैसी कि ऊपर दिखलाई जा चुकी हैं) श्रुत पंचमी के दिन सिद्धभक्ति तथा श्रुतभक्तिपूर्वक वाचना नाम का स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिये, उसके बाद स्वाध्याय कर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये, फिर स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुतभक्ति कर स्वाध्याय को पूर्ण कर समाप्ति के समय शांति भक्ति करनी चाहिये।

संन्यास के प्रारम्भ के समय सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति कर वाचना ग्रहण कर, फिर श्रुतभक्ति तथा आचार्यभक्ति कर स्वाध्याय ग्रहण कर श्रुतभक्ति में स्वाध्याय पूर्ण कर देना चाहिये। वाचना करने के समय भी यही क्रिया कर समाप्ति के समय

ऽपीमां क्रियां कृत्वा समाप्तौ शान्तिभक्तिं कुर्वन्तु । संन्यासस्थितस्य स्वाध्यायग्रहणे महाश्रुतसूरिभक्ती कृत्वा गृहीतस्वाध्यायं महाश्रुतभक्तौ निष्ठापयन्तु । दैवसिकरात्रिगोचरीप्रतिक्रमणे सिद्धप्रतिक्रमण-निष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थंकर भक्तीर्नियमेन कुर्यात् । योगग्रहणे मोक्षे च योगभक्तिः । पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकप्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थंकर भक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयः बृहदालोचना गुरुभक्तिर्लघीयसी आचार्यभक्तिश्च करणीया । शेषप्रतिक्रमणे चारित्रालोचनाबृहदालोचनागुरुभक्तिं विना शेषा. कर्तव्याः । दीक्षाग्रहणे लुंचने च सिद्धयोगभक्ती कृत्वा लुंचनावसाने सिद्धभक्तिः करणीया । सिद्धयोगभक्तो कृत्वा प्रत्याख्यानं गृहीत्वाऽऽचार्यभक्तिं कृत्वाचार्यान्विन्दतां सिद्धभक्तिं कृत्वा प्रत्याख्यान मोचयेत् । श्रुतभक्तिमाचार्यभक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्या-

---

शांतिभक्ति करनी चाहिये । संन्यास में स्थित होकर स्वाध्याय ग्रहण करते समय महाश्रुतभक्ति तथा महाआचार्यभक्ति कर फिर स्वाध्याय ग्रहण कर महाश्रुतभक्ति में ही स्वाध्याय करना चाहिये । दैवासिक (दिन के) प्रतिक्रमण में, रात्रि के प्रतिक्रमण में, गोचरी प्रतिक्रमण में नियम से सिद्ध प्रतिक्रमण निष्ठित चारित्रभक्ति और चतुर्विशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिये । योग ग्रहण करते समय और समाप्ति के समय योगभक्ति की जाती है । पाक्षिक प्रतिक्रमण, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण में सिद्ध प्रतिक्रमण तथा चारित्र प्रतिक्रमण के साथ-साथ चारित्रभक्ति, चतुर्विशति तीर्थंकरभक्ति चारित्र आलोचना, गुरुभक्ति, बड़ी आलोचना गुरुभक्ति और फिर छोटी आचार्यभक्ति करनी चाहिये । बाकी के प्रतिक्रमण में चारित्र-आलोचना, बड़ी आलोचना और गुरुभक्ति के बिना सब विभक्तियां करनी चाहिये । दीक्षा ग्रहण करते समय और केशलोंच करते समय सिद्धभक्ति और योगभक्ति करके केशलोंच के अन्त में सिद्धभक्ति करनी चाहिये, फिर सिद्धभक्ति तथा योगभक्ति करके प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये तदनंतर आचार्यभक्ति करके आचार्यवंदना करनी चाहिये और फिर सिद्धभक्ति करके प्रत्याख्यान को छोड़ देना चाहिये । फिर श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय ग्रहण कर उस स्वाध्याय के करते समय श्रुतभक्ति करनी चाहिये । मंगल के विषयभूत मध्यान्ह के समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरु-

यस्तन्निष्ठापने श्रुतभक्ति करोतु । मंगलगोचरमध्यान्हे सिद्धचैत्यपंचगुरुशान्तिभक्ति कुर्यात् । मंगल-गोचरप्रत्याख्याने महासिद्धयोगभक्ती कृत्वा गृहीतप्रत्याख्यान आचार्यशान्तिभक्ती कुर्यात् । वर्षाकाले योगग्रहणे निष्ठापने च सिद्धयोगपंचचैत्यगुरुभक्तयः कार्याः, चैत्यभक्त्या प्रदक्षिणीकुर्वन् सालोचन-व्युत्सर्गं चतसृषु दिक्षु कुर्यात् । सिद्धांतवाचनाग्रहणे सिद्धश्रुतभक्ती कृत्वा तदनुश्रुताचार्यभक्ति कृत्वा गृहीतस्वाध्यायस्तन्निष्ठापने श्रुतशान्तिभक्ती करोतु । सिद्धांतस्यार्थाधिकाराणा समाप्तावेकैक कायोत्सर्गं कुर्यात् । अर्थाधिकाराणा सुबहुमान्यत्वात्तेषामादौ सिद्धश्रुतसूरिभक्ती कृत्वा समाप्तावप्येतेन क्रमेण प्रवर्तिते सति षट् कायोत्सर्गा भवन्ति । गुरुणामनुज्ञया ज्ञानविज्ञानवैराग्यसम्पन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाऽऽचार्यपदव्या योग्य. साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्ति कृत्वाऽऽचार्यपदवी गृहीत्वा शान्ति-भक्ति कुर्यात् । एवमुक्ता क्रिया यथायोग्यं जघन्यमध्यमोत्तमश्रावकैः सयतैश्च करणीयाः । किमर्थो व्युत्सर्गो निःसगत्वं निर्भयत्वं जीविताशाव्युदासो दोषच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थं ।

भक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । मंगल के विषयभूत मध्यान्ह काल के प्रत्याख्यान के समय महासिद्धभक्ति तथा योगभक्ति करके प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये और फिर आचार्यभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये । वर्षा ऋतु में योग ग्रहण करते समय और निष्ठापन ग्रहण करते समय सिद्धभक्ति, योगभक्ति, पंचचैत्य, गुरुभक्ति करनी चाहिये, फिर चैत्यभक्ति के साथ प्रदक्षिणा देकर चारों दिशाओं में आलोचना-पूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिये । सिद्धान्त ग्रंथों के वाचने के समय सिद्धभक्ति, श्रुत-भक्ति करनी चाहिये और फिर श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय करना चाहिये और उसके निष्ठापन के समय श्रुतभक्ति तथा शांतिभक्ति करनी चाहिये । सिद्धान्त ग्रंथों के अर्थाधिकार समाप्त होने के समय एक-एक कायोत्सर्ग करना चाहिये । सिद्धान्त ग्रंथों के अर्थाधिकार सबसे अधिक मान्य हैं इसलिये उनके प्रारम्भ में सिद्धभक्ति, श्रुत-भक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिये तथा समाप्त होने के समय भी ये ही क्रियायें कर अन्त में छह कायोत्सर्ग करने चाहिये । जो ज्ञान वैराग्य विज्ञान सहित है, विनीत है धर्मशील है और आचार्य पद के योग्य है उसे स्थिर होकर साधु तथा गुरु के समक्ष सिद्ध-भक्ति और आचार्यभक्ति करके आचार्य पदवी ग्रहण करनी चाहिये और फिर शांति-भक्ति करनी चाहिये । इस प्रकार जो क्रियाएं ऊपर कहीं हैं वे अपनी योग्यता के अनुसार

अथ ध्यानप्रस्तावः । एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानं, एकस्मिन् क्रियासाधनेऽग्रं मुखं यस्याश्चिन्तायाः इत्येकाग्रचिन्ता । तस्या निरोधोऽन्यत्राऽसंचारस्तदेकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानं । तस्य योगश्चतुर्विधः, ध्यानं, ध्येय, ध्याता, फलमिति । तत्र ध्यानं चिन्ताप्रबन्धलक्षणं । ध्येयमप्रशस्तप्रशस्तपरिणामकारणं । ध्याता कषायकलुषितो गुप्तेन्द्रियश्च । फलं संसारभ्रमणं स्वर्गापवर्गसुखं च । तदेतच्चतुरंगध्यानमप्रशस्तप्रशस्तभेदन द्विविधं, श्रेयोधिकारेऽप्रशस्तोपन्यासः परिज्ञातस्य प्रहेयत्वोपपत्तेः । अप्रशस्तं द्विविधमार्त्तं रौद्रं चेति । तत्राऽऽर्त्तं बाह्याऽऽध्यात्मिकभेदाद्द्विविकल्पं । तत्र परानुमेयं बाह्य शोधन-

---

उत्तम, मध्यम जघन्य, श्रावकों को तथा मुनियों को करनी चाहिये । यह कायोत्सर्ग परिग्रहों का त्याग करने के लिये, निर्भय रहने के लिये, जीवित रहने की आशा का त्याग करने के लिये, दोषों का नाश करने के लिये और मोक्ष मार्ग की भावना में तत्पर रहने के लिये करना चाहिये ।

अब आगे ध्यान का प्रकरण लिखते हैं—एकाग्रचिन्ता का निरोध करना ध्यान है । जो चितवन किसी एक ही क्रिया के साधन करने में मुख्य हो उसे एकाग्रचिन्ता कहते हैं । उस एकाग्रचिन्ता का निरोध करना अर्थात् किसी एक मुख्य पदार्थ को छोड़कर अन्य सब पदार्थों के चितवन का त्याग कर देना एकाग्रचिन्ता निरोध कहलाता है और उसी को ध्यान कहते हैं । उस ध्यान का योग ध्यान, ध्येय, ध्याता और फल के भेद से चार प्रकार का होता है । चितवन करना ध्यान है । जो अशुभ तथा शुभ परिणामों का कारण हो उसे ध्येय कहते हैं । कषायों से जिसका चित्त कलुषित है अथवा जो मन, वचन, काय तथा इन्द्रियों को वश में करने वाला है वह ध्याता या ध्यान करने वाला कहलाता है । उसका फल संसार में परिभ्रमण करना अथवा स्वर्ग मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होना है । जिसके ऊपर लिखे हुए चार अंग हैं ऐसा ध्यान अशुभ और शुभ के भेद से दो प्रकार का है । यद्यपि यहां पर मोक्ष मार्ग का अधिकार है तथापि जानकर त्याग कर देने के लिए ही अशुभ ध्यानों का वर्णन किया है । आर्त और रौद्र के भेद से अशुभ ध्यान दो प्रकार का है । उसमें भी बाह्य और अध्यात्म के भेद से आर्तध्यान भी दो प्रकार का है । अन्य लोग जिसका अनुमान कर सकें उसे बाह्य कहते हैं ।

क्रन्दनविलपनपरिदेवनविषयसंगपरिभवविस्मयादिलक्षणं। स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकार्तध्यानं, अमनोज्ञसंप्रयोगमनोज्ञविप्रयोगस्यानुत्पत्तिसंकल्पाध्यवसानं, उत्पन्नस्य च विनाशसंकल्पाध्यवसानमिति चतुःप्रकारं। तद्यथा—अमनोज्ञं दुःखसाधनं, तच्च बाह्यमाध्यात्मिकमिति द्विविधं। तत्र बाह्यं चेतनकृतमचेतनकृतमिति द्विप्रकारं। तत्र चेतनकृतं देवमनुष्यतिर्यक्संपादितमसातं, अचेतनकृतं च विषकंटकाग्निशस्त्रक्षारशीतोष्णादिजनितदुःखं। आध्यात्मिककारणं शारीरं मानसमिति द्विविधं। तत्र शारीरं वातपित्तश्लेष्मवैषम्यसमुद्भवशिरोक्षिदंतकुक्षिशूलादिजनितं। मानसं चाऽरतिभयशोकभयजुगुप्साविषाददौर्मनस्यादिजनितमित्यादिदुःखसाधनममनोज्ञं, तेन संप्रयोगः स कथं नाम मे नोत्पद्यत इति चिन्ताप्रबंधः,

---

शोक करना, रोना, विलाप करना, खूब जोर से रोना, विषयों की इच्छा करना, तिरस्कार करना तथा अभिमान करना आदि बाह्य आर्तध्यान कहलाता है। जिसे केवल अपनी ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक आर्तध्यान कहते हैं। वह आध्यात्मिक आर्तध्यान चार प्रकार का होता है। अमनोज्ञ पदार्थ के साथ सम्बन्ध उत्पन्न न होने के संकल्प का चिंतवन करना, अमनोज्ञ पदार्थ के साथ सम्बन्ध उत्पन्न होने पर उसके विनाश होने के संकल्प का चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थों के वियोग होने पर उनके उत्पन्न होने के संकल्प का चिंतवन करना और मनोज्ञ पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो जाने पर उनके विनाश न होने के संकल्प का चिंतवन करना। इन्हीं चारों आर्तध्यानों का स्वरूप आगे बतलाते हैं—दुःखों के कारणों को अमनोज्ञ कहते हैं। वह अमनोज्ञ बाह्य और आभ्यंतर के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी बाह्य अमनोज्ञ चेतन का किया हुआ और अचेतन का किया हुआ ऐसे दो प्रकार का है। देव, मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा दिया हुआ दुःख चेतन के द्वारा किया हुआ बाह्य अमनोज्ञ है और विष, कांटा, अग्नि, शस्त्र, क्षार, शीत, उष्ण आदि के द्वारा प्राप्त हुआ दुःख अचेतन कृत बाह्य अमनोज्ञ है। आध्यात्मिक अमनोज्ञ भी शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का है। उसमें वात, पित्त, श्लेष्मा की विषमता से उत्पन्न हुई मस्तक, आँख, दांत और पेट आदि की पीड़ा से उत्पन्न हुआ दुःख का साधन शारीरिक आध्यात्मिक अमनोज्ञ है तथा अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, विषाद, चित्त की मलिनता आदि से उत्पन्न हुआ दुःख का साधन

संकल्पस्तस्याध्यवसानं तीव्रकषायानुरंजनं, एतदमनोज्ञसंप्रयोगस्यानुत्पत्तिसंकल्पाध्यावसानं प्रथमार्त्तं। एतद्दु:खसाधनसद्भावे तस्य विनाशकांक्षोत्पन्नविनाशसंकल्पाध्यवसानं द्वितीयार्त्तं। मनोज्ञं नाम धनधान्यहिरण्यसुवर्णवस्तुवाहनशयनाऽऽसनस्रक्चन्दनवनितादिसुखसाधनं मे स्यादिति गर्द्धनं। मनोज्ञविप्रयोगस्यानुत्पत्तिसंकल्पाध्यवसानं तृतीयार्त्तं। सुखसाधनसद्भावे तेन विप्रयोगो मे न स्यादिति संकल्पः उत्पन्नविनाशसंकल्पाध्यवसानं चतुर्थार्त्तं। एतच्चतुर्विधार्त्तध्यानं कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानं प्रमादधिष्ठानं प्रागप्रमत्ताच्छड्गुणस्थानभूमिकमन्तर्मुहूर्तकालमतः परं दुर्धरत्वात् क्षायोपाशमिकभावपरोक्षज्ञानत्वात्तिर्यग्गतिफलसंवर्त्तनीयमिति।

रौद्रं चबाह्याऽऽध्यात्मिकभेदेन द्विविधं। तत्र परानुमेयं बाह्यं परुषनिष्ठुराऽऽक्रोशननिर्भर्त्सन-

---

मानसिक आध्यात्मिक अमनोज्ञ है। इन चारों प्रकार के अमनोज्ञों का सम्बन्ध मेरे साथ उत्पन्न न हो इस प्रकार के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना और वह भी तीव्र कषायों के सम्बन्ध से चिंतवन करना अमनोज्ञ पदार्थ के साथ सम्बन्ध उत्पन्न होने के संकल्प का चिंतवन नाम का पहिला आर्तध्यान कहलाता है। इन दुःखों के कारण उत्पन्न होने पर उनके विनाश होने की इच्छा उत्पन्न होने से उनके विनाश के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान है। धन-धान्य, हिरण्य (चाँदी), स्वर्ण, वस्त्र, सवारी, शय्या, आसन, माला, चंदन और स्त्री आदि सुखों के साधनों को मनोज्ञ कहते हैं। ये मनोज्ञ पदार्थ मेरे हों इस प्रकार चिंतवन करना, मनोज्ञ पदार्थों के वियोग होने पर उनके उत्पन्न होने के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना तीसरा आर्तध्यान कहलाता है। सुखों के साधन प्राप्त होने पर "मेरे उनका वियोग कभी न हो" इस प्रकार का संकल्प करते रहना चौथा आर्तध्यान कहलाता है। ये चारों प्रकार के आर्तध्यान कृष्ण, नील, कापोत, लेश्याओं के बल से होते हैं तथा प्रमाद से उत्पन्न होते हैं। यह आर्तध्यान अप्रमत्त से पहिले-पहिले छह गुणस्थानों में होता है और अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त तक होता है। इससे आगे वह दुर्धर है अर्थात् अंतर्मुहूर्त से अधिक हो ही नहीं सकता। परोक्षज्ञान होने से क्षायोपशमिक भाव है तथा इसका फल तिर्यंच गति की प्राप्ति से होता है।

रौद्रध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिक के भेद से दो प्रकार का है। उसमें भी

बन्धनतर्जनताडनपीडनपरदारातिक्रमणादिलक्षणं । स्वसंवेद्यमाध्यात्मिक तच्च हिंसानंदमृषानन्दस्तेयानन्दविषयसंरक्षणानन्दभेदाच्चतुर्विधं । तीव्रकषायानुरंजनं हिंसानन्दं प्रथमरौद्रं । स्वबुद्धिविकल्पितयुक्तिभिः परेषां श्रद्धेयरूपाभिः परवंचन प्रति मृषाकथने सकल्पाध्यवसानं मृषानंदं द्वितीयरौद्र । हृठात्कारेण प्रमादप्रतीक्षया वा परस्वापहरणं प्रति संकल्पाध्यवसान तृतीयरौद्र । चैतनाचेतनलक्षणे स्वपरिग्रहे ममैवेदं स्वमहमेवास्य स्वामीत्यभिनिवेशात्तदपहारकव्यापादनेन सरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्द चतुर्थं रौद्रं । तुष्टयमपीदमिति कृष्णनीलकापोतलेश्याबलाधानं प्रमादाधिष्ठान । प्राक्प्रमत्तात्पचगुणस्थानभूमिकमन्तर्मुहूर्तकालमत.परं दुर्धरत्वात् क्षायोपशमिकभाव परोक्षज्ञानत्वादौदयिकभावं वा भावलेश्याकषायप्राधान्यान्नरकगतिफलसंवर्तनीयमिति ।

अन्य लोग जिसे अनुमान से जान सकें उसे बाह्य कहते है और कठोर बचन, मर्मभेदी, वचन, आक्रोश (गाली-गलोच) बचन, तिरस्कार करना, बांधना, तर्जन करना, ताड़न करना तथा परस्त्री पर अतिक्रमण करना आदि बाह्य रौद्रध्यान कहलाता है । जिसे अपनी ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्रध्यान कहते हैं और हिंसानंद, मृषानंद, स्तेयानंद तथा विषयसंरक्षणानन्द के भेद से वह आध्यात्मिक रौद्रध्यान चार प्रकार का है—तीव्र कषाय के उदय से हिंसा में आनन्द मानना पहिला रौद्रध्यान है, जिन पर दूसरों को श्रद्धान हो सके ऐसी अपनी बुद्धि के द्वारा कल्पना की हुई युक्तियों के द्वारा दूसरों को ठगने के लिये झूठ बोलने के संकल्प का बार-बार चितवन करना मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है, जबर्दस्ती अथवा प्रमाद की प्रतीक्षापूर्वक दूसरे के धन को हरण करने के संकल्प का बार-बार चिंतवन करना तीसरा रौद्रध्यान है, चेतन-अचेतनरूप अपने परिग्रह में 'यह मेरा परिग्रह है, मैं इनका स्वामी हूँ' इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करने वाले का नाश कर उसकी रक्षा करने के संकल्प का बार-बार चितवन करना विषय संरक्षणानन्द नाम का चौथा रौद्रध्यान है । यह चारों ही प्रकार का रौद्रध्यान कृष्ण, नील और कापोतलेश्या के बल से होता है तथा प्रमादपूर्वक होता है । प्रमत्त गुणस्थान से पहिले-पहिले पांच गुणस्थानों में होता है और अन्तर्मुहूर्त तक होता है । अन्तर्मुहूर्त के आगे दुर्धर है अर्थात् इससे अधिक समय तक यह कभी धारण नहीं किया जा सकता । यह परोक्षज्ञान

उभयमप्येतदपध्यानं परिहरन्नपवर्गकामो भिक्षुः परिषहबाधासहिष्णुः शक्तिमदुत्तमसंहननान्वितः प्रशस्तध्यानप्रवणो गिरिगुहादरीकन्दरतरुकोटरसरित्पुलिनपितृवनजीर्णोद्यानशून्यगृहादीनामन्यतमस्मिन् प्रदेशे व्यालपशुमृगषण्ढकमनुष्यादीनामगोचरे तत्रस्थागंतुकजन्तुभिः परिवर्जितेऽत्युष्णातिशीतातिवातातिवर्षातपरहिते समन्तादिन्द्रियमनोविक्षेपहेतुनिराकरणभूते शुचावनुकूलस्पर्शिनि भूमितले यथा सुखमुपविष्टो बद्धपर्यंकासनः स्वांके वामपाणितलस्योपरि दक्षिणपाणितलमुत्तानं निधाय नेत्रे नात्युन्मीलयन्नातिमीलयन दन्तैर्दन्ताग्राणि संदधानः प्राणापानप्रचारात्यंतनिग्रहे तीव्रदुःखाकुलचेतस एकाकारपरिणामो न जायते, ततो मन्दमन्दप्राणापानप्रचारः स्यादेवं द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धिसयुतस्तत्प्रतिपक्षदोषवर्जितः परमयोगी ससारलतामूलोच्छेदनहेतुभूत प्रशस्तध्यानं ध्यायेत् ।

गोचर होने से क्षायोपशमिक भाव है अथवा भाव लेश्या और कषायों की प्रधानता होने से औदयिक भाव है । यह नरकगति का फल देने वाला है ।

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान दोनों ही अपध्यान हैं । मोक्ष की इच्छा करने वाले भिक्षुक को ये दोनों ही छोड़ देने चाहिये । इसके सिवाय उसे परीषहों की सब बाधाएं सहन करनी चाहिये, उसे शक्तिशाली तथा उत्तम संहननों का धारक होना चाहिये और शुभ ध्यान करने में निपुण होना चाहिये । जहाँ ध्यान किया जाए वह स्थान पर्वत की गुफा, दरी, कन्दरा, वृक्ष के कोटर, नदियों के किनारे, श्मशान, जीर्ण वन और सूने मकान आदि में से कोई सा भी एक होना चाहिये परन्तु वह ऐसा होना चाहिये जहां सर्प, पशु जंगली जानवर, नपुंसक और मनुष्य आदि न आ सकें, वहां के रहने वाले तथा बाहर से आने वाले जीवों से रहित हो, अत्यन्त उष्णता (गर्मी), अत्यन्त सर्दी, अत्यन्त वायु, अत्यन्त वर्षा और अत्यन्त धूप से रहित हो, जिसके चारों ओर इन्द्रिय और मन को क्षोभ करने वाले कोई पदार्थ न हों, जो पवित्र हो और जिसका स्पर्श अनुकूल हो, ऐसे पृथ्वी तल पर सुखपूर्वक बैठना चाहिये । अथवा आसन पर्यंकासन बाँधकर बैठना चाहिये । अपनी गोद पर बांयें हाथ की हथेली पर दांयें हाथ को ऊपर को ओर हथेली कर रखना चाहिये, नेत्रों को न तो बिल्कुल खुला ही रखना चाहिये और न बिल्कुल बन्द ही कर लेना चाहिये । दांतों से दांत मिला लेना चाहिये (इस तरह से ओठों से ओठ अपने आप मिल ही जायेंगे) ।

तद् द्विविधं, धर्म्यं शुक्लं चेति। तत्र धर्म्यध्यानं बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विप्रकारं। तत्र परानुमेयं बाह्यं सूत्रार्थगवेषणं दृढव्रतशीलगुणानुरागनिभृतकरचरणवदनकायपरिस्पंदवाग्व्यापारं जृम्भजृम्भोद्गारक्षवथुप्राणापानोद्रेकादिविरमणलक्षणं भवति। स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं, तद्दशविधं, अपायविचयं, उपायविचय, जीवविचयं, अजीवविचयं, विपाकविचयं, विरागविचयं, भवविचयं, संस्थानविचय, आज्ञाविचयं, हेतुविचयं, चेति। एतद्दशविधमपि, दृष्टश्रुतानुभूतदोषपरिवर्जनपरस्य मन्दतरकषायानुरंजितस्य भव्यवरपुंडरीकस्य भवति। तत्रापायविचयं नामानाद्याजवंजवे यथेष्टचारिणो जीवस्य मनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोपार्जितपापानां परिवर्जनं तत्कथं नाम मे स्यादिति संकल्पनाश्चिंता-

---

प्राण और अपान के प्रचार का अत्यन्त निग्रह करने से तीव्र दुःख होता है तथा आकुलित चित्त होता है, इसलिये ऐसा करने से एकाकार परिणाम कभी नहीं हो सकते, अतएव प्राण और अपान का प्रचार मंद-मंद रीति से होते रहना चाहिये। इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव की शुद्धतापूर्वक प्रतिपक्षी दोषों से रहित परम योगी को संसाररूपी लता की जड़ काटने का कारण ऐसे शुभध्यान का चितवन करना चाहिये।

वह ध्यान दो प्रकार का है—एक धर्म्यध्यान और दूसरा शुक्लध्यान। उनमें भी बाह्य और अभ्यंतर के भेद से धर्म्यध्यान भी दो प्रकार का है। जिसे अन्य लोग भी अनुमान से जान सकें उसे बाह्य धर्म्यध्यान कहते हैं। सूत्रों के अर्थ की गवेषणा (विचार या मनना करना), व्रतों को दृढ़ रखना, शील गुणों में अनुराग रखना, हाथ, पैर, मुंह आदि शरीर का परिस्पंदन और वाग् व्यापार को बन्द करना, जम्भाई लेना, जम्भाई के उद्गार प्रकट करना, छींकना तथा प्राण अपान का उद्रेक आदि सब क्रियाओं का त्याग करना बाह्य धर्म्यध्यान है। जिसे केवल अपनी ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक कहते हैं। वह आध्यात्मिक धर्म्यध्यान, अपायविचय, उपायविचय, जीवविचय, अजीवविचय, विपाकविचय, विरागविचय, भवविचय, संस्थानविचय, आज्ञाविचय और हेतुविचय के भेद से दस प्रकार का है। जिसने देखे, सुने और अनुभव किये हुये सब दोष छोड़ दिये हैं, जिसके कषायों का उदय अत्यन्त मंद है और जो अत्यन्त श्रेष्ठ भव्य है उसी के यह दसों प्रकार का धर्म्यध्यान होता है। आगे उन्हीं को दिखलाते हैं—"मेरा यह जीव अनादि काल से

प्रवन्धः प्रथमधर्म्यं। उपायविचयंप्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोऽवश्यःकथं मे स्यादिति संकल्पो द्वितीयधर्म्यम्। जीवविचयं-जीव उपयोगलक्षणो द्रव्यार्थादनाद्यनन्तोऽसंख्येयप्रदेशः स्वकृतशुभाशुभकर्मफलोपभोगीगुणवानात्मोपात्तदेहमात्रः प्रदेशसंहरणविसर्पणधर्मा सूक्ष्मोऽव्याघात ऊर्द्ध्वगतिस्वभावोऽनादिकर्मबन्धनबद्धस्तत्क्षयान्मोक्षभागी गत्यादि—निर्देशादि-सदादि-प्रमाण नयनिक्षेपविषय इत्यादिजीवस्वभावानुचिंतनं तृतीयं धर्म्यं। विपाकविचयमष्टविधकर्माणि नामस्थापनाद्रव्यभावबलक्षणानि मूलोत्तरोत्तरप्रकृतिविकल्पविस्तृतानि गुडखंडसिताऽमृतमधुरविपाकानि निबकांजीविषहा-

---

इस संसार में अपनी इच्छानुसार परिभ्रमण कर रहा है, इसलिये मेरे मन, वचन, काय की विशेष प्रवृत्ति से उत्पन्न हुए पापों का त्याग किस प्रकार होगा।" इस प्रकार संकल्प कर बार-बार चिंतवन करना पहिला अपायविचय नाम का धर्म्यध्यान है। "मेरे सदा और अवश्य रहने वाली शुभ मन, वचन, काय की विशेष प्रवृत्ति किस प्रकार होगी" इस प्रकार का संकल्प कर बार-बार चिंतवन करते रहना दूसरा उपायविचय नाम का धर्म्यध्यान है। यह जीव उपयोग लक्षण वाला है अर्थात् इसका लक्षण ही उपयोग है अथवा यह उपयोग-स्वरूप है, द्रव्यार्थिक नय से अनादि अनंत है (अनादि काल से चला आया है और अनंत काल तक रहेगा), असंख्यात प्रदेशी है, अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला है, गुणी या गुण वाला है, आत्मा के द्वारा प्राप्त हुए शरीर के प्रमाण के बराबर है, इसके प्रदेशों में संकोच विस्तार होना इसका धर्म या स्वभाव है, यह सूक्ष्म है, अव्याघाती (न किसी को रोकता है और न किसी से रुकता है) है, ऊर्ध्व गमन करना इसका स्वभाव है, अनादि काल से लगे हुये कर्मों के बंधन से बंधा हुआ है और उन कर्मों के नाश हो जाने पर मोक्ष सुख का भोक्ता होता है। गति इंद्रिय आदि, नाम स्थापना आदि, निर्देश स्वामित्व आदि, सत् संख्या आदि तथा प्रमाण नय निक्षेप आदि के गोचर हैं अर्थात् इसका स्वरूप इन सबसे जाना जाता है। इस प्रकार जीव के स्वभाव का चिंतवन करना तीसरा जीवविचय नाम का धर्म्यध्यान कहलाता है।

कर्मों के आठ भेद हैं तथा नाम स्थापना द्रव्य भाव के भेद से और मूल प्रकृति, उत्तर प्रकृति तथा उत्तरोत्तर प्रकृतियों के भेद से उनके अनेक भेद होते हैं। उनमें से शुभ कर्मों

लाहलकटुकविपाकानि चतुर्विधबंधानि लतादार्वस्थिशैलस्वभावानि कासु कासु गतिषु योनिष्ववस्थासु च जीवानां विषया भवन्तीति विपकाविशेषानुचिन्तनं पंचमधर्म्यं। विरागविचयं शरीरमिदमनित्यम-परित्राणं विनश्वरस्वभावमशुचिदोषाधिष्ठितं सप्तधातुमयं बहुमलपूर्णमनवरतनिस्यंदितस्रोतोबिल-मतिबीभत्समाध्येयमशौचमपि पूतिगंधि सम्यग्ज्ञानिजनवैराग्यहेतुभूतं नास्त्यत्र किंचित्कमनीयमिन्द्रिय-सुखानि प्रमुखरसिकानि क्रियावसानविरसानि किंपाकपाकविपाकानि पराधीनान्यस्थानप्रचुरभंगुराणि यावद्यावदेषां रामणीयकं तावत्तावद्भोगिनां तृष्णाप्रसंगोऽनवस्थो यथाऽग्नेरिन्धनैर्जलनिधेःसरित्सहस्रेण

का विपाक (उदय या फल देना) गुड़, खांड (शकर), मिश्री और अमृत रूप उत्तरोत्तर मीठा या श्रेष्ठ हुआ करता है और अशुभ प्रकृतियों का विपाक नीम, कांजी, विष और हलाहल रूप कड़वा या बुरा दुःख देने वाला होता है। उन कर्मों का बंध भी लता (बेल), दारु (लकड़ी), अस्थि (हड्डी) और पर्वत स्वभावरूप चार प्रकार का होता है। ये सब कर्म किस-किस गति में, किस-किस योनि में और किस-किस अवस्था में जीवों के विषय-भूत होते हैं अर्थात् प्रत्येक गति में, प्रत्येक योनि में और प्रत्येक अवस्था में किन-किन कर्मों का बंध उदय होता है या किन-किन कर्मों की सत्ता रहती है आदि कर्मों के विशेष उदय का बार-बार चिंतवन करना पांचवां विपाकविचय नाम का धर्म्यध्यान है। यह शरीर अनित्य है, कोई इसकी रक्षा नहीं कर सकता, नाश होना इसका स्वभाव है, यह अपवित्र है, दोषों का स्थान है, सातों धातुओं से बना हुआ है, अनेक तरह के मलों से परिपूर्ण या भरा हुआ है, इसके नवद्वाररूपी बिल सदा बहते रहते हैं, यह अत्यंत बीभत्स है, आधेय है, अपवित्र होकर भी दुर्गंधमय है, सम्यग्ज्ञानी लोगों को वैराग्य उत्पन्न होने का कारण है और इसमें कोई भी पदार्थ या कुछ भी भाग सुन्दर या मनोहर नहीं है। इन्द्रियों के सुख आरम्भ में तो अच्छे लगते हैं परन्तु अन्त में बड़े ही नीरस पके हुये किंपाक[1] फल के समान ही इनका भी विपाक होता है। ये इन्द्रियों के सब सुख पराधीन हैं और बीच में ही अनेक बार नष्ट हो जाते हैं। जब-जब तक ये सुन्दर जान पड़ते हैं तब-तब तक भोग करने वालों को इनकी तृष्णा बढ़ती ही जाती

---

१. पकने पर किंपाक फल बहुत ही सुन्दर होता है परन्तु खाने मे विष के समान कड़वा होता है।

न तृप्तिस्तथा लोकस्याप्येतैर्न तृप्तिरूपशान्तिश्चैहिकामुत्रिकविनिपातहेतवस्तानि देहिनः सुखानीति मन्यंते महादुःखकारणान्यनात्मीयत्वादिष्टान्यप्यनिष्टानीति वैराग्यकारणविशेषानुचिन्तनं षष्ठं धर्म्यं । भवविचयं सचित्ताचित्तमिश्रशीतोष्णमिश्रसंवृतविवृतमिश्रभेदासु योनिषु जरायुजांडजपोतोपपादसम्मूर्च्छनजन्मनो जीवस्य भवाद्भवान्तरसंक्रमण इषुगतिपाणिमुक्तालांगलिकागोमूत्रिकाश्चतस्रो गतयो भवन्ति । तत्रेषुगतिरविग्रहैकसामयिकी ऋज्वी संसारिणां सिद्ध्यतां च जीवानां भवति । पाणिमुक्तैकविग्रहा द्विसामयिकी संसारिणां भवति । लांगलिका द्विविग्रहा त्रिसामयिकी । गोमूत्रिका त्रिविग्रहा चतुःसामयिकी भवति । एवमनादिसंसारे संधावतो जीवस्य गुणविशेषानुपलब्धिरतस्तस्य भवसंक्रमणं निरर्थक-

---

है । जिस प्रकार इंधन से अग्नि की तृप्ति नहीं होती और हजारों नदियों के जल से समुद्र की तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार संसार में भी इन विषय सुखों से न कभी तृप्ति होती है और न कभी शांति होती है । ये विषय सुख इस लोक और परलोक दोनों लोकों में अनेक उपद्रव करने वाले हैं तथा महादुःख के कारण हैं तथापि संसारी प्राणी इन्हें सुख का कारण मानते हैं । यद्यपि ये आत्मीय नहीं हैं, आत्मा से बाह्य हैं तथापि लोग इन्हें इष्ट मानते हैं परन्तु वास्तव में देखा जाय तो ये अनिष्ट ही हैं । इस प्रकार वैराग्य के विशेष-विशेष कारणों का चिंतवन करना छठा विरागविचय नाम का धर्म्यध्यान है । सचित्त, अचित्त, मिश्र, शीत, उष्ण, मिश्र, संवृत, विवृत, मिश्र—ये नौ योनियां हैं । इनमें यह जीव जरायुज अंडज पोत उपपाद संमूर्च्छन रीति से जन्म लेकर एक भव से दूसरे भव में परिभ्रमण किया करता है । उस समय अर्थात् एक भव छोड़कर दूसरे भव में जाते समय इषुगति, पाणिमुक्तागति, लांगलिकागति और गोमूत्रिकागति—ये चार गतियां होती हैं । इनमें से इषुगति कुटिलतारहित (मोड़ा-रहित) होती है, एक समय मे होती है और सीधी होती है तथा संसारी जीवों के भी होती है और मुक्त होने वाले जीवों के भी होती है । पाणिमुक्तागति एकविग्रहा अर्थात् एक मोड़ासहित होती है, दो समय में होती है और संसारी जीवों के ही होती है । लांगलिकागति द्विविग्रहा अर्थात् दो मोड़ासहित होती है, तीन समय में होती है और संसारी जीवों के ही होती है । गोमूत्रिकागति तीन विग्रह वाली (तीन मोड़ा वाली) होती है, चार समय में होती है और संसारी जीवों के ही होती है । इस प्रकार अनादि संसार में

मित्येवमादिभवसंक्रमणदोषानुचिंतनं सप्तमं धर्म्यं । यथावस्थितमीमांसा संस्थानविचयं तद्द्वादशविधं, अनित्यत्वमशरणत्वं संसार एकत्वमन्यत्वमशुचित्वमास्रवः संवरो निर्जरा लोको बोधितदुर्लभो धर्मस्वाख्यात इत्यनुप्रेक्षा । उक्तं हि—

समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयस्य ।
नोदेति नो विनश्यति भवनतया लिंगितो नित्यम् ।।

तत्रानित्यत्वमात्मना रागादिपरिणामात्मना कर्मणो कर्मभावेन गृहीतानि पुद्गलद्रव्याण्यगृहीतानि परमाण्वादीनि तेषां सर्वेषां द्रव्यात्मना नित्यत्व, पर्यायात्मना सततमनुपरतभेदससर्गवृत्तित्वादनित्यत्वमिमानि हि शरीरेन्द्रियविषयोपभोगपरिभोगद्रव्याणि समुदायरूपाणि जलबुद्बुदवदनवस्थितस्व-

---

परिभ्रमण करते हुए जीव के सम्यग्दर्शन आदि विशेष गुणों की प्राप्ति नहीं होती इसलिये इसका संसार में परिभ्रमण करना व्यर्थ ही है । इस प्रकार संसार में परिभ्रमण करने के दोषों का बार-बार चितवन करना सातवां भवविचय नाम का धर्म्यध्यान है । संसार में जो पदार्थ जिस अवस्था में विद्यमान है उनका उसी प्रकार विचार या मनन करना आठवां संस्थानविचय नाम का धर्म्यध्यान है । वह अनित्यत्व, अशरणत्व, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म्यस्वाख्यात के भेद से बारह प्रकार का है । इन्हीं बारहों को अनुप्रेक्षा कहते हैं । लिखा भी है—समुदेति इत्यादि ।

पर्याय नय से समस्त पदार्थ नियम रूप से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते रहते हैं परन्तु द्रव्यार्थिक नय से न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं । द्रव्यार्थिक नय से सब पदार्थ नित्य हैं ।

रागादिपरिणामस्वरूप आत्मा के द्वारा जो कर्मों के योग्य पुद्गल द्रव्य कर्मरूप से ग्रहण किये गये हैं अथवा परमाणु आदि जो पुद्गल द्रव्य आज ग्रहण नहीं किये हैं वे सब द्रव्यरूप से नित्य हैं, परन्तु पर्याय नय से सदा लगे हुए भेदरूप संसर्ग के सम्बन्ध से अनित्य हैं, शरीर और इन्द्रियों के विषयों के उपभोग-परिभोग करने योग्य समुदायरूप सब द्रव्य भी जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव है अर्थात् शीघ्र ही नष्ट हो

भावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि मोहोदयादत्राऽज्ञानी नित्यतां मन्यते, न किंचित्संसारे ध्रुवमस्त्यात्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तमनित्यत्वानुप्रेक्षा, एवमस्य चिन्तयतस्तेष्वभिष्वंगाभावाद् भुक्तोज्झितगन्धमाल्यादिष्विव वियोगकालेऽपि विनिपातो नोत्पद्यते ।

अशरणत्वं–शरणं द्विविधं, लौकिकं, लोकोत्तरं चेति । प्रत्येकं त्रिविधं जीवाजीवमिश्रकभेदात् । तत्र लौकिकं जीवशरणं राजा देवता, प्राकाराद्यजीवशरणं, प्राकारान्वितं ग्रामनगरादि मिश्रकं । लोकोत्तरं जीवशरणं पंच गुरवस्तत्प्रतिबिंबाद्यजीवशरण सधर्मसाधुवर्गोपकरणं मिश्रकशरणं । यथा मृगशावकस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिद्रुतस्य न किंचिच्छरणमस्ति तथा जन्म-

---

जाते हैं। गर्भ आदि विशेष-विशेष अवस्थाओं में भी संयोग और वियोग सदा प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु मोहनीय कर्म के उदय से यह अज्ञानी जीव इस संसार में सबको नित्य मानता है । ससार में आत्मा के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवाय और कुछ भी नित्य नहीं है, इस प्रकार चितवन करना अनित्यानुप्रेक्षा है । इस प्रकार इस भावना के चितवन करने से उन पदार्थों में ममत्व बुद्धि नहीं होती और ममत्व बुद्धि के न होने से उपभोग कर छोड़े हुए गंध, माला आदि पदार्थों के समान उनका वियोग होने पर भी किसी तरह का क्लेश उत्पन्न नहीं होता है ।

इस संसार में शरण दो प्रकार का है—एक लौकिक और दूसरा लोकोत्तर तथा वे दोनों ही जीव, अजीव और मिश्र के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं । राजा, देवता आदि लौकिक जीव शरण हैं । कोट, शहर, पनाह आदि लौकिक अजीव शरण हैं और कोट, खाई सहित गांव, नगर आदि लौकिक मिश्र शरण हैं । अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पांचों ही गुरु लोकोत्तर जीव शरण हैं । इन अरहंत आदि के प्रतिबिम्ब आदि लोकोत्तर अजीव शरण हैं । धर्मसहित साधुओं का समुदाय तथा उनके उपकरण आदि लोकोत्तर मिश्र शरण हैं । जिस प्रकार किसी एकांत स्थान में अत्यन्त बलवान भूखा और मांस का लोलुपी बाघ किसी हिरण के बच्चे को पकड़ लेता है और फिर उसे कोई नहीं बचा सकता उसी प्रकार जन्मजरा (बुढ़ापा) व्याधियां, इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, इष्ट का

जराव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभदारिद्र्यदौर्मनस्यादिसमुत्थितेन दुःखेनाभिभूतस्य जन्तोः शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते सति । यत्नेन सचिता अप्यर्था न भवान्तरमनुगच्छन्ति । संविभक्तसुखदुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपान्ति । अस्ति चेत्सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तरणोपायो भवति । मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणं तस्माद्भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणं सुहृदर्थोऽप्यननुयायी नान्यत्किंचिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा । एवमस्य भावयतो नित्यमशरणोऽस्मीति भृशमुद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेषु ममत्वविगमो भवति, भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागम एव प्रतिपन्नो भवेत् ।

लाभ न होना, दरिद्रता, दुर्मनस्कता (मन का चंचल रहना) आदि से उत्पन्न हुए अनेक दुःखों से ग्रसित हुए इस प्राणी को कोई शरण नहीं है अर्थात् उन दुःखों से इसे कोई नहीं बचा सकता । यह अत्यंत पुष्ट किया हुआ या पाला-पोसा हुआ शरीर भी केवल भोजन के लिये सहायक होता है परन्तु किसी आपत्ति के आ जाने पर यह बिलकुल सहायता नहीं देता । बड़े यत्न से संचित किया हुआ धन भी दूसरे जन्म में साथ नहीं जाता । सुख-दुख को बाँटने वाले मित्रगण भी मरने के समय रक्षा नहीं कर सकते और भाई-बंधु सब मिलकर भी उस रोगी पुरुष को नहीं बचा सकते । इस संसार में इस जीव का यदि कोई सहायक है तो अच्छी तरह आचरण किया हुआ धर्म ही है । यह धर्म ही संसाररूपी महासागर से पार होने का साधन है । जिस समय मृत्यु इस जीव को ले जाने लगती है उस समय इंद्र भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता, इसीलिये संसार की समस्त आपत्तियों के समय एक धर्म ही शरण है, मित्र और धन भी इस जीव के साथी नहीं हैं । अतएव इस संसार में कोई भी शरण नहीं है, इस प्रकार चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है । इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिंतवन करने से "मैं सदा अशरण हूं अर्थात् मेरा कोई शरण नहीं है" इस तरह की भावना से इस जीव का चित्त सदा उद्विग्न या विरक्त रहता है और फिर विरक्त परिणाम होने से संसार के समस्त पदार्थों से उसका ममत्व छूट जाता है तथा भगवान सर्वज्ञ अरहंत देव के कहे हुए आगम में उसका चित्त तल्लीन हो जाता है ।

संसारस्य, संसारोऽसंसारो नो संसारस्तत्त्रितयव्यपायश्चेति चतुर्विधावस्था। तत्र संसार-श्चतुर्सृषु गतिषु नानायोनिविकल्पासु परिभ्रमणं, शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठाऽसंसारः, सयोगकेवलि-नश्चतुर्गतिभ्रमणाभावात्संसारान्तप्राप्त्यभावाच्चेषत्संसारो नोसंसार इति, तत्त्रितयव्यपायोऽयोगि-केवलिनो भवभ्रमणाभावात् सयोगकेवलिवत्प्रदेशपरिस्पन्दविरमात्संसारान्ताप्राप्त्यभावाच्च देहपरि-स्पन्दाऽभावेऽपि देहिनः सततं प्रदेशचलनमस्ति ततः सदा संसार एव, सिद्धानामयोगिकेवलिनां च नास्ति प्रदेशचलनं तद्योग्यकर्मसामग्र्यभावादितरेषां त्रिधाऽवसीयते। स पुनः संसारः, अभव्यापेक्षया-ऽनाद्यनिधनः, भव्यसामान्यार्पणयाऽनादिरुच्छेदवान्, भव्यविशेषविवक्षया क्वचित्सादिः सनिधनः। असंसारः सादिरनिधनः। तत्त्रितयव्यपायोऽन्तर्मुहूर्तकालः। नोसंसारो जघन्येनान्तर्मुहूर्तः। उत्कृष्टेन

संसार, असंसार, नोसंसार और त्रितयव्यपाय अर्थात् तीनों से रहित ये संसार की चार अवस्थाएं हैं। अनेक भेदरूप योनियों में जन्म-मरण करते हुए चारों गतियों में परि-भ्रमण करना संसार कहलाता है। मोक्षपदरूप परमामृत सुख की प्राप्ति होना असंसार है। सयोगकेवली चारों गतियों में परिभ्रमण नहीं करते और उनके संसार का अन्त भी नहीं हुआ है, इसलिये उन्हें ईषत्संसार अथवा नोसंसार कहते हैं। तत्त्रितयव्यपाय अर्थात् इन तीनों से रहित अयोगकेवली हैं क्योंकि उनके संसार के परिभ्रमण का अभाव है, सयोगकेवलियों के समान उनके प्रदेशों का परिस्पन्दन नहीं होता और उनके संसार का अन्त नहीं हुआ है। शरीर के परिस्पंदन का अभाव होने पर भी संसारी जीवों के सदा प्रदेश परिस्पंदन हुआ करता है, इसीलिये उनके सदा संसार रहता है। सिद्ध और अयोग-केवलियों के प्रदेश परिस्पंदन नहीं होता क्योंकि उनके प्रदेश परिस्पंदन होने के लिये उसके योग्य कर्मरूप सामग्री का अभाव है, शेष जीवों के मन, वचन, काय इन तीनों योगों के द्वारा प्रदेश परिस्पंदन होता है। वह संसार अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि तथा अनिधन है (आदि-अन्त दोनों से रहित है), भव्य सामान्य की अपेक्षा से अनादि तो है परंतु नष्ट हो सकता है। भव्य विशेष की अपेक्षा से कदाचित् सादि है परन्तु सनिधन अर्थात् सांत है। असंसार अर्थात् मोक्ष सादि है परन्तु अनिधन अर्थात् अंतरहित है। तत्त्रित-यव्यपाय अर्थात् चौदहवें गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त है, नोसंसार का समय जघन्य,

देशोनपूर्वकोटिलक्षः। सादिः सपर्यवसानः संसारो जघन्येनाऽन्तर्मुहूर्तः उत्कृष्टेनार्द्धपुद्गलपरावर्तनकालः। स च संसारो द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदात् पंचविधो, द्रव्यनिमित्तः ससारो द्विविधः कर्मनोकर्मविवक्षाभेदात्कर्मद्रव्यसंसारो ज्ञानावरणादिविषयो नोकर्मद्रव्यसंसार औदारिकवैक्रियिकाऽऽहारकतैजसशरीराणामाहारशरीरेन्द्रियाऽऽनपानभाषामनःपर्याप्तीनां विषयः। क्षेत्रहेतुकः संसारो द्विविधः, स्वक्षेत्रपरक्षेत्रविकल्पात्। लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यात्मनः कर्मोदयवशात्संहरणविसर्पणधर्मिणो हीनाधिकाकाशप्रदेशपरिमाणावगाहत्वं स्वक्षेत्रसंसारः। सम्मूर्च्छनगर्भोपपादजन्मनवयोनिविकल्पाद्यवलंबनः परक्षेत्रसंसारः। परमार्थव्यवहारभेदेन कालो द्विविध.। तत्र यावतो लोकाकाशप्रदेशास्तावंतः कालाणवः परस्परं प्रत्यबंधा एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैकवृत्त्या लोकव्यापिनो मुख्योपचारप्रदेशकल्पनाभावान्निर-

---

अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट कुछ कम एक करोड़ पूर्व है। सादि और सांत संसार का समय जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट अर्द्धपुद्गलपरावर्तन है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव के भेद से संसार पांच प्रकार का है। द्रव्यनिमित्तिक संसार अर्थात् द्रव्य संसार कर्म और नोकर्म की विवक्षा के भेद से दो प्रकार का है। कर्म द्रव्यसंसार, ज्ञानावरण आदि कर्मों के विषयभूत है और नोकर्म द्रव्यसंसार, औदारिक, वैक्रियिक आहारक ये तीन शरीर तथा आहार, शरीर इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन छह पर्याप्तियों के विषयभूत है। जिसमें क्षेत्र ही कारण हो उसको क्षेत्रससार कहते हैं, वह स्वक्षेत्र और परक्षेत्र के भेद से दो प्रकार का है। इस आत्मा के प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशों के बराबर हैं, परन्तु कर्मों के उदय के कारण उनमें संकोच-विस्तार होने की शक्ति है। इसीलिये यह आत्मा कभी आकाश के थोड़े से प्रदेशों में ही अवगाहन करती है और कभी अधिक प्रदेशों में। इसी को स्वक्षेत्र संसार कहते हैं। संमूर्च्छन, गर्भ, उपपाद इन तीनों जन्म तथा नौ योनियों के भेदों का सहारा लेकर जन्म-मरण करना परक्षेत्र संसार है। परमार्थ और व्यवहार के भेद से काल भी दो प्रकार का है। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही कालाणु हैं। वे परस्पर कभी बंधरूप नहीं होते अर्थात् मिलते नहीं, एक-एक लोकाकाश के प्रदेश पर एक-एक कालाणु है। इस तरह वे कालाणु समस्त लोकाकाश में व्याप्त हैं, उनमें न तो मुख्य प्रदेश कल्पना है और न उपचार से प्रदेश कल्पना है, इसलिये वे कालाणु अवयवरहित हैं। धर्म, अधर्म, जीव, आकाश और

वयवाः, मुख्यप्रदेशकल्पना हि धर्माधर्मजीवाकाशेषु पुद्गलेषु च द्व्यणुकादिस्कन्धेषु परमाणुषूपचारप्रदेशकल्पना प्रचयशक्तियोगात् । विनाशहेत्वभावान्नित्याः, विविधपरिणामिषट्द्रव्यपर्यायपरिवर्त्तनहेतुत्वादनित्याः, रूपरसगन्धस्पर्शयोगाभावादमूर्ताः, जीवप्रदेशवत्प्रदेशान्तरसंक्रमणाऽभावान्निष्क्रिया इति परमार्थकालः । व्यवहारकालः परमार्थकालवर्तनया लब्धकालव्यपदेशः परिणामादिलक्षणः । कुतश्चित्परिच्छिन्नोऽपरिच्छिन्नस्य परिच्छेदहेतुः । भूतो वर्तमानो भविष्यन्निति त्रिविधः कालः परस्परापेक्षत्वात्, यथा वृक्षपंक्तिमनुसरतो देवदत्तस्यैकैकं तरुं प्रति प्राप्तप्राप्नुवत्प्राप्स्यद्व्यपदेशस्तथा तत्कालाणूननुसरतां द्रव्याणां क्रमेण वर्तनापर्यायमनुभवतां भूतवर्तमानभविष्यद्व्यवहारसद्भावः । तत्र परमार्थकाले भूतादिव्यव-

---

द्व्यणुक आदि स्कन्धरूप पुद्गलों में मुख्य प्रदेश कल्पना है तथा परस्पर मिलने की शक्ति होने से पुद्गल परमाणु में उपचार से प्रदेश कल्पना है । कालाणु में किसी तरह की प्रदेश कल्पना नहीं है, उनके नाश होने का कोई कारण नहीं है, इसलिये वे नित्य हैं और अनेक तरह से परिणमनशील ऐसे छहों द्रव्यों की पर्यायों के परिवर्तन का कारण होने से अनित्य हैं । उनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का सम्बन्ध नहीं है, इसलिये अमूर्त हैं और जीवों के प्रदेशों के समान वे आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक जा-आ नहीं सकते, इसलिये निष्क्रिय या क्रियारहित हैं, ऐसे उन कालाणुओं को परमार्थ काल कहते हैं । परमार्थ काल की वर्तना के द्वारा जिसे कालसंज्ञा प्राप्त हुई है, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व जिसका लक्षण है अर्थात् इन तीनों से जो जाना जाता है उसे व्यवहार काल कहते हैं । यह व्यवहार काल किसी अन्य से (सूर्योदयादिक से) परिच्छिन्न है और अपरिच्छिन्न द्रव्यों के परिच्छेद का कारण है ।

यह व्यवहार काल भूत, वर्तमान और भविष्यत् के भेद से तीन प्रकार का है । जिस प्रकार अनेक वृक्षों की पंक्तियों के अनुसार कोई देवदत्त नाम का पुरुष चल रहा हो तो उसके लिये एक वृक्ष के प्रति यह भाव उत्पन्न होता है कि इस वृक्ष तक वह पहुँच गया, इस वृक्ष के समीप जा रहा है और इस वृक्ष पर जायेगा उसी प्रकार अनुक्रम से वर्तमान पर्यायों का अनुभव करते हुए उन कालाणुओं के अनुसार रहने वाले द्रव्यों के भूत, वर्तमान भविष्यत् व्यवहार प्रकट होता है । उसमें भी परमार्थ काल में भूत, वर्तमान, भविष्यत् का

हारो गौणो व्यवहारकाले तु मुख्यः। किमत्र बहुनोक्तेन परमार्थकालेन कारणभूतेन तेन षट् द्रव्याणि कार्यरूपाणि परावर्त्यन्ते तेषां द्रव्याणां परिच्छेदकाः समयावलिकादयः। द्रव्यस्यैकपर्याय एकसमयो द्वित्रिचतुःसंख्येयासंख्येयानन्तपर्यायकलापाः द्वित्रिचतुःसंख्येया असंख्येया अनन्तसमया यथा प्रदीपः स्वपरप्रकाशकस्तथैव कालः स्वपरप्रवर्त्तकः, अथवा सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाह्याकाश-प्रदेशव्यतिक्रमणं कालः परमनिरुद्धो निर्विभागः समय इति कालसंसारः।

भवनिमित्तसंसारो द्वात्रिंशद्विधः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः प्रत्येकं चतुर्विधा सूक्ष्मबादरपर्याप्त-पर्याप्तभेदात्। वनस्पतिकायिका द्वेधा प्रत्येकशरीराः साधारणशरीराश्चेति। प्रत्येकशरीरा द्वधा पर्याप्त-कापर्याप्तकभेदात्। साधारणशरीरा आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासपर्याप्त्युत्पादननिमित्तमाहार-

---

व्यवहार गौण रीति से होता है और व्यवहार काल में इन तीनों का व्यवहार मुख्य रीति से होता है। यहाँ पर बहुत कहने से क्या लाभ है, केवल इतना समझ लेना चाहिये कि उस कारणभूत परमार्थ काल से छहों द्रव्य कार्यरूप परिणत होते रहते हैं। उन द्रव्यों का परिच्छेद करने वाले समय आवलिका आदि हैं। द्रव्य का एक पर्याय एक समयरूप है तथा दो, तीन, चार संख्यात-असंख्यात अनंत पर्यायों का समूह दो, तीन, चार संख्यात-असंख्यात और अनंत समयरूप हैं। जिस प्रकार दीपक स्वप्रकाशक होकर परप्रकाशक है उसी प्रकार काल भी स्वप्रवर्तक होकर परप्रवर्तक है अथवा सबसे जघन्य गतिरूप परिणत हुआ पुद्गल का परमाणु जितनी देर में अपने रहने योग्य आकाश के प्रदेश का उल्लंघन करता है अर्थात् समीपवर्ती प्रदेश तक पहुंचता है उतने परम निरुद्ध और विभागरहित काल को समय कहते हैं। यह काल संसार है।

भव निमित्तक संसार बत्तीस प्रकार का है। पृथिविकायिक, जलकायिक, वायु-कायिक और अग्निकायिक—ये चारों ही प्रकार के जीव सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और अपर्याप्तक भेद से चार-चार प्रकार के होते हैं। सब सोलह भेद होते हैं। वनस्पतिकायिक दो प्रकार के हैं—एक प्रत्येक शरीर और दूसरा साधारण शरीर। पर्याप्तक-अपर्याप्तक के भेद से प्रत्येक शरीर भी दो प्रकार के हैं। आहार, शरीर, इंद्रिय,

वर्गणायाः गृहीतपुद्गलपिंडास्तत्र यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र मरणमनंतानां यत्रैकश्चोत्पद्यते तत्राऽनंता-नामुत्पत्तिर्भवति तेषां लिंगं गूढशिरादि । उक्तं च—

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ ॥
जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं । वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥२॥
गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं । साहारण सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं ॥३॥
मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे । समभंगे सदिणंता सदि होंति पत्तेया ॥४॥
कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वावि बहुलतरी । छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया दु तणुकदरी ॥५॥

उच्छ्वास, निश्वास और पर्याप्ति के निमित्त कारण आहार वर्गणा के पुद्गलपिंड ग्रहण करने वाले साधारण शरीर कहलाते हैं । उनमें से यदि एक का मरण हो तो सबका मरण हो जाता है और एक की उत्पत्ति हो तो अनंत जीवों की उत्पत्ति होती है । उन साधारण जीवों का चिन्ह गूढशिरा आदि है । लिखा भी है—साहारण इत्यादि ।

भावार्थ—इन साधारण जीवों का साधारण ही आहार होता है और साधारण ही श्वासोच्छ्वास का ग्रहण होता है । साधारण जीवों का लक्षण परमागम में साधारण ही कहा है ॥१९१॥ साधारण जीवों में जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवों का मरण होता है और जहाँ पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं ॥१९२॥ जिनका शिरा, संधि पर्व अप्रकट हों और जिसका भंग करने पर समान भंग हो और दोनों भंगों में परस्पर तंतु न लगा रहे, छेदन करने पर भी वृद्धि हो जाय उसको साधारण शरीर कहते हैं और इसके विपरीत को प्रत्येक कहते हैं ॥१८६॥ जिन वनस्पतियों के मूल, कंद, त्वचा, प्रवाल (नये पत्ते), छोटी शाखा, पत्र, फूल, फल तथा बीजों को तोड़ने से समान भंग हो उनको साधारण कहते हैं और जिनका भंग समान न हो उनको प्रत्येक कहते हैं ॥१८७॥ जिन वनस्पति के कंद, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कंध की छाल मोटी हो उनको साधारण कहते हैं और जिनकी छाल पतली हो उसको प्रत्येक कहते हैं ॥१८८॥ (ये गोम्मटसार जीव कांड की गाथा हैं) ।

ते च साधारणशरीराश्चतुर्धा सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तविकल्पात् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं द्वेधा, पर्याप्तकापर्याप्तकविकल्पात् । पंचेन्द्रियाश्चतुर्धा संश्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्तकापेक्षयेति ।

भावनिमित्तसंसारो द्वेधा स्वभावपरभावाभ्यात् । स्वभावो मिथ्यादर्शनकषायादिः परभावो ज्ञानावरणादिकर्मरसादिः । एवमेतस्मिन्ननेकयोनिकुलकोटिबहुशतसहस्रसंकटे संसारे परिभ्रमन्नयं जीवः कर्मयंत्रप्रेरितः पिता भूत्वा भ्राता पुत्रः पौत्रश्च भवति । माता भूत्वा भगिनी भार्या दुहिता च भवति । किं बहुना स्वयमात्मनः पुत्रो भवतीत्येवमादिसंसारस्वभावचिन्तनं संसारानुप्रेक्षा । एवमस्य भावयतः संसारदुःखभयादुद्विग्नस्य ततो निर्वेदो भवति निर्विण्णश्च संसारप्रहाणाय प्रतियतते ।

अथैकत्वानुप्रेक्षावर्णनं । जन्मजरामरणाऽऽवृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षत्वमेकत्व । एकत्वमनेकत्वमेतदुभय द्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पं । तत्र द्रव्यैकत्वं जीवादिष्वन्यतमद्रव्यविषयत्वेनाऽभे-

---

वे साधारण जीव सूक्ष्म पर्याप्तक, सूक्ष्म अपर्याप्तक, बादर पर्याप्तक और बादर अपर्याप्तक के भेद से चार प्रकार के हैं। दो इन्द्रिय, तेइंद्रिय, चौइंद्रिय जीव भी पर्याप्तक-अपर्याप्तक के भेद से दो प्रकार के हैं। पंचेंद्रिय जीव संज्ञी पर्याप्तक, संज्ञी अपर्याप्तक, असंज्ञी पर्याप्तक और असंज्ञी अपर्याप्तक के भेद से चार प्रकार के हैं। इस प्रकार सब बत्तीस भेद होते हैं। भावनिमित्तक संसार के दो भेद हैं—एक स्वभाव दूसरा परभाव। मिथ्यादर्शन कषाय आदि स्वभाव संसार है और ज्ञानावरणादि कर्मों के रसादिक परभाव संसार है। इस प्रकार अनेक योनियां और लाखों कुल-कोड़ियों से भरे हुए इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मरूपी यंत्रों से प्रेरित होकर पिता होकर भाई हो जाता है, पुत्र हो जाता है तथा पौत्र हो जाता है; माता होकर बहिन, स्त्री और पुत्री हो जाता है। बहुत कहने से क्या ? वह स्वयं मरकर अपना पुत्र हो जाता है। इस प्रकार संसार के स्वभाव का चितवन करना संसारानुप्रेक्षा है।

बार-बार होने वाले जन्मजरा मरणों के महादुखों के अनुभव के लिये सहायता की अपेक्षा न रखना एकत्व है। एकत्व और अनेकत्व ये दोनों ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से चार प्रकार के हैं। जीवादिक पदार्थों में से किसी एक पदार्थ के विषय को

त्वं । क्षेत्रैकत्वं परमाण्ववगाहप्रदेशः । कालैकत्वमभेदसमयः । भावैकत्वं मोक्षमार्गः । तथाऽनेकत्वमपि भेदविषयं, न हि किंचिदेकमेव निश्चितमस्ति अनेकमेव वा, एकमपि सामान्यार्पणया विशेषार्पणयाऽनेकमपि भवति । तत्र परित्यक्तबाह्याभ्यंतरोपधित्यागस्य सम्यग्ज्ञानादेकत्वनिश्चयमास्कन्दतः यथाख्यात-चारित्रैकवृत्तेर्मोक्षमार्गभावेनैकत्वं तत्प्राप्तये एक एवाऽहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते, एक एव जायते एक एव म्रियते, न मे कश्चित्स्वजनः परजनो वा व्याधिजरामरणादीनि दुःखान्यपहरति, बंधुमित्राणि श्मशानं नातिवर्तन्ते, धर्म एव मे सहायः सदाऽनपायीति चिन्तनमेकत्वाऽनुप्रेक्षा । एवमस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबंधो न भवति, परजनेषु द्वेषानुबंधो नोपजायते, ततो निःसंगताऽभ्युपजायते, ततो निःसंगतो मोक्षोऽवघटते । इत्येकत्वानुप्रेक्षा ।

लेकर अभेद बुद्धि रखना द्रव्य एकत्व है । परमाणु के रहने योग्य प्रदेश को क्षेत्र एकत्व कहते हैं, अभेदरूप समय को काल एकत्व कहते हैं तथा मोक्षमार्ग को भाव एकत्व कहते है । जिस प्रकार अभेद विषय को एकत्व कहते हैं, उसी प्रकार भेद विषय को अनेकत्व कहते हैं । संसार मे न तो कोई भी पदार्थ एक है और न अनेक ही हैं, किन्तु सामान्य की अपेक्षा से एक है और विशेष की अपेक्षा से अनेक हैं । जिस जीव ने बाह्य आभ्यंतर उपाधियों का त्याग कर दिया है तथा सम्यग्ज्ञान से एकत्व का निश्चय कर लिया है, उसके एक यथाख्यात चारित्र की वृत्ति धारण करने से मोक्षमार्ग के भाव प्रकट होते हैं, इसलिये उसके वह एकत्व कहलाता है । उस एकत्व की प्राप्ति के लिये "इस संसार में मैं अकेला हूं, स्व और पर मेरा कोई नहीं है, मैं अकेला ही जन्म लेता हूं और अकेला ही मरता हूं, स्वजन और परजन कोई भी मनुष्य मेरी व्याधियां, बुढ़ापा और मरण आदि के दुःखों को दूर नहीं कर सकता, बंधु, मित्र आदि श्मशान से आगे नहीं जा सकते, एक धर्म ही मेरा सहायक है और वही ऐसा है जो कभी नाश न होगा" इस प्रकार चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है । इस प्रकार चिंतवन करने से अपने कुटुम्बी लोगों से प्रेम नहीं बढ़ता और अन्य लोगों में द्वेष नहीं बढ़ता । इस प्रकार राग-द्वेष का अभाव होने से निःसंगता बढ़ती है और निःसंगता बढ़ने से मोक्ष प्राप्त होती है । इस प्रकार एकत्व अनुप्रेक्षा का वर्णन किया ।

अथाऽन्यत्वाऽनुप्रेक्षाकरणं। अन्यत्वं चतुर्धा व्यवतिष्ठते, नामस्थापनाद्रव्यभावाऽऽलंबनभेदात्। आत्मा जीव इति नामभेदः। काष्ठप्रतिमेति स्थापनाभेदः। जीवद्रव्यमजीवद्रव्यमिति द्रव्यभेदः। एकस्मिन्नपि द्रव्ये बालो युवा मनुष्यो देव इत्यादि भावभेदः जीवकर्मणो बंधं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वं, जीवस्तावज्ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। वर्णगंधरसस्पर्शवन्तः पुद्गला इति लक्षणकृतो भेदः। प्रतिसमयमनंतानताः कर्माणवो योगवशादागत्य जीवप्रदेशेष्वन्योन्यप्रदेशाऽनुप्रविष्टाः सन्तः कषायवशादवतिष्ठन्ते। समयं प्रत्यनतानताः कर्मपुद्गला जीवं परित्यज्य प्रच्यवंत इति बंधं प्रति भेदः। नोकर्मपुद्गला अपि बन्धनगुणेन जीवे क्षीरनीरन्यायेनैकबन्धनबद्धा भूत्वा प्रतिक्षणं निर्जीर्यन्ते। जीवः स्वयं कर्मवशात्तत्प्रायोग्यशरीरं निर्माय शरीरस्थोऽपि यथा नखरोमदन्तास्थिषु न विद्यते तथा रुधिरवसा-

---

आगे अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के अवलम्बन के भेद से अन्यत्व चार प्रकार का होता है। आत्मा है, जीव है—यह नाम भेद है। काष्ठ, पाषाण आदि की बनाई हुई प्रतिमा स्थापना भेद है। यह जीव द्रव्य है, अजीव द्रव्य है आदि द्रव्य भेद हैं। एक ही जीव द्रव्य में बालक, युवा, मनुष्य, देव आदि भाव भेद हैं। यद्यपि जीव कर्मों का बंध होने से दोनों एक हो रहे हैं तथापि लक्षण भेद से दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जीव ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगरूप है तथा पुद्गल, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला है। यह लक्षण से दोनों में भेद हुआ। प्रतिसमय में अनंतानंत कर्म परमाणु योगों के निमित्त से आते हैं तथा जीव के प्रदेशों में (दूध, पानी के समान) परस्पर एक-दूसरे के प्रदेशों में मिल कर एक हो जाते हैं। कषायों के निमित्त से उनमें ठहरने की शक्ति हो जाती है, इसलिये वे वहीं ठहर भी जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिसमय में अनंतानंत कर्म पुद्गल जीव को छोड़कर अलग भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह बंध के प्रति भेद सिद्ध होता है। नोकर्म पुद्गल भी बंधन गुण से जीव में दूध, पानी के समान एक बंधरूप हो जाते हैं और फिर प्रति क्षण निर्जीर्ण होते जाते हैं। यह जीव स्वयं कर्मों के निमित्त से उनके योग्य शरीर बनाता है, परंतु वह उस शरीर में रहकर भी जिस प्रकार नख, रोम और दांतों की हड्डियों में नहीं रहता, उसी प्रकार रुधिर, वसा, शुक्ररस, श्लेष्मा, पित्त, मूत्र, पुरीष (विष्टा) और मस्तिष्क आदि के प्रदेशों में भी नहीं रहता। इस प्रकार यह जीव कर्मों के द्वारा बने

शुक्ररसरक्तश्लेष्मपित्तमूत्रपुरीषमस्तिष्कादिषु प्रदेशोष्वपि नास्ति एवं कर्मशरीरावयवेभ्यो जीवस्याऽन्यत्वं ततः कुशलपुरुषप्रयोगसन्निधौ शरीरादत्यंतव्यतिरेकेणाऽऽत्मनो ज्ञानादिभिरनंतैरहेयैर्मुक्तावस्थानं तदवाप्तय—ऐन्द्रियिकं शरीरमतींद्रियोऽहं, अज्ञं शरीरं ज्ञस्वभावोऽहं, अनित्यं शरीरमनित्योऽहं। आद्यन्तवच्छरीरमनाद्यनन्तोऽहं, बहूनि मे शरीरशतसंहस्राण्यतीतानि ससारे परिभ्रमतः स एवाऽहमन्यस्तेभ्य इति शरीरादन्यत्वं। किमग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्यः इति चिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। एवमस्य मनः समाहधानस्य शरीरादिषु स्पृहा नोत्पद्यते ततश्च श्रेयसे वर्तते। इत्यन्यत्वाऽनुप्रेक्षा।

अथाऽशुचित्वाऽनुप्रेक्षा—शुचित्वं द्वेधा, लोकोत्तरं लौकिकं चेति। तत्रात्मनो विशुद्धध्यानजलप्रक्षालितकर्मकलंकस्य स्वात्मन्यवस्थानं लोकोत्तरशुचित्वं तत्साधनानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपांसि

हुए शरीर से बिलकुल भिन्न रहता है तथा किसी कुशल पुरुष के प्रयोग करने पर (मोक्ष के लिये उद्यम करने पर) शरीर से अत्यंत भिन्न होने के कारण जो आत्मा से कभी भिन्न नहीं हो सकते ऐसे ज्ञान आदि अनंत गुणों के साथ-साथ मोक्ष स्थान में जाकर प्राप्त होता है। उस मोक्ष स्थान के प्राप्त होने के लिये "यह शरीर इन्द्रियमय है, मैं अतींद्रिय हूँ, शरीर अज्ञान या जड़स्वरूप है परंतु मैं ज्ञान स्वरूप हूं, यह शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, शरीर का आदि-अन्त दोनों हैं परन्तु मेरा न आदि है न अन्त है, संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे बहुत से शरीर व्यतीत हो गये परंतु मै ज्यों का त्यों वहीं बना हुआ हूँ और उन शरीरों से सर्वथा भिन्न हूँ। हे अंग (हे जीव) यह मेरी आत्मा शरीर से भी भिन्न है, फिर धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या है अर्थात् उनसे तो भिन्न है ही।" इस प्रकार चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार मन का समाधान करने वाले इस जीव के शरीर आदि में स्पृहा या इच्छा नहीं होती और उन पदार्थों की इच्छा न होने से यह जीव अपने कल्याण में लग जाता है। इस प्रकार यह अन्यत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

अब आगे अशुचित्वानुप्रेक्षा कहते हैं—पवित्रता दो प्रकार की है : एक लोकोत्तर और दूसरी लौकिक। जिसने विशुद्ध ध्यानरूपी जल से अपने समस्त कर्ममल, कलंक धो डाले हैं, नष्ट कर दिये हैं ऐसी आत्मा का अपनी ही आत्मा में स्थिर रहना लोकोत्तर पवित्रता कहलाती है। उस लोकोत्तर पवित्रता के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,

तद्वन्तश्च साधवस्तदधिष्ठानानि च निर्वाणभूम्यादिकानि तत्प्राप्त्युपायत्वाच्छुचिव्यपदेशमर्हन्ति। लौकिकं शुचित्वं कालाग्निभस्ममृत्तिकागोमयसलिलाऽज्ञाननिर्विचिकित्सत्वभेदादष्टविधं। तदिदं शरीरं शुचीकर्तुं न शक्यते कुतोऽत्यताऽशुचित्वात् शरीरमिदमाद्युत्तराशुचिकारणादिभिरशुचि लक्ष्यते। तद्यथा—आद्यं तावत्करणं शरीरस्य शुक्रं शोणितं च तदुभयमत्यन्ताऽशुचि। उत्तरकारणमाहारपरिणामादिकवलाऽऽहारोपि ग्रस्तमात्रः श्लेष्माशयं प्राप्य श्लेष्मणा द्रवीकृतोऽधिकमशुचि भवति, ततः पित्ताशय प्राप्य पच्यमान आम्लीकृतोऽशुचिरेव भवति, पक्वो वाताशयमवाप्य वायुना विभज्यमानः खलरसभावेन भिद्यते। खलभागो मूत्रपुरीषादिद्रवघनमलविकारेण विविच्यते, रसभागः शोणितमांस-

---

सम्यक्चारित्र और सम्यक् तपश्चरण है तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्र, तपश्चरण को धारण करने वाले साधु जन उस पवित्रता के अधिष्ठान या आधार हैं अथवा उस लोकोत्तर पवित्रता के उपायभूत होने से निर्वाण भूमि आदि भी पवित्र कहलाती है। लौकिक पवित्रता काल, अग्नि, भस्म, मृत्तिका (मिट्टी), गोमय (गोबर), जल, अज्ञान और निर्विचिकित्सा के भेद से आठ प्रकार का है। परन्तु यह शरीर किसी तरह से पवित्र नहीं किया जा सकता, इसका कारण यह है कि यह अत्यन्त अपवित्र है। इस शरीर के आदि और अंत के कारण दोनों ही अपवित्र हैं इसलिये यह शरीर भी अपवित्र है। इसी बात को आगे दिखलाते हैं—शरीर के आदि कारण अर्थात् शरीर बनने के कारण शुक्र और शोणित हैं परन्तु वे दोनों ही महा अपवित्र हैं। शरीर के उत्तर कारण आहार का परिणाम आदि हैं। यह आहार खाने के साथ ही श्लेष्माशय को प्राप्त होता है और वहां पर श्लेष्मा के द्वारा कुछ द्रवीभूत होकर, पतला होकर और अधिक अपवित्र हो जाता है। वहां से पित्ताशय में पहुंचता है और पककर कुछ खट्टा सा होकर उससे भी अधिक अपवित्र हो जाता है। पककर वह आहार वाताशय में पहुंचता है और वहां वायु से विभक्त होकर (अलग-अलग भागों में बंटकर) खलभाग और रसभागों में बंट जाता है। खलभाग मूत्र, पुरीष (विष्टा) आदि पतले और कड़े मल के विकार में परिणत होकर अलग निकल जाता है। रसभाग शोणित (रक्त, खून या लोहू) मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र रूप में परिणत हो जाता है। इन सब अपवित्र पदार्थों का पात्र यह शरीर

मेदोऽस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणमते। सर्वेषां चैषामशुचीनां भाजनं शरीरमवस्करवदशक्यप्रतीकारं। खल्विदं शरीरं स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवस्त्रमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुं अंगारवदाश्रितमपि द्रव्यमाश्वेवाऽऽत्मस्वभावमापादयति। शरीरजा अपि गोमयगोरोचनदन्तिदन्तचमरीबालमृगनाभिखड्गविषाणमयूरपिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ताफलादयो लोकेषु शुचित्वमुपगताः। नास्त्यत्र पुनः शरीरे किंचित्कमनीयं शुचि वा न जलादीनां शुचिहेतुत्वं। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमान जीवस्यात्यंतिकी शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वभावनमशुचित्वाऽनुप्रेक्षा। एवमस्य संस्मरतः शरीरनिर्वेदो भवति निर्विण्णश्च जन्मोदधितरणाय चित्तं समाधत्त इत्यशुचित्वाऽनुप्रेक्षावर्णन।

अथाऽस्रवाऽनुपेक्षावर्णन विधीयते। उद्वेगार्थमास्रवोपक्षेपः, आस्रवा हीहाऽमुत्र चापाययुक्ता

है जो कि विष्टा के समान ऐसा अपवित्र है कि उसको पवित्र करने का कोई उपाय हो ही नहीं सकता। इस शरीर की अपवित्रता स्नान करने, उबटन लगाने, घिसने और वस्त्र, माला आदि के पहनने से भी कभी दूर नहीं हो सकती। जिस प्रकार अग्नि में जो चीज पड़ जाती है वह भी अग्निरूप ही हो जाती है उसी प्रकार चन्दनादि जो पदार्थ इस शरीर पर लगाये जाते हैं वे भी शरीररूप ही अपवित्र हो जाते हैं। गोबर, गोरोचन, हाथी के दांत, चमरी गाय के बाल, मृगनाभि (कस्तूरी), गेंडा के सींग, मोर की पूंछ, सांप की मणि और सीप के मोती आदि शरीर से उत्पन्न हुए पदार्थ संसार में पवित्र माने जाते हैं परन्तु इस शरीर में कुछ भी भाग पवित्र और सुन्दर नहीं है, न जलादि ही इसकी पवित्रता के कारण हो सकते हैं। इस संसार में केवल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही ऐसे हैं कि जिनकी भावना करने से यह जीव अत्यन्त पवित्र हो जाता है। इस प्रकार शरीर के वास्तविक तत्त्व का चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिंतवन करने से शरीर से वैराग्य उत्पन्न होता है और फिर विरक्त होकर यह जीव जन्म-मरण रूपी महासागर के पार होने के लिये अपना चित्त लगाता है। इस प्रकार अशुचित्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

आगे अस्रवानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—यहां पर अनुप्रेक्षाओं में केवल वैराग्य प्रकट करने के लिये ही आस्रव ग्रहण किया गया है। संसार में कर्मों के जितने आस्रव

महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः। अविरलसरलशल्ल की सहकारवंशांकुडंगप्रमथनस्वच्छसरोवर-सलिलावगाहनमृदुसुखस्पर्शिमहीतलविहरणादिगुणसंपन्ना वनविहारिणो मदांधा महाकाया बलवन्तोऽपि वारणा हस्तिबन्धुकीषु स्पर्शनेनिन्द्रयप्रसक्तचित्ता मनुष्यविधेयतामुपगम्य वधबन्धदमनवाहनांकुशताडनपार्ष्णिघातादिजनित तीव्रं दुःखमनुभवन्ति। नित्यमेव च स्वयूथस्वच्छन्दप्रचारसुखस्य वनवासस्याऽनुस्मरन्तो महान्त खेदमवाप्नुवन्ति। तथैव जिह्वेन्द्रियविषयलोभात् स्रोतोवेगावगाहिमृतहस्तिशरीरस्था वायसा अपारसागरावर्तान्तःपातव्यसनमुपनिपतन्ते। मत्स्याश्चागाधसलिलसंचारिणो लोचनगोचरातीता रसनेन्द्रियवशगता आमिषलोभेन लोहमास्वाद्य म्रियन्ते। घ्राणेन्द्रियलोलुपा-

---

हैं वे सब इस लोक और परलोक दोनों जगह इस जीव के स्वाभाविक गुणों का नाश करने वाले हैं। ये इन्द्रियां आदि किसी महानदी की तीक्ष्ण जाने वाली धारा के समान हैं। देखो! अत्यन्त घने और सीधे ऐसे साल, आम, बांस और कुडंग के पेड़ों का तोड़ना, स्वच्छ सरोवर के जल में अवगाहन करना, मुलायम और जिसका स्पर्श सुख देने वाला है ऐसी पृथ्वी पर विहार करना आदि अनेक गुणों से सुशोभित, वन में विहार करने वाले, मदांध, महाकाय (जिनका बहुत बड़ा शरीर है) और बहुत बलवान हाथी कृत्रिम हथिनी में स्पर्शनेंद्रिय के सुख के लिए आसक्त चित्त होकर मनुष्यों के वश हो जाते हैं और फिर मारना, बांधना, दमन करना, सवारी करना, अंकुशों से ताड़ना और पैर की ऐड़ी से मारना आदि अनेक कारणों से उत्पन्न हुए अनेक तीव्र दुःखों का अनुभव करते हैं। वह प्रतिदिन अपने समूह में स्वतन्त्रतापूर्वक विहार करने वाले वनवास के सुख का स्मरण करते हैं और बार-बार उसका स्मरण कर अत्यन्त दुःखी होते हैं। इसी तरह जिह्वा इन्द्रिय के विषय के लोभ से किसी नदी की प्रवाह के वेग में पड़े हुए मरे हाथी के शरीर पर बैठे हुए कौवे अपार महासागर के भीतर पहुँच जाते हैं और वहां पर अनेक तरह के दुःख उठाते हैं। इसी प्रकार अगाध जल में रहने वाली और नेत्रों के द्वारा दिखाई न देने वाली मछलियां भी केवल रसना इंद्रिय के वश होकर मांस के लोभ से लोहे की कील का आस्वादन कर मर जाती हैं। घ्राण इंद्रिय के लोलुपी सर्प औषधि मिली हुई सुगंधि के लोभ में आकर मरने की इच्छा करते हैं। भ्रमर भी हाथी के मद की सुगंध

घ्राणेन्द्रियगंधलुब्धपन्नगा विनिपातमिच्छन्ति, मधुकराश्च दानगंधलुब्धा गजकर्णझलंझलामुपगम्य मरणमासादयन्ति। चक्षुरिन्द्रियविषयीकृताः प्रदीपावलोकेन लोलाः पतंगा व्यसनप्रपाताऽभिमुखा भवन्ति। श्रोत्रेन्द्रियविषयसंगाकृष्टमनसो गीतध्वनिविषंगविस्मृततृणग्रसना हरिणा अनर्थोन्मुखा भवन्ति। परत्र च नानाजातिषु बहुविधदुःखप्रज्वलितासु पर्यटन्ति। तथा स्वयंप्रभांगसंगतसुखस्पर्शलाभलोभाऽऽकृष्टचित्तोऽश्वग्रीवो, विद्याधरचक्रवर्ती त्रिखंडाधिपतिः सपुत्रः सबांधवो निधनतामुपगतः। तथा च रसनेन्द्रियलोलुपः सुभूमः सकलचक्रवर्ती षट्खंडाधिपतिर्वणिग्वेषधारिणा जन्मान्तरवैरिणा समुद्रमध्ये मरणमुपगतः। तथा च वर्वरीचिलातिकानृत्यावलोकनविहिताऽऽसक्तिदमितारिरर्द्धचक्रवर्ती सकलपरिजनसमेतो विराममुपजगाम। तथा च हस्तिपकमधुरगीतरवश्रवसंसक्तमतिरमृतमतिर्यशोधरमहाराज-

---

के लोभ में पड़कर हाथी के इधर-उधर चलाये हुए कानों की चोट खाकर मर जाते हैं। चक्षु इंद्रिय के विषय के वशीभूत हुए पतंग दीपक को देखकर चंचल हो जाते हैं और उसमें पड़कर जल जाते हैं या मर जाते हैं। जिनका मन श्रोत्र इंद्रिय के विषय में (मधुर राग से) आसक्त हो गया है ऐसे हिरण भी गीतों की मधुर ध्वनि के राग में खड़े होकर हरी घास का खाना भी भूल जाते हैं और फिर बहेलियों के द्वारा मारे जाते हैं। ये सब दुःख तो इन्हें इस लोक में ही भोगने पड़ते हैं तथा इनके सिवाय परलोक में भी अनेक तरह के दुःखों से भरी हुई बहुत सी योनियों में उन्हें परिभ्रमण करना पड़ता है। (यह तो तिर्यंचों का उदाहरण बतलाया। मनुष्यों में भी अनेक बड़े पुरुष हुए हैं जिन्हें एक-एक इन्द्रिय की आसक्ति से अनेक तरह के दुःख भोगने पड़े हैं।) अश्वग्रीव विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा था और तीन खंड का स्वामी था परन्तु उसका चित्त स्वयंप्रभा के अंगस्पर्श से उत्पन्न हुए सुख और स्पर्श के लाभ होने के लोभ में फंस गया था इसीलिये उसे पुत्र, भाइयों सहित मरना पड़ा था। राजा सुभूम सकल चक्रवर्ती राजा था और छहों खंडों का स्वामी था तथापि रसना इंद्रिय और घ्राण इन्द्रिय का लोलुपी होने से उसे बीच समुद्र में जाकर वैश्य के भेष को धारण करने वाले जन्मांतर के बैरी के हाथ से मर जाना पड़ा। इसी तरह अर्द्धचक्रवर्ती दमितारि भीलनी का नृत्य देखने में आसक्त होकर अपने सब कुटुंबियों समेत मरण को प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार यशोधर

महादेवी स्वकुलपरिभ्रष्टा कुष्ठाधिष्ठितशरीरा मृतिमुपगम्य नरकदुःखभागिनी बभूव । एवमेकैकेन्द्रियविषयैर्विषसमैस्तथाविधा अपि विनष्टाः किं पुनः पंचेन्द्रियविषयाभिलाषिण इत्येवमाद्यास्रवदोषाऽनुचिन्तनमास्रवाऽनुप्रेक्षा । एवमस्य चिन्तयतः क्षमादिधर्मात् श्रेयस्त्वबुद्धिर्न प्रच्यवते । सर्वेऽप्येते आस्रवदोषाः कर्मवत्संवृतेंद्रियस्य न भवन्ति । इत्यास्रवाऽनुप्रेक्षावर्णनं ।

अथ संवराऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । आस्रवनिरोधः संवरः । यथा वणिङ्महार्णवे यानपात्रविवरद्वारजलास्रवपिधाने निरुपद्रवमभिलषितदेशान्तरं प्राप्नोति तथा मुनिरपि संसारार्णवे शरीरपोतस्येन्द्रियविषयद्वारकर्मजलास्रवं तपसा पिधाय मुक्तिवेलापत्तनं निर्विघ्नं प्राप्नोति इत्येवं संवरगुणाऽनुचितनं संवराऽनुप्रेक्षा । एवमस्य चिन्तयतः संवरे नित्योद्युक्तता भवति । इति संवराऽनुप्रेक्षावर्णनं ।

महाराज की अमृतमति नाम की महादेवी हाथीवान के (महावत के) मधुर गीतों के शब्द सुनने में आसक्त होकर अपने कुल से भ्रष्ट हो गई थी, उसका सब शरीर कोढ़ से भर गया था और मरकर उसे नरक के अनेक दुःख भोगने पड़े थे । इस प्रकार के महापुरुष लोग भी विष के समान केवल एक-एक इंद्रिय के विषयों से नष्ट हो गये थे, फिर पांचों इन्द्रियों के विषयों की अभिलाषा करने वालों की तो बात ही क्या है ? इस प्रकार आस्रव के दोषों का चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है । इस तरह चिंतवन करने से क्षमादि धर्म ही कल्याणकारी जान पड़ते हैं और फिर उनसे अपनी बुद्धि कभी नहीं हटती । ये आस्रव के सब दोष कच्छप के समान इंद्रियों का निरोध करने वालों के नहीं होते हैं । इस प्रकार आस्रव अनुप्रेक्षा का वर्णन किया ।

आगे संवरानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—आस्रव का रोकना ही संवर है । जिस प्रकार कोई वैश्य महासागर में चलते हुये जहाज के छिद्रों को या पानी आने के मार्ग को बंदकर फिर निर्विघ्न रीति से देशांतर पहुंचता है, उसी प्रकार मुनिराज भी संसाररूपी महासागर में पड़े हुये शरीररूपी जहाज के कर्मरूपी जल के आने के कारण ऐसे इन्द्रियों के विषयरूपी द्वारों को तपश्चरण के द्वारा बंदकर निर्विघ्न रीति से मोक्षरूपी महानगर में पहुँच जाते हैं । इस प्रकार संवर के गुणों का चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है । इस प्रकार

अथ निर्जराऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। कर्मैकदेशगलनं निर्जरा, सापि द्वेधा, उदयोदीरणा-विकल्पात्। तत्र नरकादिषु कर्मफलविपाकोदयोद्भवा। परीषहजयादुदीरणोद्भवा। सा शुभाऽनुबंधा निरनुबंधा चेत्येवं निर्जराया गुणदोषभावनं निर्जराऽनुप्रेक्षा। एवमस्यानुस्मरतः कर्मनिर्जरायै वृत्ति-र्भवति। इति निर्जराऽनुप्रेक्षावर्णनं।

अथ लोकाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। जीवादिपदार्थाधिकरणं लोकः। समन्तादनंतानंतस्वात्म-प्रतिष्ठाऽऽकाशसुबहुमध्यप्रदेशस्थितस्तनुवातघनोनिलघनोदधिवेष्टितो लोकस्तन्मध्यगता त्रस-

---

चिंतवन करने से संवर में सदा सावधानी और तत्परता रहती है। इस प्रकार संवरा-नुप्रेक्षा का वर्णन किया।

आगे निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—कर्मों का एकदेश नष्ट होना निर्जरा है। वह भी उदय और उदीरणा के भेद से दो प्रकार की है। नरकादि गतियों में कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाते हैं, उसको उदय से होने वाली निर्जरा कहते हैं और परिषहों के जीतने या तपश्चरण आदि से जो कर्म बिना फल दिये नष्ट हो जाते हैं, वह उदीरणा से होने वाली निर्जरा कहलाती है। वह निर्जरा भी दो प्रकार की है—एक वह कि जिससे शुभ कर्मों का बंध हो और दूसरी वह जिससे किसी कर्म का बंध न हो। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोषों का चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिंतवन करने से कर्मों की निर्जरा करने में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार निर्जरानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

आगे लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—जो जीवादि समस्त पदार्थों का आधार है वह लोक कहलाता है। यह आकाश सब ओर से अनंतानंत है और अपने ही आधार है। आकाश का अन्य कोई आधार नहीं है। उसी आकाश के अत्यन्त मध्यवर्ती प्रदेशों में यह लोक विराजमान है। यह लोक तनुवात, घनवात और घनोदधिवात से घिरा हुआ है अर्थात् लोक के चारों ओर घनोदधिवात है, उसके चारों ओर घनवात है, उसके चारों ओर तनुवात है और उसके चारों ओर आकाश है। उस लोकाकाश के मध्य में त्रसनाड़ी है, उसके मध्य भाग में यहां मेरु पर्वत है, मेरु पर्वत के नीचे नरकों के प्रस्तार हैं तथा मेरु के

नाडी, तन्मध्ये महामेरुस्तस्याधःस्थिता नरकप्रस्तारा, मेरुपरिवृताः शुभनामानो द्वीपसमुद्रा द्विर्द्विर्विष्कंभा वलयाकृतयो, मेरोरुपरि स्वर्गपटलानि, तेषामुपरि सिद्धक्षेत्रं । एवमधस्तिर्यगूर्द्ध्वभेदभिन्नस्य चतुर्दशरज्जुविस्तारदक्षिणोत्तरदिग्भागस्य वेत्रासनझल्लरीमृदंगसमानाऽऽकारस्य षट्द्रव्यनिचितस्याकृत्रिमस्यानादिनिधनस्य लोकस्य स्वभावपरिणामपरिणाहसंस्थानाऽनुचिंतन लोकानुप्रेक्षा एवमस्याध्यवस्यतस्तत्त्वज्ञानविशुद्धिर्भवति । इति लोकानुप्रेक्षावर्णनं ।

अथ बोधिर्दुर्लभाऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते । स्कन्धांडराऽऽवासपुलविशरीरेषु स्कधा असंख्यातलोकमात्राः, एकैकस्मिन् स्कधेऽसख्यातलोकमात्रा अडरा एकैकस्मिन्नडरे आवासा असख्यातलोकमिता एकैकस्मिन्नावासे पुलवयोऽसख्यातलोकप्रमाणाः, एकैकस्मिन्पुलवौ असंख्यातलोकप्रमितानि शरीराण्येकैकस्मिन्निगोदशरीरे जीवाः सर्वातीतकालसिद्धानामनंतगुणाः ।

चारों ओर शुभ नामों को धारण करने वाले दूनी-दूनी चौड़ाई वाले कंकण के आकार के (असंख्यात) द्वीप समुद्र हैं । मेरु के ऊपर स्वर्गों के पटल हैं, स्वर्ग पटलों के ऊपर सिद्धक्षेत्र है । इस प्रकार इस लोक के अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन भेद होते हैं । यह समस्त लोक चौदह राजू ऊंचा है, पूर्व-पश्चिम की ओर नीचे सात राजू चौड़ा है, मध्यम एक राजू चौड़ा है, ऊपर जाकर फिर पांच राजू चौड़ा है और सबसे ऊपर जाकर एक राजू चौड़ा है । दक्षिण-उत्तर की ओर सब जगह सात राजू लम्बा है । अधोलोक बेंत के आसन के समान ऊपर से संकरी और नीचे से चौड़ी तिपाई के समान है, मध्यलोक झालर के समान है और ऊर्ध्व लोक मृदंग या पखावज के समान है । इसके सिवाय यह लोकछह द्रव्यों से भरा हुआ है, अकृत्रिम है और अनादि तथा अनिधन है । इस प्रकार लोक का स्वभाव, लोक का परिमाण, परिधि और उसका आकार चितवन करना लोकानुप्रेक्षा है । इस प्रकार इसके मनन करने से तत्वज्ञान की विशुद्धि होती है । इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा का वर्णन किया ।

आगे बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—स्कंध, अंडर, आवास, पुलवि और शरीरों में स्कंधों की संख्या असंख्यात लोकमात्र है । एक-एक स्कंध में असंख्यात लोकमात्र अंडर हैं । एक-एक अंडर में असंख्यात लोक प्रमाण आवास हैं । एक-एक आवास में

उक्तं च—

एयणिओयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण।

इत्येवं सर्वलोको निरन्तरं निचितः स्थावरैस्ततस्तत्र बालुकासमुद्रे पतितवज्रसिकताकणिकेव त्रसता दुर्लभास्तत्र च विकलेंद्रियाणां प्रचुरभूयिष्ठत्वात्पंचेंद्रियता गुणेषु कृतज्ञतेव कृच्छ्रलभ्या। तत्र च तिर्यक्षु पशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु बहुषु सत्सु मनुष्यभवश्चतुष्पथे रत्नराशिवद्दुरासदस्तत्प्रच्यवे पुनस्तदुपपत्तिर्दग्धतरुपुद्गलतद्भावाऽऽपत्तिवद्दुर्लभा। तल्लाभे च कुदेशानां हिताहितविचारविरहितानां पशुसमानमानवाकीर्णानां बहुत्वात्सुप्रदेशः पाषाणेषु मणिरिव न सुलभः। लब्धेऽपि सदेशे पापकर्म-

---

असंख्यात लोक प्रमाण पुलवि हैं। एक-एक पुलवि में असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं और एक-एक निगोद शरीर में समस्त अतीत काल में होने वाले सिद्धों से अनंत गुने जीव हैं। यह बात अन्य ग्रन्थों में भी (गोम्मटसार में) लिखी है—एयणिओय इत्यादि।

"अर्थात् एक निगोद शरीर में द्रव्यप्रमाण से जीवों की संख्या समस्त व्यतीत काल के सिद्धों से अनंत गुनी है।" इस प्रकार यह समस्त लोक स्थावर जीवों से सदा भरा रहता है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में पड़े हुए हीरे के कणों का मिलना अत्यंत कठिन है उसी प्रकार इन स्थावर जीवों में से त्रस पर्याय प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। त्रस पर्याय में भी विकलेंद्रियों की संख्या बहुत है इसलिये जिस प्रकार गुणों में कृतज्ञता अत्यंत कठिनता से मिलती है उसी प्रकार त्रसों में पंचेन्द्रिय होना अत्यंत कठिन है। पंचेंद्रियों में भी पशु, हिरण, पक्षी, सांप आदि तिर्यंचों की संख्या बहुत है, इसलिये जिस प्रकार किसी चौराहे पर (चौरस्ते पर) रत्नों की राशि मिलना कठिन है उसी प्रकार पंचेंद्रियों में मनुष्य भव प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। यदि मनुष्य जन्म मिलकर नष्ट हो गया तो जिस प्रकार जिसकी लकड़ी, जड़ आदि सब जला दी गई है ऐसा वृक्ष फिर से नहीं उग सकता उसी प्रकार मनुष्य जन्म का फिर से मिलना अत्यंत कठिन है। कदाचित् दोबारा मनुष्य जन्म मिल भी जाय तो जिन्हें हिताहित का कुछ विचार नहीं है और जो मनुष्यों का आकार धारण करने वाले पशुओं के समान हैं ऐसे कुदेशों में रहने वाले म्लेच्छों की संख्या बहुत है, इसलिये जिस प्रकार पत्थरों में मणिक का मिलना सुलभ नहीं है उसी प्रकार किसी सुप्रदेश में उत्पन्न होना भी सुलभ नहीं है। कदाचित् सुप्रदेश में भी मनुष्य जन्म प्राप्त

जीवकुलाकुलत्वात्कुले जन्म वृद्धोपसेवादिरहिते विनयवत्कृच्छ्रलभ्यं। लोकस्य कुले हि जातिः प्रायेण शीलविनयाचारसंपत्तिकरी भवति। सत्यामपि कुलसंपदि दीर्घायुरिन्द्रियबलरूपनीरोगत्वादीनि दुर्लभानि। सर्वेष्वपि तेषु लब्धेषु सद्धर्मप्रतिलंभो यदि न स्यात् व्यर्थं जन्म वदनमिव दृष्टिविकलं। तमेवमतिदुर्लभं सद्धर्मं कथं कथमप्यवाप्य विषयसुखे रजनं भस्मार्थं चन्दनदहनमिव विफलं। विरक्तविषयसुखस्य तपोभावनाधर्मप्रभावनासुखमरणादिलक्षणः समाधिर्दुर्लभस्तस्मिन्सति बोधिलाभः फलवान् भवतीति चिंतनं बोधिदुर्लभत्वाऽनुप्रेक्षा। एवमस्य भावयतो बोधिं प्राप्य प्रमादो न कदाचिदपि भवति। इति बोधिदुर्लभाऽनुप्रेक्षावर्णनं।

अथ धर्मस्वाख्याताऽनुप्रेक्षावर्णनं विधीयते। चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिचतुर्दशमार्गणास्थानेषु

हो जाय तो भी यह लोक प्रायः पापकर्म करने वाले जीवों के समूहों से भरा हुआ है, इसलिये जिस प्रकार वृद्धों की सेवा न करने वालों के विनय का प्राप्त होना कठिन है उसी प्रकार अच्छे कुल में जन्म लेना बहुत ही कठिन है। अच्छा कुल मिलने पर भी प्रायः जीवों को जाति ही शील, विनय, आचार, संपदा देने वाली होती है। यदि कदाचित् कुल, संपदा आदि प्राप्त भी हो जाय तो दीर्घ आयु, इंद्रिय, बल, रूप और निरोगता आदि प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। उन समस्त संयोगों के प्राप्त होने पर भी यदि सद्धर्म धारण करने का लाभ न हो तो जिस प्रकार बिना नेत्रों के मुखमंडल व्यर्थ है उसी प्रकार उसका मनुष्य जन्म लेना भी व्यर्थ ही है। यदि वही अत्यंत दुर्लभ सद्धर्म जिस तिस तरह से प्राप्त हो जाय और फिर भी वह जीव विषय सुख में निमग्न रहे तो जिस प्रकार केवल भस्म के लिये चंदन का जलाना व्यर्थ है उसी प्रकार उसका सद्धर्म प्राप्त होना भी निष्फल है। जो विषय सुखों से विरक्त हो गया है उसके लिये भी तपश्चरण की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखमरण अर्थात् समाधिमरण रूप समाधि या ध्यान की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। इन सब सामग्रियों के मिल जाने पर भी रत्नत्रय का प्राप्त हो जाना ही सफल गिना जाता है। इस प्रकार चिंतवन करना बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इसके चिंतवन करने से रत्नत्रय को पाकर फिर कभी प्रमाद नहीं होता है। इस प्रकार बोधिदुर्लभत्वानुप्रेक्षा का वर्णन किया।

आगे धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा का वर्णन करते हैं—गति आदि चौदह मार्गणा

स्वतत्त्वविचारलक्षणो धर्मः । निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरह्रो भगवद्भिरर्हद्भिः स्वाख्यात इति चिंतनं धर्मस्वाख्यातत्वाऽनुप्रेक्षा । एवमस्य चिंतयतो धर्मानुरागः सदा प्रतियत्नो भवति । इत्येवं चिन्तनं संस्थानविचयमष्टमं धर्म्यं ।

अथाऽऽज्ञाविचयस्वरूपाद्युच्यते । आज्ञाविचयमतीन्द्रियज्ञानविषयं विज्ञातुं चतुर्षु ज्ञानेषु बुद्धिशक्त्यभावात्परलोकबंधमोक्षलोकालोकसदसद्विवेकवृद्धिप्रभावधर्माधर्मकालद्रव्यादिपदार्थेषु सर्वज्ञप्रामाण्यात्तत्प्रणीताऽऽगमकथितमवितथं नान्यथेति सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्निश्चयचित नं नवम धर्म्यं ।

अथ हेतुविचयस्वरूपमुच्यते । हेतुविचयमागमविप्रतिपत्तौ नयविशेषगुणप्रधानभावोपनयदुर्धर्षस्याद्वादप्रतिक्रियाऽवलंबिनस्तर्कानुसारिरुचेः पुरुषस्य स्वसमयगुणपरसमयदोषविशेषपरिच्छेदेन यत्र

स्थानों में चौदह गुणस्थानों के आत्मतत्त्व का विचार करना धर्म है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भगवान अरहंत देव ने ही बतलाया है। इस प्रकार चिंतवन करना धर्मस्वाख्यातत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार इस अनुप्रेक्षा के चिंतवन करने से धर्मानुराग सदा बढ़ता रहता है। इस प्रकार बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतवन करना संस्थानविचय नाम का आठवां धर्म्यध्यान है।

अब आगे आज्ञाविचय का स्वरूप कहते हैं—जो पदार्थ अतींद्रिय ज्ञान के गोचर हैं, जिनमें बुद्धि की शक्ति काम नहीं देती ऐसे परलोक बंध, मोक्ष, लोक-अलोक वृद्धि को प्राप्त हुए सत्-असत् विवेक का प्रभाव, धर्म-अधर्म, काल-द्रव्य आदि पदार्थों में तथा चारों ज्ञानों में "संसार में सर्वज्ञ प्रमाण है और उनकी प्रमाणता से उनके वचनों के अनुसार कहे हुए आगम में जो कुछ उनका स्वरूप कहा गया है, वह सब सत्य है, वह कभी अन्यथा रूप नहीं हो सकता" इस प्रकार सम्यग्दर्शन का स्वभाव होने से वास्तविक तत्त्व का चिंतवन करना आज्ञाविचय नाम का नौवां धर्म्यध्यान है।

आगेहेतु विचय का स्वरूप कहते हैं—आगम में किसी तरह का विरोध आने पर जो पुरुष विशेष-विशेष नयों की मुख्यता और गौणता से प्राप्त हुए अत्यन्त कठिन स्याद्वाद के द्वारा उस विरोध का प्रतिकार करता है तथा न्यायानुसार ही जिसकी रुचि है, ऐसा पुरुष अपने मत के विशेष गुण और परमत के विशेष दोषों को अच्छी तरह समझकर

गुणप्रकर्षस्तत्राऽभिनिवेशः श्रेयानिति स्याद्वादतीर्थंकरप्रवचने पूर्वापराविरोधहेतुपरिग्रहणसामर्थ्येन समवस्थानगुणानुचिंतनं हेतुविचय दशम धर्म्यं ।

सर्वमेतद् धर्मध्यान पीतमद्मशुक्ललेश्याबलाधानमविरतादिसरागगुणस्थानभूमिकं द्रव्यभावात्मकसप्तप्रकृतिक्षयकारणं । आ अप्रमत्तादन्तर्मुहूर्त्तकालपरिवर्त्तनं परोक्षज्ञानत्वात् क्षायोपशमिकभावं स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्त्तनीयं । शेषैकविंशतिद्रव्यभावलक्षणमोहनोयोपशमक्षयनिमित्तमिति ।

शुक्लध्यान द्विविध, शुक्लं, परमशुक्लमिति । शुक्ल द्विविधं पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कावीचारमिति । परमशुक्लं द्विविध, सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिसमुच्छिन्नक्रिया निवृत्तिभेदात् । तल्लक्षण द्विविधं, बाह्यमाध्यात्मिकमिति । गात्रनेत्रपरिस्पन्दविरहित जभजृ भोद्गारादिवर्जितमनभिव्यक्तप्राणापानप्रचारत्व-

---

जहां गुणों की अधिकता हो वहीं श्रद्धान करना, उसी को मानना कल्याणकारी है । इस प्रकार तीर्थंकर के कहे हुए स्याद्वादस्वरूप आगम मे पूर्वापर अविरोधरूप हेतुओं के ग्रहण करने की सामर्थ्य से उसमें रहने वाले गुणों का बार-बार चितवन करना हेतुविचय नाम का दसवां धर्म्यध्यान है ।

ये सब तरह के धर्म्यध्यान पीत, पद्म और शुक्ललेश्या के बल से होते हैं, चौथे गुणस्थान से लेकर सराग गुणस्थान तक होते हैं । द्रव्यभावरूप सातों प्रकृतियों के (मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ) क्षय होने के कारण हैं, सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक होते है और अन्तर्मुहूर्त तक ही होते है फिर बदल जाते है, परोक्षज्ञान के गोचर होने से क्षायोपशमिक भी हैं, स्वर्गमोक्षरूप फल देने वाले हैं और बाकी की मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों के क्षय होने के निमित्त कारण हैं ।

शुक्लध्यान के दो भेद हैं—एक शुक्ल और दूसरा परमशुक्ल । उसमें भी शुक्लध्यान भी दो प्रकार का है—एक पृथक्त्ववितर्कवीचार और दूसरा एकत्ववितर्कावीचार । परमशुक्ल भी दो प्रकार का है—एक सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और दूसरा समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति । इस समस्त शुक्लध्यान का लक्षण भी दो प्रकार का है—एक बाह्य और दूसरा आध्यात्मिक । शरीर और नेत्रों को परिस्पंदरहित रखना, जंभाई, जंभा, उद्गार आदि नहीं होना, प्राणापान का प्रचार व्यक्त न होना अथवा प्राणापान का प्रचार नष्ट हो जाना

मुच्छिन्न-प्राणापानप्रचारत्वमपराजितत्वं बाह्यं, तदनुमेयं परेषामात्मनः स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं तदुच्यते। पृथक्त्वनानात्वं, वितर्को द्वादशांगश्रुतज्ञानं, वीचारोऽर्थव्यंजनयोगसंक्रांतिः, व्यंजनमभिधानं, तद्विषयोऽर्थः, मनोवाक्कायलक्षणो योगः, अन्येऽन्यतः परिवर्त्तनं संक्रांतिः। पृथक्त्वेन वितर्कस्यार्थव्यंजनयोगेषु संक्रांति-वीचारो यस्मिन्नस्तीति तत्पृथक्त्ववितर्कवीचार प्रथमं शुक्लं। तद्यथा—अनादिसंभूतदीर्घसंसारस्थितिसागरे पारं जिगमिषुर्मुमुक्षुः स्वभावविजृम्भितपुरुषाकारसामर्थ्याद् द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वैकमवलम्ब्य संहृताऽशेषचिंताविक्षेपो महासंवरसंवृतः कर्मप्रकृतीनां स्थित्यनुभागौ ह्रासयन्नुपशमयन् क्षपयंश्च परम-बहुकर्मनिर्जरास्त्रिषु योगेष्वन्यतमस्मिन्वर्त्तमान एकस्य द्रव्यस्य गुणं वा पर्यायं वा बहुनयगहननिलीन श्रुतरविकिरणोद्योतबलेनान्तर्मुहूर्तकालं ध्यायति, ततः परमर्थान्तरं संक्रामत्यथ वास्यैवार्थस्य गुणं वा

और किसी के भी द्वारा जीता न जाना बाह्य शुक्लध्यान है। यह बाह्य शुक्लध्यान अन्य लोगों को अनुमान से जाना जा सकता है तथा जो केवल आत्मा को स्वसंवेद्य हो वह आध्यात्मिक शुक्लध्यान कहा जाता है। नानात्व अथवा अनेकपने को पृथक्त्व कहते है। द्वादशांग श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं। अर्थ, व्यंजन और योगों की संक्रांति को वीचार कहते है, किसी पदार्थ के नाम को व्यंजन कहते हैं और उस व्यंजन के विषयभूत पदार्थ को अर्थ कहते हैं। मन, वचन, काय के द्वारा आत्मा के प्रदेशों के परिस्पंदन को योग कहते हैं। एक से दूसरे में बदल जाना संक्रांति है। जिस ध्यान में द्वादशांग श्रुतज्ञान अर्थ, व्यंजन, योगों में अनेक तरह से संक्रमण करता है उसको पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम का प्रथम शुक्लध्यान कहते हैं। आगे इसी का खुलासा लिखते हैं—जब यह अनादि काल से चले आये दीर्घ संसार की स्थिति रूप महासागर के पार जाने की इच्छा करने वाला मोक्षार्थी जीव स्वभाव से प्राप्त हुए पुरुषाकार की सामर्थ्य से द्रव्य परमाणु अथवा भाव परमाणु में से किसी एक का अवलंबन कर (उसका चिंतवन कर) बाकी के समस्त चिंतवनों को रोक लेता है तथा उसी समय महासंवर करता है, कर्मों की प्रकृतियों की स्थिति और अनुभाग को घटाता है अथवा उन कर्म प्रकृतियों का उपशम और क्षय करता है, बहुत से कर्मों की परम निर्जरा करता है, मन, वचन, काय तीनों योगों में से किसी एक योग में स्थित रहता है और श्रुतज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के प्रकाश की सामर्थ्य से

पर्यायं वा संक्रामति पूर्वयोगाद्योगान्तरं व्यंजनाद् व्यंजनान्तरं संक्रामति इति । अर्थार्थान्तरगुणगुणान्तर-पर्यायपर्यायान्तरेषु योगत्रयं संक्रमणेन तस्यैव ध्यानस्य द्वाचत्वारिंशद्भंगा भवन्ति । तद्यथा—षण्णां जीवादिपदार्थानां क्रमेण ज्ञानवर्णगतिस्थितिवर्तनाऽवगाहनादयो गुणास्तेषां विकल्पाः पर्यायाः । अर्थादन्यो गुणान्तरं पर्यायादन्यः पर्यायान्तरं । एवमर्थार्थान्तरगुणगुणांतरपर्यायपर्यायान्तरेषु षट्सु योगत्रय-संक्रमादष्टादश भंगाः । अर्थाद् गुणगुणांतरपर्यायपर्यायान्तरेषु चतुर्षु योगत्रयसंक्रमणेन द्वादश भंगा भवन्ति । एवमर्थान्तरस्यापि द्वादशभगा भवन्ति । सर्वे संपिंडिता द्वाचत्वारिंशद्भगाः । एवंविधं प्रथम-शुक्लध्यानमुपशांतकषायेऽस्ति, क्षीणकषायस्यादावस्ति । तत्र शुक्लतरलेश्याबलाधानमंतर्मुहूर्तकाल-

---

अन्तर्मुहूर्त तक अनेक नयों की गहनता में डूबे हुये किसी एक द्रव्य के गुण या उसके पर्याय का ध्यान करता है, उसके बाद उस पदार्थ से बदलकर किसी दूसरे पदार्थ का चितवन करता है अथवा उसी पदार्थ के गुण या पर्याय का संक्रमण करता है, पहिले के योग से किसी दूसरे योग पर संक्रमण करता है और एक व्यंजन से दूसरे व्यंजन पर संक्रमण करता है, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर, एक गुण से दूसरे गुण पर और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर तीनों योगों के द्वारा संक्रमण करने से इस प्रथम ध्यान के ब्यालीस भेद हो जाते हैं । वे ब्यालीस भेद इस प्रकार हैं—संसार में जीवादिक छह द्रव्य हैं । ज्ञान, वर्ण, गतिसहकार, स्थितिसहकार, वर्तना और अवगाहन—ये अनुक्रम से उन द्रव्यों के गुण हैं तथा उनके भेदों को पर्याय कहते हैं । एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ पर संक्रमण करने को अर्थांतर कहते हैं, एक गुण से दूसरे गुण पर संक्रमण करने को गुणांतर कहते हैं और एक पर्याय से दूसरे पर्याय पर संक्रमण करने को पर्यातांर कहते हैं । इस प्रकार अर्थ, अर्थांतर, गुण, गुणांतर और पर्याय, पर्यायांतर इन छहों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा अठारह भेद होते हैं । इसी तरह अर्थ से गुण, गुणान्तर, पर्याय, पर्यायांतर इन चारों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं तथा अर्थांतर से गुण, गुणांतर, पर्याय, पर्यायांतर इन चारों में तीनों योगों के संक्रमण के द्वारा बारह भेद होते हैं । इस प्रकार सब मिलकर ब्यालीस भेद होते हैं । इस प्रकार का यह प्रथम शुक्लध्यान उपशांत कषाय में रहता है और क्षीण कषाय के प्रारम्भ में रहता है । यह ध्यान शुक्लतर लेश्या के बल

परिवर्तनं क्षायोपशमिकभावमुपात्तार्थव्यंजनयोगसंक्रमणं चतुर्दशदशनवपूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यमुपशांतक्षीणकषायभेदात् स्वर्गापवर्गगतिफलसंवर्तनीयमिति ।

द्वितीयशुक्लध्यानमुच्यते । एकस्य भाव एकत्वं, वितर्को द्वादशांग, अवीचारोऽसंक्रांतिः । एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्यार्थव्यंजनयोगानामवीचारोऽसंक्रांतिर्यस्मिन्ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचार ध्यानं । एकयोगेनार्थगुणपर्यायेष्वन्यतमस्मिन्नवस्थानं पूर्ववत्पूर्वधरयतिवृषभनिषेव्यं । द्रव्यभावात्मकज्ञानदर्शनावरणांतरायघातिकर्मत्रयवेदनीयप्रभृत्यघातिकर्मसु केषांचिद्भावकर्मविनाशनसमर्थमुत्तमतपोऽतिशयरूपं पूर्वोक्तक्षीणकषायावशिष्टकालभूमिकमशेषार्थव्यंजनयोगसंक्रमणविषयचिन्ताविक्षेपरहितं असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरणं भवति । एवंविधे द्वितीयशुक्लध्याने घातित्रयविनाशनान्तरं क्षायिक-

---

से होता है और अंतर्मुहूर्तकाल के बाद बदल जाता है । यह क्षायोपशमिक भाव है, प्राप्त हुए अर्थ-व्यंजन योगों के संक्रमणपूर्वक होता है । चौदह पूर्व या दस पूर्व अथवा नौ पूर्व धारण करने वाले उत्तम मुनियों के द्वारा सेवन (धारण) करने योग्य है और उपशांत कषाय तथा क्षीण कषाय के भेद से स्वर्ग और मोक्ष फल को देने वाला है ।

आगे दूसरे शुक्लध्यान को कहते हैं—एक के भाव को एकत्व कहते हैं, द्वादशांग श्रुतज्ञान को वितर्क कहते हैं, संक्रमण न करने को अवीचार कहते हैं । जिस ध्यान में श्रुतज्ञान के अर्थ, व्यंजन, योगों का एक रूप से ही ध्यान किया जाय, किसी तरह से अर्थ, व्यंजन, योगों का संक्रमण न हो उसको एकत्व वितर्कावीचार नाम का दूसरा शुक्लध्यान कहते हैं । यह ध्यान किसी एक योग से अर्थ, गुण, पर्यायों में से किसी एक के चितवन में स्थित रहता है, पहिले के समान समस्त पूर्वों को धारण करने वाले उत्तम यतियों के द्वारा धारण किया जाता है । इस ध्यान में द्रव्यभावस्वरूप ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीनों घातिया कर्मों में से तथा वेदनीय आदि अघातिया कर्मों में से कितने ही भावकर्मों के नाश करने की सामर्थ्य है । यह उत्तम तपश्चरण का अतिशय स्वरूप है । पहिले कहे हुए क्षीण कषाय के समय से बाकी बचे हुए समय में यह दूसरा शुक्लध्यान होता है । अर्थ, व्यंजन, योगों के संक्रमण में होने वाली समस्त चिंताओं के (चितवन के) विस्तार से रहित है तथा कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा करने वाला है । इस प्रकार

ज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्यातिशयशक्तिगभस्तिप्रज्वलितकेवलिजिनभास्करोदयो व्यतिक्रान्तछद्मस्थज्ञानदर्शनशरीरभाषान्तःकरणप्रकृतिः संजायते । स खलु केवलिजिनकुंजरो भगवांस्तीर्थंकर इतरो वा कृतकृत्यः सिद्धसाध्यो बुद्धबोध्योऽत्यंताऽपुनर्भवलक्ष्मीपरिष्वक्तात्माचिन्त्यज्ञान-वैराग्यैश्वर्यमाहात्म्यः सर्वं लोकेश्वराणामभिगमनीयोऽभिवंद्यश्चोत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिकालं विहरति सयोगिभट्टारकः स यदांतर्मुहूर्तशेषायुष्कः समस्थितवेद्यनामगोत्रश्च भवति तदा बादरकाययोगे स्थित्वा क्रमेण बादरमनोवचनोच्छ्वासनिःश्वासं बादरकाययोगं च निरुध्य ततः सूक्ष्मकाययोगे स्थित्वा क्रमेण सूक्ष्ममनोवचनोच्छ्वासनिश्वासं निरुद्ध्य सूक्ष्मकाययोगः स्यात्तस्यैव सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिध्यानं

के दूसरे शुक्लध्यान में तीनों घातियां कर्मों के नाश होने के बाद क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य की अतिशय शक्तिरूप किरणों के द्वारा केवली भगवान जिनेंद्रदेव रूपी सूर्य के उदय का प्रकाश होता है तथा छद्मस्थ ज्ञान, दर्शन, शरीर, भाषा और अन्तःकरण का नाश हो जाता है । उस समय वे जिनेंद्रदेव केवली भगवान तीर्थंकर अथवा सामान्य केवली कृतकृत्य (समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले), सिद्धसाध्य (समस्त साध्यों को सिद्ध करने वाले) और बुद्धबोध्य (समस्त जानने योग्य पदार्थों के जानकार या सर्वज्ञ) हो जाते हैं, जिसमें जन्म-मरण का अत्यंत अभाव है ऐसी मोक्षरूपी लक्ष्मी में उनकी आत्मा तल्लीन हो जाती है, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य का माहात्म्य प्रकट हो जाता है । वे लोक के समस्त इंद्रों के द्वारा पूज्य, वंदनीय और दर्शनीय हो जाते हैं और ऐसी अवस्था में अधिक से अधिक कुछ कम एक करोड़ पूर्व तक विहार करते रहते हैं । उन सयोगकेवली परम भट्टारक भगवान जिनेन्द्रदेव की आयु जब अंतर्मुहूर्त की रह जाती है तथा वेदनीय नाम-गोत्र की स्थिति आयु के बराबर ही होती है तब वे बादरकाय योग में विराजमान रहते है, फिर वे अनुक्रम से बादर, मन, वचन, श्वासोच्छ्वास और बादरकाय योग का निरोध करते है और सूक्ष्मकाय योग में विराजमान रहते है उसी समय वे अनुक्रम से सूक्ष्म मन, वचन और श्वासोच्छ्वास का निरोध करते हैं और सूक्ष्मकाय योग को धारण करते हैं,

भवति । तच्छुक्लं सामान्येन तृतीये परमशुक्लापेक्षया प्रथमं यदा पुनरन्तर्मुहूर्तशेषायुष्कस्तदधिकस्थितिकर्मत्रयः सयोगिजिनस्तदात्मोपयोगातिशयः कर्मारातिशातनसमर्थः सामायिकखड्गसहायो विशिष्टक्रियो महासंवरसंवृतो लघुकर्मपरिपाचनश्च भूत्वा शेषकर्मरेणुपरिशातनशक्तिस्वभावात्समयैक दंडके चतुःसमये दंडकपाटलोकप्रतरपूरणाभिः स्वात्मप्रदेशविसर्पणे जाते तावद्भिरेव समयैरुपसंहृतविसर्पण आयुष्यसमीकृताऽघातिस्त्रयस्थितिर्निर्वर्तितसमुद्घातक्रियः पूर्वशरीरपरिमाणो भूत्वांऽतर्मुहूर्त्तेन पूर्ववत्क्रमेण योगनिरोधं विधाय प्रथमपरमशुक्लध्यानं निष्ठापयन् ततः समये द्वितीयपरमशुक्लध्यानं प्रारब्धुमर्हति ।

तत्पुनरत्यंतपरमशुक्लं समुच्छिन्नप्राणापानप्रचारसर्वकायवाङ्मनोयोगप्रदेशपरिस्पंदक्रियाव्यापारतया समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तीत्युच्यते । तत्र ध्याने सर्वास्रवनिरोधे सति सर्वशेषकर्मपरिशातन-

---

उसी समय उनके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नाम का शुक्लध्यान होता है । यह ध्यान सामान्य शुक्लध्यान की अपेक्षा तीसरा है और परम शुक्लध्यान की अपेक्षा पहिला है । परन्तु जब उनका आयु अंतर्मुहूर्त ही रह जाती है और वेदनीय नामगोत्र की स्थिति अधिक होती है तब वे केवलीसमुद्घात करते हैं । उस समय उन सयोगी भगवान के आत्मोपयोग का अतिशय प्राप्त होता है, कर्मरूपी शत्रुओं को क्षीण करने में वे समर्थ होते हैं, सामायिक रूपी तलवार ही उनकी सहायक होती है और वे उस समय एक विशेष क्रिया करते हैं । उस समय उनके वहां संवर होता है, छोटे-छोटे कर्मों को नाश कर डालते हैं और बाकी के कर्म परमाणुओं को क्षीण करने की स्वाभाविक शक्ति उनमें हो जाती है । उस समय उनके आत्मा के प्रदेश पहिले समय में दंडरूप, दूसरे समय में कपाटरूप, तीसरे समय में लोकप्रतररूप और चौथे समय में लोकपूरणरूप हो जाते हैं । इस तरह उनके आत्मा के प्रदेश फैल जाने पर उतने ही समय उपसंहाररूप हो जाते हैं अर्थात् पांचवें समय में लोकप्रतररूप, छठे समय में कपाटरूप, सातवें समय में दंडरूप और आठवें समय में शरीर प्रमाण हो जाते हैं ।

प्रदेशों के इन उपसंहार विस्तार में तीन अघातिया कर्मों की स्थिति आयु के समान कर लेते हैं । इस प्रकार समुद्घात क्रिया को पूर्ण कर अपने पहिले शरीर के परिमाण के बराबर होकर अंतर्मुहूर्त में ही पहिले के समान योगों का निरोध करते हैं तथा इस तरह प्रथम परमशुक्लध्यान को पूर्ण कर उसी समय में दूसरे परमशुक्लध्यान का प्रारम्भ करते हैं । इस दूसरे परमशुक्लध्यान में प्राणापान का प्रचार (स्वासोच्छ्वास का चलना),

सामर्थ्योत्पत्तिमतोऽयोगिकेवलिनः संपूर्णशीलगुणं सर्वसंसारदुःखज्वालापरिष्वंगच्छेदजननं साक्षान्मोक्षकारणं भवति। स पुनरयोगकेवलीभगवांस्तदा ध्यानानलनिर्दग्धसर्वमलकलंकेन्धनो निरस्तकिट्टपाषाणजात्यकनकवल्लब्धात्मस्वभावस्तदनंतरं पूर्वप्रयोगादाविद्धकुलालचक्रवदसंगत्वादपगतलेपालाबुवत्तथा बंधच्छेदादेरंडबीजवत्तथागतिपरिणामादग्निशिखावदूर्ध्वं गच्छतीत्यालोकांतादगत्युपग्रहकारणधर्मास्तिकायाऽऽभावादलोकं न गच्छति। एवमुक्तधर्म्यशुक्लयो राद्धांतसद्भावविषयसामान्ययोर्विषयं प्रत्यभेदः, अयं तु विशेषः—धर्मध्यानं सकषायपरिणामस्यैकस्मिन्वस्तुनि चिरकालं न तिष्ठति रथ्याऽव-

---

समस्त मन, वचन, काय के योग और प्रदेशों का परिस्पंदन आदि क्रियाओं के व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं इसलिये इसको समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति कहते हैं। इस ध्यान में समस्त आस्रवों का निरोध हो जाता है और बाकी के समस्त कर्मों का नाश करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है। ऐसे उन अयोगकेवली के समस्त संसार के दुःखों की ज्वाला के स्पर्श तक को नाश करने वाले और साक्षात् मोक्ष के कारण ऐसे समस्त शील और गुण प्रकट हो जाते हैं। फिर उसी समय वे अयोगकेवली भगवान् ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा समस्त कर्ममल कलंकरूपी ईंधन को जला डालते हैं और फिर उनकी आत्मा का स्वभाव जिस कनक पाषाण में से किट्ट कालिमा आदि सब नष्ट हो गया है ऐसे स्वच्छ स्वर्ण के समान निर्मल हो जाता है। उसके बाद वे फिराये हुए कुम्हार के चाक के समान मोक्ष के लिये पहिले का प्रयोग होने से, जिसका मिट्टी का सब लेप उतर गया है ऐसी तूंबी के समान बंधरहित होने से, एरंडी के बीज के समान बंधन टूट जाने से और अग्नि की शिखा के समान ऊपर की ओर गमन करने का स्वभाव होने से ऊपर को गमन करते हैं और लोक के ऊपर जा विराजमान होते हैं। गमन करने में धर्मद्रव्य सहायक है और वह लोकाकाश के आगे है नहीं, इसलिये वे अलोकाकाश में नहीं जाते। इस प्रकार ऊपर कहे हुए धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का विषय सिद्धांत के अनुसार साधारण है इसलिये विषय की अपेक्षा से तो इन दोनों में कोई भेद नहीं है। यदि इन दोनों में कोई विशेषता है तो यह है कि धर्म्यध्यान सकषाय परिणाम वाला होता है और इसलिये गली में रखे हुए दीपक के समान वह बहुत देर तक किसी एक पदार्थ के चिंतवन में नहीं ठहर

स्थितप्रदीपवत् । शुक्लध्यानं पुनर्वीतरागपरिणामस्यैकस्मिन् वस्तुनि धर्मध्यानावस्थानकालात्संख्येय-गुणमचंचलत्वादवतिष्ठते मणिप्रदीपवत् ।

एवमुक्तं द्वादशविधं तपः सर्वार्थसाधनं, तत एव हि ऋद्धयः संजायंते । ताश्चर्द्धयो बुद्धिक्रिया-विक्रियातपोबलौषधरसक्षेत्रभेदादष्टविधाः । तत्र बुद्धिमहर्द्धिनाम—बुद्धिरवगमो तद्विषया बुद्धिऋद्धि-रष्टादशविधा । केवलमवधिर्मनःपर्ययज्ञानं बीजबुद्धिः कोष्ठबुद्धिः पादानुसारित्वं संभिन्नश्रोतृत्वं दूराऽऽस्वादनस्पर्शनघ्राणदर्शनश्रवणसमर्थता दशपूर्वित्वं चतुर्दशपूर्वित्वं चाष्टांगमहानिमित्तज्ञता प्रज्ञा-श्रवणत्वं प्रत्येकबुद्धिता वादित्वं चेति । तत्र द्रव्यक्षेत्रकालभावकरणक्रमव्यवधानाऽभावे युगपदेकस्मिन्नेव

सकता, चंचल रहता है तथा शुक्लध्यान वीतराग परिणाम वाले के होता है और धर्म्य-ध्यान की स्थिति के समय संख्यात गुना निश्चल ठहरता है इसलिये मणि के दीपक के समान वह एक ही पदार्थ में अर्थात् एक ही पदार्थ के चिंतवन में ठहर जाता है।

इस प्रकार समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला यह बारह प्रकार का तपश्चरण कहा। इसी तपश्चरण से अनेक ऋद्धियां प्रकट होती हैं। वे ऋद्धियां बुद्धि, क्रिया, विक्रिया तप, बल, औषध, रस और क्षेत्र के भेद से आठ प्रकार की हैं। बुद्धि ज्ञान को कहते हैं, इसलिये ज्ञानविषयक ऋद्धियों को बुद्धिमहर्द्धि कहते हैं। उस बुद्धि ऋद्धि के नीचे लिखे अठारह भेद हैं—केवलज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारित्व, संभिन्नश्रोतृत्व, दूरास्वादनसामर्थ्य, दूरस्पर्शनसामर्थ्य, दूरघ्राणसामर्थ्य, दूरदर्शनसामर्थ्य, दूरश्रवणसामर्थ्य, दशपूर्वित्व, चतुर्दशपूर्वित्व, अष्टांगमहानिमित्तज्ञता, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येक-बुद्धिता और वादित्व। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा इन्द्रियों के क्रम और व्यवधान के बिना एक साथ एक ही समय में भूत, भविष्यत, वर्तमान तीनों कालों के समस्त द्रव्य, गुण और पर्यायरूप पदार्थों को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान कहलाता है। जो अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, रूपी पदार्थ ही जिसका विषय है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के द्वारा जिसके प्रत्येक भेद की सीमा नियत है, ऐसा देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार का अवधिज्ञान है। जो मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम होने से उत्पन्न होता है, रूपी द्रव्य का अनंतवां भाग जिसका विषय है और द्रव्य, क्षेत्र, काल,

समये त्रिकालवर्तिसर्वद्रव्यगुणपर्यायपदार्थविभासकं केवलज्ञानं । द्रव्यक्षेत्रकालभावैः प्रत्येकं विज्ञायमान-देशपरमसर्वभेदभिन्नमवधिज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमनिमित्तं रूपिद्रव्यविषयमवधिज्ञानं । द्रव्यादिभेदैः प्रत्येकमवगम्यमानर्जुविपुलमतिविकल्पं मनःपर्ययज्ञानावरणक्षयोपशमकारणं रूपिद्रव्यानंतभागविषयं मनः पर्ययज्ञानं । सुकृष्टवसुमतीकृते क्षेत्रे सारवति कालादिसहायापेक्षं बीजमेकमुप्तं यथाऽनेककोटिबीज-प्रदं भवति तथा नोइन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति संख्येयशब्दस्थानंताप्रतिबद्धस्या-नंतलिंगैः सहैकपदस्य ग्रहणादनेकार्थप्रतिपत्तिर्बीजबुद्धि । कोष्ठाऽगारिकस्थापितानामसंकीर्णानामविनष्टा-नां भूयसां धान्यबीजानां यथा कोष्ठावस्थानं तथा परोपदेशादवधारितानामर्थग्रंथबीजानां भूयसाम-व्यतिकीर्णानां बुद्धयवस्थानं कोष्ठबुद्धिः । पादानुसारित्वं त्रेधा प्रतिसार्यनुसार्युभयसारिभेदात् । तत्र

भाव के द्वारा जिसका प्रत्येक भेद जाना जाता है, ऐसा ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का मनःपर्ययज्ञान है । जिस प्रकार किसी उपजाऊ भूमि के अच्छे जोते हुए खेत में अच्छे समय पर बोया हुआ एक ही बीज अनेक करोड़ बीजों को उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार नोइंद्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर किसी एक ही पद के ग्रहण कर लेने से अनंत लिंगों के साथ-साथ अनंत अर्थों से भरे हुये संख्यात शब्दों के अनेक अर्थों का ज्ञान हो जाता है, आत्मा की ऐसी शक्ति को बीजबुद्धि नाम की ऋद्धि कहते हैं । जिस प्रकार किसी कोठे में भरे हुए नाश न होने वाले भिन्न-भिन्न बहुत से धानों के बीजों का समूह उस कोठे में भरा रहता है, उसी प्रकार दूसरों के उपदेश से धारण किये हुये भिन्न-भिन्न बहुत से अर्थग्रन्थ और बीजों के समूह बुद्धिरूपी कोठे में भरे रहते हैं । आत्मा की ऐसी शक्ति को कोष्ठबुद्धि कहते हैं ।

पादानुसारित्व के तीन भेद हैं–प्रतिसारी, अनुसारी और उभयसारी । बीजों के पदों में रहने वाले चिन्हों के द्वारा उस बीजपद के नीचे-नीचे के पदों को जान लेना प्रतिसारी है, ऊपर-ऊपर के पदों को जान लेना अनुसारी है तथा दोनों ओर रहने वाले पदों को नियमित अथवा अनियमित रीति से जान लेना उभयसारी है । इस प्रकार दूसरे से किसी एक पद के अर्थ को सुनकर उस ग्रन्थ के आदि, अन्त, मध्य का अर्थ धारण कर लेना अथवा समस्त ग्रन्थ का अर्थ धारण कर लेना पदानुसारित्व नाम की ऋद्धि है । बारह योजन लंबे,

बीजपदादधःस्थितान्येव पदानि बीजपदस्थितलिंगेन जानाति प्रतिसारि, उपरिस्थितान्येव जानात्यनुसारि, उभयपार्श्वे स्थितानि पदानि नियमेनानियमेन वा जानात्युभयसारि। एवमेकस्य पदस्यार्थं परत उपश्रुत्यादावंते मध्येव ऽशेषग्रंथार्थावधारणं पदानुसारित्वं। द्वादशयोजनाऽऽयामे नवयोजनविस्तारे चक्रधरस्कंधावारे गजवाजिखरोष्ट्रमनुष्यादीनामक्षरानक्षररूपाणां नानाविधकरंबितशब्दानां युगपदुत्पन्नानां तपोविशेषबललाभाऽऽपादितसर्वजीवप्रदेशप्रकृष्टश्रोत्रेन्द्रियपरिणामात्सर्वेषामेककाले ग्रहणं तत्प्रतिपादनसमर्थत्वं च संभिन्नश्रोतृत्वं। तपःशक्तिविशेषाऽऽविर्भावितासाधारणरसनेन्द्रियश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमांगोपांगनामलाभापेक्षस्यावधृतनवयोजनक्षेत्राद्बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टक्षेत्रादायातस्य रसास्वादनसामर्थ्यं दूरास्वादनमेवं शेषेष्वपीन्द्रियविशेषेष्ववधृतक्षेत्राद्बहिर्बहुयोजनविप्रकृष्टदेशादायातेषु ग्रहणसामर्थ्यं योज्यं। रोहिण्यादि पंचशतमहाविद्यादेवताभिरनुगतांगुष्ठप्रदेशनादिसप्तशतक्षुल्लक-

---

नौ योजन चौड़े चक्रवर्ती की सेना ठहरने के स्थान में हाथी, घोड़े, ऊंट और मनुष्य आदि के अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक ऐसे अनेक तरह के मिले हुये शब्द एक साथ उत्पन्न होते हैं, उन सबको जो विशेष तपश्चरण का बल प्राप्त होने से समस्त जीवों के प्रदेशों में उत्कृष्ट श्रोत्रेंद्रिय का परिणाम प्राप्त होता है, उससे एक ही काल में ग्रहण कर लेना तथा उन सबको प्रतिपादन करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाना संभिन्नश्रोतृत्व नाम की ऋद्धि है। तपश्चरण की विशेष शक्ति उत्पन्न होने के कारण जिन्हें रसनेन्द्रियावरण श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय का असाधारण क्षयोपशम प्राप्त हुआ है तथा अंगोपांग नाम कर्म का लाभ प्राप्त हुआ है, ऐसे मुनिराज के रसनेन्द्रिय का विषय जो नौ योजन क्षेत्र तक निश्चित है उसके बाहर अनेक योजन की दूरी वाले क्षेत्र से आये हुये रस के आस्वादन करने का सामर्थ्य उत्पन्न होना दूरास्वादन सामर्थ्य नाम की ऋद्धि है। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय जितने दूर क्षेत्र तक नियत है, उससे बाहर बहुत से योजन दूर देश से आये हुए स्पर्श, गन्ध, रूप और शब्दों को ग्रहण करने की सामर्थ्य उत्पन्न होना अनुक्रम से दूरस्पर्शनसामर्थ्य, दूरघ्राणसामर्थ्य, दूरदर्शनसामर्थ्य और दूरश्रवणसामर्थ्य नाम की ऋद्धियां हैं।

इस संसार में रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं की अधिष्ठात्री देवता हैं और अनुगत

विद्यादेवताभिस्ताभिरागताभिः प्रत्येकमात्मीयरूपसामर्थ्याविष्करणकथनकुशलाभिर्वेगवतीभिरचलित-चारित्रस्य दशपूर्वदुस्तरसमुद्रोत्तारणं दशपूर्वित्वं श्रुतकेवलिनां चतुर्दशपूर्वित्वं । अष्टौ महानिमित्तान्यांतरिक्षभौमांगस्वरव्यंजनलक्षणच्छिन्नस्वप्ननामानि । तत्र रविशशिग्रहनक्षत्रताराभगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रतिभागप्रदर्शनमांतरिक्षं । भुवो घनसुषिरस्निग्धरूक्षादिविभावनेन पूर्वादिदिक्सूत्रविन्यासेन वा वृद्धिहानिजयपराजयादिविज्ञानं भूमेरंतर्निहितसुवर्णरजतादिसंसूचनं च भौमं । तिर्यग्मनुष्याणां सत्त्वस्वभाववातादिप्रकृतिरसरुधिरादिधातुशरीरवर्णगन्धनिम्नोन्नतांगप्रत्यंगदर्शनस्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुखदुःखादिविभावनमंगं । नरनारीखरपिंगलोलूककपिवायसशिवाशृगालादीनामक्षरात्मकानक्षरात्मकशुभाशुभशब्दश्रवणेनेष्टानिष्टफलाविर्भावकः स्वरः । शिरोमुखग्रीवादिषु तिलकमशक-

---

अंगुष्ठ प्रवेशन आदि सात सौ क्षुल्लक विद्याओं की अधिष्ठात्री देवता हैं । वे सब देवता अपने रूप की सामर्थ्य प्रकट करने और कथन करने में अत्यन्त कुशल है तथा उनका वेग अत्यंत तीव्र है । ऐसे देवताओं के आने पर भी जिनका चारित्र विचलित नहीं होता ऐसे मुनिराज के दशपूर्व रूपी अथाह समुद्र को पार कर देने वाली (दशपूर्व का ज्ञान उत्पन्न कराने वाली) दशपूर्वित्व नाम की ऋद्धि है । इसी प्रकार श्रुतकेवली के चतुर्दशपूर्वित्व नाम की ऋद्धि होती है । आगे अष्टांग महानिमित्त ऋद्धि को कहते हैं । आंतरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, छिन्न और स्वप्न—ये आठ प्रकार के महानिमित्त कहलाते हैं। उनमें सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि नक्षत्रों के उदय-अस्त होने आदि से अतीत अनागत फल का कोई सा भी भाग जान लेना आंतरिक्ष नाम का निमित्त ज्ञान है । पृथ्वी के घन (कठिन), सुषिर (पोला), स्निग्ध-रूक्ष (रूखा-चिकना) आदि होने वाले परिणाम से अथवा पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं में सूत रखकर वृद्धि, हानि, जय, पराजय आदि का ज्ञान होना अथवा भूमि के भीतर रखे हुए सोना, चांदी आदि पदार्थों का जान लेना भौम नाम का निमित्त ज्ञान है । तिर्यंच मनुष्यों का स्वभाव वात, पित्त आदि प्रकृति; रस, रुधिर आदि धातु; शरीर का वर्ण, गन्ध, नीचाई, ऊंचाई, अंग-प्रत्यंग का देखना, छूना आदि के द्वारा भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालों में होने वाले सुख-दुःखादिकों को जान लेना अंग नाम का निमित्त ज्ञान है । स्त्री, पुरुष, गधा, सांप, उल्लू, बन्दर, कौआ, बकरा, गीदड़ आदि जीवों के अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक शुभ-अशुभ शब्दों को सुनकर इष्ट-अनिष्ट फलों को प्रकट

लक्ष्मव्रणादिविलोकनेन त्रिकालहिताहितवेदनं व्यंजनं। पाणिपादतलवक्षःस्थलादिषु श्रीवृक्षस्वस्तिकभृंगारकलशकुलिशादिलक्षणवीक्षणात् त्रैकालिकस्थानमानैश्वर्यादिविशेषणं लक्षणं। वस्त्रशस्त्रोपानदासनशयनादिषु देवमानुषराक्षसकृतविभागैः शस्त्रकंटकमूषिकादिकृतच्छेददर्शनात् कालत्रयविषयलाभालाभसुखदुःखादिसंस्तवनं छिन्नं। वातपित्तश्लेष्मोदयरहितस्य पश्चिमरात्रिविभागे चन्द्रसूर्यधराद्रिसमुद्रमुखप्रवेशनसकलमहीमंडलोपगूहनादिशुभस्वप्नदर्शनात् घृततैलाभ्यक्तात्मीयदेहखरकरभारूढापाग्दिग्गमनाद्यशुभस्वप्नदर्शनादागामिजीवितमरणसुखदुःखाऽऽविर्भाविकः स्वप्नः। स च द्विविधः, छिन्नमालाविकल्पेन। गजेन्द्रसिंहपोतादिकैश्छिन्नः पूर्वापरसंबंधानां भावनां दर्शनं माला। एतेषु महानिमित्तेषु कौशलमष्टांगमहानिमित्तज्ञता।

करने वाला स्वर नाम का निमित्त ज्ञान है। मस्तक, मुंह और ग्रीवा (गरदन) आदि स्थानों मे तिल, मस्सा या अन्य कोई चिन्ह अथवा घाव आदि देखकर तीनों कालों का हिताहित जानना व्यंजन नाम का निमित्त ज्ञान है। हाथ की हथेली, पांव के तलवे और वक्षःस्थल, छाती आदि शरीर के अंगों में श्रीवृक्ष स्वास्तिक (सांथिया), भृंगार या झारी कलश (घडा) और वज्र आदि के लक्षण देखकर तीनों काल संबंधी स्थान, मान, ऐश्वर्य आदि जान लेना लक्षण नाम का निमित्त ज्ञान है। वस्त्र, शस्त्र, उपानत् (जूता), आसन, शयन, शस्त्र, कांटा, चूहे आदि के द्वारा छिद्र होना देखकर तीन काल सम्बन्धी लाभ-हानि, सुख-दुख आदि जान लेना छिन्न नाम का निमित्त ज्ञान है। वात, पित्त, श्लेष्मा के उदय से रहित मनुष्य के रात्रि के पिछिले भाग में चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, मुखप्रवेशन (किसी बैल आदि का मुख में प्रवेश करना), समस्त पृथ्वी मण्डल का छिपना आदि शुभ स्वप्न दिखाई दे अथवा घी, तेल से मर्दन किया हुआ अपना शरीर गधा अथवा ऊंट पर चढ़ाकर दक्षिण दिशा की ओर गमन करना आदि अशुभ दिखाई दे तो उन्हें देखकर या जानकर आगामी काल में जीवित रहने, मरने या सुख-दुःखादिक को प्रकट करने वाला स्वप्न नाम का निमित्त ज्ञान है। यह स्वप्न नाम का निमित्त ज्ञान छिन्न और माला के भेद से दो प्रकार का है। हाथी, सिंह का बच्चा आदि का देखना छिन्न है और पूर्वापर संबंध रखने वाले पदार्थों का देखना माला है। इन महानिमित्तों में कुशल होना अष्टांगमहानिमित्तज्ञता नाम

अतिसूक्ष्मार्थतत्त्वविचारगहने चतुर्दशपूर्विण एव विषयेऽनुपयुक्ते पृष्ठेऽनधीतद्वादशांगचतुर्दशपूर्वस्य प्रकृष्टश्रुतावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमाविर्भूतासाधारणप्रज्ञाशक्तिलाभान्निःसंशयनिरूपणं प्रज्ञाश्रवणत्वं। सा च प्रज्ञौत्पत्तिकी वैनयिकी कर्मजा पारिणामिकी चेति चतुर्विधा। तत्र जन्मांतरविनयजनितसंस्कारसमुत्पन्नौत्पत्तिकी। विनयेन द्वादशांगानि पठतः समुत्पन्ना वैनयिकी। दुश्चरतपश्चरणबलेन गुरूपदेशमंतरेण समुत्पन्ना कर्मजा। स्वकीयस्वकीयजातिविशेषेण समुत्पन्ना पारिणामिकी चेति।

परोपदेशमन्तरेण स्वशक्तिविशेषादेव ज्ञानसंयमविधाने नैपुण्यं प्रत्येकबुद्धिता।

शक्रादिष्वपि प्रतिबंधकेषु सत्स्वप्रतिहततया प्रतिभया निरुत्तराभिधानं पररंध्रान्वेषणं च वादित्वं। इति बुद्धिऋद्धिप्रकरणं।

अथ क्रियर्धिः। क्रियाविषया ऋद्धिर्द्विविधा, चारणत्वमाकाशगामित्वं चेति। तत्र चारणाऽनेक-

---

की ऋद्धि है। जो मुनि चौदह पूर्वों में कहे हुए अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों में रहने वाले तत्वों के (उनमें रहने वाले भावों के) विचार करने योग्य गहन विषयों में उपयुक्त न हों और उसी विषय को कोई पूछे तथा द्वादशांग और चौदह पूर्व उन्होंने पढ़े भी न हों तो श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने के कारण बुद्धि की असाधारण शक्ति का लाभ प्रकट होने से उसका संशय दूर कर देना प्रज्ञाश्रवणत्व नाम की ऋद्धि है। वह प्रज्ञा औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी के भेद से चार प्रकार की है। उनमें से जो प्रज्ञा जन्मांतर के विनय से उत्पन्न हुए संस्कारों से प्रकट होती है, उसको औत्पत्तिकी कहते है। विनयपूर्वक द्वादशांग पढ़ने से जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह वैनयिकी प्रज्ञा है। अत्यन्त घोर तपश्चरण की सामर्थ्य से गुरु के उपदेश के बिना उत्पन्न हुई प्रज्ञा कर्मजा कहलाती है। अपनी-अपनी जाति विशेष से उत्पन्न हुई प्रज्ञा पारिणामिकी कहलाती है। इस प्रकार प्रज्ञाश्रवणत्व ऋद्धि का स्वरूप समझना चाहिये। परोपदेश के बिना केवल अपनी विशेष शक्ति से ही ज्ञान और संयम के भेद-प्रभेदों में निपुणता प्राप्त होना प्रत्येक बुद्धिता नाम की ऋद्धि है। यदि इन्द्रादिक भी आकर अपना विरोधी बना हो तथापि अपनी बुद्धि और प्रताप के द्वारा उसे निरुत्तर कर देना तथा उसके दोषों को ढूंढ़ निकालना वादित्व नाम की ऋद्धि है। इस प्रकार बुद्धि नाम की ऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे क्रिया ऋद्धि को कहते हैं—क्रिया ऋद्धि दो प्रकार की है—एक चारणत्व

विधा, जलजंघातंतुपुष्पपत्रबीजश्रेण्यग्निशिखाद्यालंबनगमनाः। जलमुपादाय वाप्यादिष्वप्कायिकजीवाननविराधयंतो भूमाविव पादोद्धारनिक्षेपकुशला जलचारणाः। भूमेरुपर्याऽऽकाशे चतुरंगुलप्रमाणे जंघोत्क्षेपनिक्षेपशीघ्रकरणपटवो बहुयोजनशताऽऽशुगमप्रवणा जंघाचारणाः एवमितरे बोद्धव्याः। पर्यंकावस्था वा निषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणा वा ताभ्यामतरेण आकाशं गमनकुशला आकाशगामिनः। इति क्रियर्द्धि.।

विक्रियागोचरा ऋद्धिरनेकविधा। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्तिः, प्राकाम्यं, ईशत्वं, वशित्वं, अप्रतिघातः, अन्तर्धानं, कामरूपित्वमादि। तत्राऽणुशरीरविकरणमणिमा। बिसच्छिद्रमपि प्रविश्याऽऽसीत तत्र चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत्। मेरोरपि महत्तरशरीरविकरणं महिमा।

ऋद्धि और दूसरी आकाशगामित्व ऋद्धि। उनमें से जल, जंघा, तन्तु, पुष्प, पत्र, बीज, श्रेणी और अग्नि की शिखा आदि का सहारा लेकर गमन करना चारण ऋद्धि है और वह ऊपर लिखे सहारों के भेदों से ही अनेक तरह की हो जाती है। बावड़ी, तालाब आदि जलाशयों में भी अप्कायिक जीवों की विराधना न करते हुए भूमि के समान पैरों को उठाने-रखने की कुशलता प्राप्त हो जाना जल का सहारा लेने वाली जलचारण ऋद्धि है। भूमि के ऊपर चार अंगुल ऊंचे आकाश में जंघाचारण ऋद्धि वाले चलते हैं। वे अपनी जंघाओं को बड़ी शीघ्रता के साथ उठाने-रखनेमें चतुर होते हैं और सैकड़ों योजन तक बड़ी शीघ्रता से पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार और क्रिया ऋद्धि वाले भी समझ लेना चाहिये। आकाशगामिनी ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि पर्यंक आसन से बैठकर अथवा अन्य किसी आसन से बैठकर, कायोत्सर्ग शरीर को धारण कर, पैरों को उठाकर-रखकर भी आकाश के ऊपर गमन करने में निपुण होते हैं अथवा बिना पैरों को उठाये-रखे भी आकाशगमन करने में निपुण होते हैं। इस प्रकार क्रिया ऋद्धि का वर्णन किया।

अब आगे विक्रिया ऋद्धि को कहते हैं—विक्रिया ऋद्धि के अनेक भेद हैं और अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व, अप्रतिघात, अंतर्धान और कामरूपत्व आदि उनके नाम हैं। छोटा शरीर बनाने की शक्ति को अणिमा कहते हैं। अणिमा ऋद्धि को धारण करने वाला कमलनाल के छिद्रों में भी प्रवेश कर सकता है और

वायोरपि लघुतरशरीरता लघिमा। वज्रादपि गुरुतरदेहता गरिमा। भूमौ स्थित्वाऽङ्गुल्यग्रेण मेरुशिखरदिवाकरादिस्पर्शनसामर्थ्यं प्राप्तिः। अप्सु भूमाविव गमनं भूमौ जल इवोन्मज्जननिमज्जनकरणं प्राकाम्यं, अनेकजातिक्रियागुणद्रव्याधीनं स्वांगाद् भिन्नमभिन्नं च निर्माणं प्राकाम्यं सैन्यादिरूपमिति केचित्। त्रैलोक्यस्य प्रभुत्वमीशित्वं। सर्वजीववशीकरणलब्धिर्वशित्वं। अद्रिमध्ये वियतीव गमनमप्रतिघातः। अदृश्यरूपताऽन्तर्धानं। युगपदनेकाऽऽकाररूपविकरणशक्तिः कामरूपित्वमिति, यथाऽभिलषितैकमूर्त्तार्थाकारं स्वांगस्य मुहुर्मुहुः करणं कामरूपित्वमिति वा। इति विक्रियर्द्धिप्रकरणं।

तपोतिशयर्द्धिः सप्तविधा। उग्रदीप्ततप्तमहाघोरतपोघोरपराक्रमाः घोरब्रह्मचर्याः अघोरगुणब्रह्मचारिण इति। तत्रोग्रतपसो द्विविधाः, उग्रोग्रतपसोः, अवस्थितोग्रतपसश्चेति। तत्रैकमुपवासं कृत्वा

वहीं पर चक्रवर्ती के परिवार की विभूति को उत्पन्न कर सकता है। मेरु पर्वत से भी बड़ा शरीर बनाने की शक्ति को महिमा कहते हैं। वायु से भी हलका शरीर बनाने की शक्ति को लघिमा कहते हैं। वज्र से भी भारी शरीर बनाने की शक्ति को गरिमा कहते है। पृथ्वी पर ठहरकर भी उंगली के अग्रभाग से ही मेरु पर्वत का शिखर अथवा सूर्य आदि को छूने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाना प्राप्ति है। पानी में पृथ्वी के समान चलने की शक्ति होना तथा पृथ्वी पर पानी के समान उछलने-डूबने की शक्ति होना प्राकाम्य है। कोई-कोई आचार्य अनेक तरह की क्रिया, गुण या द्रव्य के अधीन होने वाले सेना आदि पदार्थों को अपने शरीर से भिन्न अथवा अभिन्न रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होने को प्राकाम्य कहते हैं। तीनों लोकों का प्रभाव प्राप्त हो जाना ईशत्व है। समस्त जीवों को वश करने की शक्ति प्राप्त हो जाना वशित्व है। पर्वत के भीतर होकर आकाश के समान गमन करने की शक्ति को अप्रतिघात कहते हैं। अदृश्यरूप हो जाने की शक्ति को अंतर्धान कहते हैं। एक ही साथ अनेक आकार अथवा अनेक रूप बनाने की शक्ति को कामरूपित्व कहते हैं अथवा अपनी इच्छानुसार अपने शरीर को बार-बार एक मूर्त पदार्थ के आकाररूप परिणत करनी कामरूपित्व कहलाती है। इस प्रकार विक्रिया ऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे तप ऋद्धि को कहते हैं—उग्रतप, दीप्ततप, तप्ततप, महातप, घोरतप, घोरपराक्रम और घोर ब्रह्मचर्य अथवा अघोरगुण ब्रह्मचारी—ये सात प्रकार की तपोतिशय

पारणं विधाय द्विदिनमुपोष्य तत्पारणानन्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वंत्येवमेकोत्तरवृद्ध्या यावज्जीवं त्रिगुप्तिगुप्ताः संतो ये केचिदुपवसंति त उग्रोग्रतपसः। दीक्षोपवासं कृत्वा पारणानंतरमेकांतरेण चरतां केनाऽपि निमित्तेन षष्ठोपवासे जाते तेन विहरतामष्टमोपवाससंभवे तेनाचरतामेवं दशद्वादशादिक्रमेणाधो न निवर्त्तमानानां यावज्जीवं येषां विहरण तेऽवस्थितोग्रतपसः। महोपवासकरणेऽपि प्रवर्द्धमानकायवाङ्मनोबला दुर्गंधरहितवदनाः पद्मोत्पलादिसुरभिनिःश्वासाः प्रतिदिनप्रवर्द्धमानाऽप्रच्युतमहादीप्तिशरीरा दीप्ततपसः। तप्ताय सकटाहपतितजलकणवदाशु शुष्काल्पाऽऽहारतया मलरुधिरादिभावपरिणामविरहिताभ्यवहरणास्तप्ततपसः। अणिमादिजलचारणाद्यष्टगुणालंकृता विस्फुरितकायप्रभा

ऋद्धियाँ होती हैं। इनमें उग्रतप नाम की ऋद्धि भी उग्रोग्रतप और अवस्थितोग्रतप के भेद से दो प्रकार की है। कोई मुनि एक उपवास कर पारणा करें, फिर दो उपवास कर पारणा करें, फिर तीन उपवास कर पारणा करें इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अधिक उपवास अपने जीवन पर्यंत तक करते रहें तथा मन, वचन, काय तीनों गुप्तियों को बराबर पालन करते रहें उनके उग्रोग्रतप नाम की ऋद्धि समझनी चाहिये। दीक्षा लेते समय का उपवास कर पारणा करें, फिर उपवास-पारणा उपवास पारणारूप से बराबर करते रहें। फिर कुछ दिन तक दो उपवास पारणारूप से करते रहें, फिर तीन उपवास पारणारूप से करते रहें। इस प्रकार छह उपवास तक पहुँच जायें। छह-छह उपवास के बाद पारणा का अभ्यास हो जाने पर आठ-आठ उपवास और फिर पारणा करते रहें, फिर अनुक्रम से दस-दस बारह-बारह उपवास के बाद पारणा करते रहें। इस प्रकार करते हुए जीवन पर्यंत तक विहार करते रहें, बीच में किसी भी समय अपने चलते हुए उपवास की संख्या कम न करें, उनके अवस्थिततोग्रतम नाम की ऋद्धि समझनी चाहिये। अनेक बड़े-बड़े उपवास करने पर भी जिनके मन, वचन, काय का बल सदा बढ़ता रहता है, जिनका मुंह सदा दुर्गंधरहित रहता है, जिनका निःश्वास कमल के पुष्प के समान सुगंधित रहता है और जिनके शरीर की महाकांति प्रतिदिन बढ़ती ही जाती है, कभी घटती नहीं उनके दीप्त तप नाम की ऋद्धि कही जाती है। जिस प्रकार तपाई हुई लोहे की कढ़ाई में पड़ी हुई जल की एक बूंद शीघ्र ही सूख जाती है उसी प्रकार अल्पाहार ग्रहण करने से जिनके भोजन करने

विविधाक्षीणर्द्धियुक्ताः सर्वौषधर्द्धिप्राप्ता अमृतीकृतपाणिमात्रनिपतितसर्वाहाराः सर्वामरेंद्रेभ्योऽनंतबला आशीविषदृष्टिविषर्द्धिसमन्वितास्तप्ततपसश्च । सकलविद्याधारिणो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानाऽवगतत्रिभुवनगतव्यापारा महातपस । वातपित्तश्लेष्मसंनिपातसमुद्भूतज्वरकासाक्षिशूलकुष्टप्रमेहादिविविधरोगसंतापितदेहा अप्यप्रच्युताऽनशनादितपसोऽनशने षण्मासोपवासाः, अवमौदर्ये एककवलाहाराः, वृत्तिपरिसंख्याने चत्वरगोचरावग्रहा. । रसपरित्यागे उष्णजलधौतोदनभोजिनः विविक्तशयनाऽऽसने भीमश्मशानगिरिगुहादरीकदरशून्यग्रामादिषु प्रदुष्टयक्षरक्षःपिशाचप्रनृत्यत्प्रेतबेतालरूपविकारेषु परुषशिवारुतानुपरतसिंहव्याघ्रादिव्यालमृगभीषणस्वनघोरचौरादिप्रचलितेष्वभिरुचितावासाः, कायक्लेशेऽतिती-

---

पर भी वह अन्न मल, रुधिर आदि धातु-उपधातु रूप परिणत नहीं होता उनके तप्ततप नाम की ऋद्धि समझनी चाहिये अथवा जो अणिमा आदि तथा जलचारण आदि आठों गुणों से परिपूर्ण हैं, जिनके शरीर की प्रभा देदीप्यमान हो रही है, जो अनेक तरह की अक्षीण ऋद्धियों को धारण करने वाले हैं, समस्त औषधि ऋद्धियां जिन्हें प्राप्त हैं, जिनके पाणिपात्र पर (हाथ पर) आया हुआ सब तरह का आहार अमृतरूप हो जाता है, जिनके देवों के सब इंद्रियों से भी अनंत गुना बल है और जो आशीविष, दृष्टिविष ऋद्धियों को धारण करने वाले है उनके तप्ततप नाम की ऋद्धि समझनी चाहिये। जो समस्त विद्याओं को धारण करने वाले हैं तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन.पर्यय ज्ञान से जो तीनों लोकों के समस्त व्यापारों को जानते हैं उनके महातप नाम की ऋद्धि है । वात, पित्त, श्लेष्मा के सन्निपात से उत्पन्न हुए ज्वर, कास, नेत्र शूल, कोढ़, प्रमेह आदि अनेक तरह के रोगों से जिनका शरीर संतप्त हो रहा है तथापि जिन्होंने अनशन आदि तपश्चरणों को नहीं छोड़ा है, अनशन तपश्चरण में जो छह छह महीने का उपवास करते हैं, अवमौदर्य तपश्चरण में जो केवल एक कवल का (एक ग्रास या गस्सा) आहार लेते हैं, वृत्तिपरिसंख्यान तपश्चरण में जो आहार के लिये केवल चार घर तक ही जाते हैं, रसपरित्याग में जो गर्म जल से धोये हुए चावलों का ही आहार लेते हैं, विविक्तशय्यासन में जो भयानक श्मशान, पर्वतों की गुफा, दरी, कंदरा या सूने गांवों में निवास करते हैं अथवा जहां पर अत्यंत दुष्ट यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि प्रेत, बेताल आदि का विकृत रूप धारण कर नृत्य कर रहे हैं,

प्रशीतातपवर्षानिपातप्रदेशेष्वभ्रावकाशातापनवृक्षमूलयोगग्राहिणः । एवमाभ्यंतरतपोविशेषेष्वप्युत्कृष्टतपोऽनुष्ठायिनो घोरतपसः ।त एव गृहीततपायोगवर्द्धनपराः । त्रिभुवनोपसंहरणमहीवलयग्रसनसकलसागरसलिलसंशोषणजलाग्निशिलाशैलादिवर्षणशक्तयो घोरपराक्रमाः । चिरोषितस्खलितब्रह्मचर्याऽऽवासाः प्रकृष्टचारित्रमोहक्षयोपशमात्प्रणष्टदुःस्वप्ना घोरब्रह्मचारिणः, अथवा अघोरगुणब्रह्मचारिण इति पाठं अघोरं शांतं गुणः ब्रह्मचारित्रः येषां ते अघोरगुणब्रह्मचारिणः । शांतिपुष्टिहेतुत्वाचेषां तपोमाहात्म्येन डमरेतिमारिर्भिक्षवैरकलहवधबंधनरोगादिप्रशमनशक्तिः समुत्पद्यते तेऽघोरगुणब्रह्मचारिणः । इति तपोऋद्धिः ।

अथ बलर्द्धिः । बलालवनादृद्धिस्त्रिविधा, मनोवाक्कायविषयभेदात् । तत्र श्रुतावरणवीर्या-

---

जहां गीदड़ रो रहे हैं, सिंह-बाघ भरे हुए हैं तथा गरज रहे हैं, हाथी चिंघाड़ रहे हैं, अन्य घातक जानवरों के भीषण शब्द हो रहे हैं और चोर, डाकू आदि फिर रहे हैं ऐसे भयानक और एकान्त स्थान में रुचिपूर्वक निवास करते हैं, कायक्लेश तपश्चरण में जो अत्यन्त तीव्र शीत पड़ने वाले प्रदेशों में खुले मैदान में निवास करते हैं, अत्यन्त तीव्र उष्णता वाले प्रदेशों में योग धारण करते हैं और अत्यन्त तीव्र वर्षा पड़ने वाले प्रदेशों में वृक्ष के नीचे योग धारण करते हैं। इसी प्रकार जो अभ्यंतर तपश्चरणों में भी विशेष-विशेष समस्त तपश्चरणों को उत्कृष्ट रीति से पालन करते हैं उनके घोर तप नाम की ऋद्धि समझनी चाहिये। वे ही घोर तप ऋद्धि को धारण करने वाले जो मुनि ग्रहण किये हुए तपोयोग को बढ़ाने में तत्पर हैं, जिनमें तीनों लोकों को उपसंहार करने, समस्त पृथ्वीमण्डल को ग्रास करने, समस्त महासागरों के जल को सोखने, जल, अग्नि, शिला और पर्वत आदि की वर्षा करने की शक्ति है उनके घोर पराक्रम नाम की ऋद्धि कही जाती है। जिन्होंने बहुत दिन तक कभी स्खलित न होने वाले ब्रह्मचर्य में निवास किया है और चारित्रमोहनीय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने के कारण जिनके दुःस्वप्न सब नष्ट हो गये हैं वे घोर ब्रह्मचारी गिने जाते हैं अथवा इस ऋद्धि को धारण करने वाले का नाम अघोर गुण ब्रह्मचारी भी है। अघोर शांत को कहते हैं, जिनका ब्रह्मचारित्र शांत है उनको अघोर गुण ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे मुनि शांति और पुष्टि के कारण होते हैं इसीलिये जिनके तपश्चरण के माहात्म्य से उग्र, ईति, मारी, दुर्भिक्ष, वैर, कलह, वध, बंधन और रोग आदि को शांत करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय उन्हें अघोर गुण ब्रह्मचारी कहते हैं। इस प्रकार तपोऋद्धि का वर्णन किया है।

आगे बल ऋद्धि को कहते हैं—मन, वचन, काय के भेद से बल तीन प्रकार का

तरायक्षयोपशमप्रकर्षे सति खेदमंतरेणांतर्मुहूर्ते सकलश्रुतार्थचिंतनेऽवदाता मनोबलिनः। मनोजिह्वा-श्रुतावरणवीर्यांतरायक्षयोपशमातिशये सत्यंतर्मुहूर्ते सकलश्रुतोच्चारणसमर्थाः सततमुच्चैरुच्चारणे सत्यपि श्रमविरहिता अहीनकंठाश्च वाग्बलिनः। वीर्यान्तरायक्षयोपशमप्रकर्षादाविर्भूतासाधारण-कायबलत्वान्मासिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकादिप्रतिमायोगधारणेऽपि श्रमक्लेशविरहितास्त्रिभुवनमपि कनीयस्यांगुल्योद्धृत्याऽन्यत्र स्थापयितुं समर्थाश्च कायबलिनः। इति बलर्द्धिः।

अथौषधर्द्धिप्रकरणे। औषधर्द्धिरष्टविधा। असाध्यानामप्यामयानां सर्वेषां विनिवृत्तिहेतुराम-र्शक्ष्वेलजलमलविट्सर्वौषधिप्राप्ताऽऽस्यविषदृष्टयविषविकल्पात्। आमर्शः संस्पर्शो हस्तपादाद्यामर्शः सकलौषधिं प्राप्तो येषां त आमर्शौषधिप्राप्ताः, क्ष्वेलो निष्ठीवनं, उपलक्षणं चैतत्तेन श्लेष्मलाला-

---

है इसलिये उनके अवलंबन से यह ऋद्धि भी तीन प्रकार की है। श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम की उत्कृष्टता होने पर बिना किसी खेद के अंतर्मुहूर्त में ही समस्त श्रुतज्ञान के पदार्थों के चिंतवन करने की सामर्थ्य प्राप्त होना मनोबल नाम की ऋद्धि है। मन, नोइन्द्रियावरण, जिह्वेंद्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर अंतर्मुहूर्त में ही समस्त श्रुतज्ञान के पद वाक्यों के उच्चारण करने की सामर्थ्य प्राप्त होना तथा सदा ऊंचे स्वर में उच्चारण करने पर भी किसी तरह का परिश्रम न होना और कंठ मंद न होना वाग्बल नाम की ऋद्धि है। वीर्यांतराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने के कारण जो असाधारण शारीरिक बल प्रकट होता है उस शारीरिक बल से एक महीने, चार महीने और एक वर्ष आदि का प्रतिमा योग धारण करने पर भी जिनके किसी तरह का श्रम और क्लेश नहीं होता तथा जिनमें तीनों लोकों को भी हाथ की छोटी उंगली से उठाकर किसी दूसरी जगह स्थापन करने की सामर्थ्य होती है उनके काय बल ऋद्धि कही जाती है। इस प्रकार बल ऋद्धि का वर्णन किया।

आगे औषधि ऋद्धि को कहते हैं—औषधि ऋद्धि आठ प्रकार की है—आमर्श, क्ष्वेल, जल्ल, मल, विट्, सर्वौषधि, आस्यविष और दृष्ट्यविष उसके नाम हैं। इन ऋद्धियों को धारण करने वाले मुनियों के आमर्श आदि संसार के समस्त असाध्य रोगों को भी दूर कर देते हैं। आमर्श स्पर्श का नाम है। जिनके हाथ, पैर आदि का स्पर्श ही सब तरह की औषधियों को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसी से सब रोग दूर हो जाते हैं वे मुनि आम-र्शौषधि नाम की ऋद्धि को धारण करने वाले हैं। क्ष्वेल थूक को कहते हैं। यह शब्द यहां

विपुटसिंहाणकादयश्चौषधिं प्राप्ता येषां ते क्ष्वेलौषधिप्राप्ताः। स्वेदालंबनो रजोनिचयो जल्लः स औषधिं प्राप्तो येषां ते जल्लौषधिप्राप्ताः कर्णदंतनासिकादिसमुद्भवो मल औषधिं प्राप्तो येषां ते मलौषधिप्राप्ताः। विडुच्चारः शुक्रमूत्रं औषधिं प्राप्तो येषां ते विडौषधिप्राप्ताः। अंगप्रत्यंगनखदंत-केशादिरवयवस्तत्संस्पर्शी वाटवादिः सर्वौषधिं प्राप्तो येषां ते सर्वौषधिप्राप्ताः उग्रविषसंपृक्तो-ऽप्याहारो येषामास्यमतो निर्विषो भवति, यदीयवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषा भवति त आस्यविषाः। येषामालोकनमात्रादे वातितातीव्रविषदूषिता अपि विगतविषा भवंति ते दृष्टयविषाः। अथवा आशीविषमविषं येषां ते आश्यविषाः, दृष्टिविषाणां विषमविषं येषां ते दृष्टयविषाः। इत्यौषधर्द्धिप्रकरणं।

अथ रसर्द्धिप्रकरण समुच्यते। रसर्द्धिप्राप्ता षड्विधाः, आस्यविषाः, दृष्टिविषाः, क्षीरास्रा-

---

पर उपलक्षण है। थूक से श्लेष्मा, लाला (लार), विपुट (पसीने की बूंद), सिंहाणक (नाक का मल) आदि सब लेने चाहिए। जिनके थूक, लार, नाक का मल, पसीना आदि सब-सब तरह की औषधि रूप परिणत हो जाये उनके क्ष्वेलौषधि ऋद्धि समझनी चाहिए। पसीना आने से जो शरीर पर धूल या मैल जम जाता है, उसको जल्ल कहते हैं। जिनके शरीर का वह पसीने का मैल ही सब तरह की औषधि रूप हो जाये, वे मुनि जल्ल ऋद्धि को धारण करने वाले कहे जाते हैं। जिनके कान, नाक, दांत आदि से उत्पन्न हुआ मल ही औषधिरूप हो जाये, वे मलौषधि नाम की ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। विट् उच्चार अथवा शुक्र और मूत्र को कहते है, जिनका शुक्र, मूत्र ही औषधि का काम दे वे विडौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। जिनके अंग- प्रत्यंग, नख, दन्त, केश आदि शरीर के अवयव अथवा उन अवयवों को स्पर्श करने वाली वायु ही समस्त औषधियों का काम दे, वे सर्वौषधि ऋद्धि प्राप्त मुनि हैं। उग्र विष से मिला हुआ आहार भी जिनके मुख में जाने पर विषरहित हो जाये अथवा जिनके वचनों को सुनकर महाविष में डूबे हुए मनुष्य भी विषरहित हो जायें, वे आस्याविष ऋद्धि वाले मुनि कहलाते हैं। जिनके दर्शन करने मात्र से ही अत्यन्त तीव्र विष से दूषित हुए जीव विषरहित हो जायें, वे दृष्ट्यविष ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि हैं अथवा जिनके लिए आशीविष भी विष न हों वे आशयविष ऋद्धि वाले हैं और जिनकी आंखों में विष है, जिनको देख लें वे मर जायें ऐसे दृष्टिविष जीवों का विष भी जिनके लिये विष न हो वे दृष्ट्यविष ऋद्धि को धारण करने वाले हैं। इस प्रकार औषधि ऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे रस ऋद्धि को कहते हैं—रस ऋद्धि को प्राप्त होने वाले मुनि छह प्रकार

विण:, मध्वास्राविण:, सर्पिरास्राविण:, अमृताऽऽस्राविणश्चेति । प्रकृष्टतपोबला यतयो यं म्रियस्वेति स तत्क्षणादेव महाविषपरीतो म्रियते त आस्यविषा: आशीविषा इति केचित्तत्राप्ययमेवार्थस्तदाऽऽशासनादेव म्रियमाणत्वात् । उत्कृष्टतपसो यतय: क्रुद्धा यमीक्षंते स तदैवोग्रविषपरीतो म्रियते ते दृष्टिविषा: । विरसमप्यशनं येषां निक्षिप्तं क्षीररसवीर्यपरिणामितां भजते, येषां वा वचनानि क्षीरवत्क्षीणानां तर्पकाणि भवति ते क्षीराऽऽस्राविण: । येषां पाणिपुटे पतित आहारो नीरसोऽपि मधुररसवीर्यपरिणामितां भजते येषां वा वचांसि श्रोतृणां दु:खार्दितानामपि मधुरगुण पुष्णंति ते मध्वाऽऽस्राविण: येषां पाणिपात्रगतमन्नं रूक्षमपि सर्पिरसवीर्यविपाकमवाप्नोति, सर्पिरिव येषां भाषितानि प्राणिनां संतर्पकाणि भवंति ते सर्पिरास्राविण: । येषां करपुटप्राप्तं भोजनं यत्किंचिदमृतमास्कंदति, येषां वा व्याहृतानि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवंति । इति रसर्द्धिप्रकरणं ॥

अथ क्षेत्रर्द्धिप्राप्ता द्वेधा, अक्षीणमहानसा:, अक्षीणमहालयाश्चेति । लाभांतरायक्षयोपशम-

---

के हैं—आस्यविष, दृष्टिविष, क्षीरास्रावी, मध्वास्रावी, सर्पिरास्रावी और अमृतस्रावी । उत्कृष्ट तपश्चरण के बल से जो मुनि किसी को "तू मर जा" कह दें तो वह उसी समय महाविष से दूषित होकर मर जाय ऐसे मुनियों को आस्यविष ऋद्धिधारी मुनि कहते हैं । कोई-कोई आचार्य इस ऋद्धि का नाम आशीविष ऋद्धि कहते हैं । इसका भी वही अर्थ है जो ऊपर लिख चुके हैं क्योंकि ऐसे मुनियों के बुरा आशीर्वाद देने से ही वह मर जाता है । उत्कृष्ट तपश्चरण वाले मुनि क्रोधित होकर जिसको देख ले वह उसी समय उग्रविष से दूषित होकर मर जाय ऐसे मुनि दृष्टिविष ऋद्धिधारी कहलाते हैं । जिनके हाथ पर रखा हुआ नीरस भोजन भी दूध की शक्ति वाला हो जाय अथवा जिनके वचन दूध के समान दुर्बल और कृश मनुष्यों को संतुष्टकारक हों वे क्षीरास्रावी ऋद्धि वाले गिने जाते हैं । जिनके हाथ पर रखा हुआ नीरस आहार भी मधुर रस की शक्ति वाला (मीठा, पुष्टिकारक) हो जाय अथवा जिनके वचन सुनने वाले अत्यन्त दुखी जीवों को भी मधुर गुणरूप परिणत हो जायें उन मुनियों को मध्वास्रावी ऋद्धिधारी कहते हैं । जिनके हाथ पर आया हुआ रूखा अन्न भी घी के समान रस वाला और शक्तिशाली हो जाय अथवा जिनके कहे हुए वचन घी के समान प्राणियों को तृप्त करने वाले हों वे सर्पिरास्रावी ऋद्धिधारी मुनि हैं । जिनके हाथ पर आया हुआ कुछ भी भोजन अमृत के समान या अमृत रूप हो जाय अथवा जिनके कहे हुए वचन अमृत के समान प्राणियों का उपकार करें वे अमृतस्रावी ऋद्धिधारी मुनि हैं । इस प्रकार रस ऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे क्षेत्र ऋद्धि को कहते हैं—क्षेत्र ऋद्धि को प्राप्त होने वाले मुनि दो प्रकार

प्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो भिक्षा दीयते ततो भोजनाच्चक्रधरस्कंधावारोऽपि यदि भुंजीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयते तेऽक्षीणमहानसाः। अक्षीणमहालयलब्धिं प्राप्ता यतयो यत्र हस्तचतुष्टयमात्रावासे वसंति तत्र देवमानुषतिर्यग्योनयः सर्वेऽपि निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते तेऽक्षीणमहालया इति।

एवमुक्तं तपःसामर्थ्यं, तपस्विभिरध्युषितानि क्षेत्राणि तीर्थत्वमुपगतानि। परस्परविरोधिनोऽपि प्राणिनो जातिविरोधं कारणविरोधं विमुच्यते शांतातरंगा भवंति तपसःसामर्थ्यात् किं बहुना तपः किं न साधयत्यपि तु सर्वमेव साधयति। तदेवोक्तम्—

यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥

तपो यस्य न विद्यते स चचापुरुषो यथा मुंचंति तं सर्वे गुणाः, नासौ मुंचति संसारं, उपधि-

---

के हैं—एक अक्षीणमहानस और दूसरे अक्षीणमहालय। लाभांतराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम प्राप्त होने वाले जिन मुनियों को आहार दिया जाय और उस बचे हुए भोजन में से चक्रवर्ती की सब सेना भी भोजन कर जाय तो भी उस दिन वह भोजन कम न हो ऐसे मुनिराज अक्षीणमहानस ऋद्धि को धारण करने वाले कहलाते हैं। अक्षीणमहालय ऋद्धि को धारण करने वाले मुनि जहां विराजमान हों और वह स्थान चाहे चार हाथ लम्बा-चौड़ा ही हो तो भी उसमें समस्त देव, मनुष्य, तिर्यंच समा जायें, परस्पर किसी को बाधा न हो, सब सुखपूर्वक बैठ जायें वे अक्षीणमहालय ऋद्धिधारी गिने जाते हैं। इस प्रकार क्षेत्रऋद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ[1]।

इस प्रकार तपश्चरण की सामर्थ्य निरूपण की। तपस्वी लोग जिस स्थान में निवास करते हैं, वे तीर्थ कहलाते हैं। तपश्चरण के प्रभाव से परस्पर विरोध रखने वाले जीव भी अपना जन्म से उत्पन्न बैर अथवा किसी कारण से उत्पन्न हुआ बैर छोड़कर अपने हृदय को शांत बना लेते हैं। बहुत कहने से क्या? तपश्चरण से क्या सिद्ध नहीं होता? सब कुछ सिद्ध हो जाता है। यही बात शास्त्रों में भी लिखी है—"यद्दूरं यद्दुराराध्यं यच्च दूरे व्यवस्थितम्। तत्सर्वं तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्" अर्थात् जो दूर हो, जिसकी आराधन करना कठिन हो और जो बहुत दूर पर हो वह सब तपश्चरण से सिद्ध हो जाता है। इस संसार में तपश्चरण ही ऐसा है जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। जिसके तपश्चरण नहीं है, वह चंचापुरुष के (केवल पुरुष के आकार के) समान है, उसे समस्त गुण तो छोड़ ही देते हैं, परन्तु वह संसार को कभी नहीं छोड़ सकता।

---

1 बुद्धि १८ क्रिया ६ विक्रिया ११ तप ७ बल ३ औषध ८ रस ६ क्षेत्र सब मिलकर ६४ ऋद्धियां होती हैं।

त्याग: पुरुषहितो यतोयत: परिग्रहादपेतस्ततस्तत: संयतो भवति। ततोऽस्य खेदो व्यपगतो भवति। परिग्रहपरित्याग एवैहिकामुत्रिकपरमसुखकारणं निरवद्यमन:प्रणिधानं। पुण्यनिधानं। परिग्रहो बलवती सर्वदोषप्रसवयोनि:। नत्वस्या उपधिभिरतृप्तिरस्ति सलिलैरिव सलिलनिधेर्वडवाया:। उक्तं हि—

अनेकाऽऽधेयदुष्पूर आशागर्तश्चिराबहो। चित्रं यत्क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते।।

अपि च—

क: पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने दिने। यत्रास्ते प्रस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते।।

परिग्रहसंग एव दु:खभयदिकं जनयतीति। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय 'ममेदं' भावाऽभाव आकिंचन्यं। शरीरादपि निर्ममत्वात्परमनिर्वृत्तिमवाप्नोति यथा यथा पोषयति तथा तथा

इस संसार में उपाधियों का (अंतरंग परिग्रहों का) त्याग कर देना ही मनुष्य का हित करने वाला है। जैसे-जैसे यह परिग्रहों को छोड़ता जाता है, वैसे ही वैसे इसका संयम बढ़ता जाता है और संयम की वृद्धि होने से इसका खेद दूर होता है। परिग्रहों का त्याग करना ही इस लोक में तथा परलोक में सुख देने वाला है, इसी से मन सब तरह के दोषों से रहित होकर स्थिर होता है और यही परिग्रह का त्याग पुण्य का खजाना है। यह परिग्रह समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाली जबरदस्त योनि है। जिस प्रकार पानी से समुद्र की बडवानल अग्नि नहीं बुझती उसी प्रकार इन परिग्रहों से यह जीव कभी तृप्त नहीं होता है। लिखा भी है—"अनेकाधेय दुष्पूर आशागर्तश्चिराबहो। चित्रं यत्क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते" अर्थात् यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह आशारूपी गढ़ा जो कि अनेक दिनों में भी संसार में रहने वाले समस्त पदार्थों से भी नहीं भरा जाता वह एक त्याग से (समस्त पदार्थों का त्याग कर देने से) क्षणमात्र में भर जाता है तथा "क: पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने-दिने। यात्रास्ते प्रस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते" अर्थात् "किसी से न भरा जाने वाले इस आशारूपी गड्ढे को भला कौन भर सकता है, क्योंकि इसमें प्रतिदिन डाला हुआ समस्त आधेय ही आधार बन जाता है। भावार्थ—ज्यों-ज्यों आशाएं पूर्ण की जाती हैं त्यों-त्यों और बढ़ती जाती हैं।" इसलिये परिग्रहों का समागम ही इस संसार में दु:ख और भय आदि को उत्पन्न करने वाला है।

प्राप्त हुए शरीरादिकों में संस्कारों को दूर करने के लिये "यह मेरा है" ऐसे परिणामों का अभाव होना आकिंचन्य है। शरीरादिकों में ममत्व बुद्धि का अभाव होने से परम वैराग्य प्राप्त होता है। जैसे-जैसे यह शरीर पुष्ट किया जाता है, वैसे-वैसे ही

लांपट्यं तज्जनयति, तपस्यप्यनादरो भवति। शरीरादिषु कृताऽभिष्वंगस्य संसारे सर्वकालमभिष्वंग एव मयाऽनुभूतांगना सुरूपेति सविलासेति कलागुणविशारदेति स्मरणं, तत्कथाश्रवणं रतिपरिमलाधिवासितस्त्रीसंसक्तशयना-ऽऽसनमित्येवमादि पूर्वरतानुचिंतनवर्जनं परिपूर्णब्रह्मचर्यमित्याख्यायते। ब्रह्मचर्यमनुपालयंतं हिंसादयो दोषा न संस्पृशंति। नित्याऽभिरतगुरुकुलवासमधिवसंति गुणसंपदः। वरांगनाविलासविभ्रमविधेयकृतः पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेंद्रियता हि लोके प्राणिनामपमानविधात्री।

क्षइत्येवमुत्तमक्षमाया उत्तममार्दवस्योत्तमार्जवस्योत्तमशौचस्योत्तमसत्यस्योत्तमसंयमस्योत्तमतपस उत्तमत्यागस्योत्तमाकिंचन्यस्योत्तमब्रह्मचर्यस्य तत्प्रतिपक्षाणां च गुणदोषविचारपूर्विकायां क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्निबंधनकर्मास्रवाऽभावान्महान् संवरो भवति।

इसमें लंपटता उत्पन्न होती रहती है और वैसे-वैसे ही तपश्चरण में अनादर उत्पन्न होता रहता है। शरीरादिकों मे ममत्व रखने वाले पुरुष के संसार में भी सदा ममत्व बना ही रहता है।

"मेरी भोगी हुई स्त्री बड़ी रूपवती थी, सब तरह के विलासों में निपुण थी और कलागुणों में चतुर थी'' इस प्रकार के स्मरण का त्याग करना, स्त्रियों की कथाओं के सुनने का त्याग करना तथा 'यह शयन या आसन उपयोग के समय जिसके शरीर में अनेक तरह के सुगंधित पदार्थ लग रहे हैं, ऐसी स्त्री से सम्बन्ध रखने वाला है' इस प्रकार के पूर्व भोगे हुए उपभोगों के चितवन का त्याग करना परिपूर्ण ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य पालन करने वाले को हिंसा आदि कोई भी दोष नहीं छू सकते, गुणरूपी संपदाएं सदा तल्लीन होकर गुरुकुल में निवास करने वाले उस ब्रह्मचारी में हो आकर निवास करती हैं। जो वेश्याओं के विलास और हाव-भावों से दूर रहता है, वह पापों से भी बहुत दूर रहता है। संसार में जितेंद्रिय न होना ही प्राणियों का अपमान करने वाला है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य के गुण तथा इनके प्रतिपक्षियों के दोषों का विचार करने से क्रोध, मान आदि विकारों का त्याग हो जाता है और क्रोध, मान विकारों का त्याग होने से क्रोधादि के द्वारा आने वाले कर्मों के आस्रव का अभाव हो जाता है तथा आस्रव का अभाव होने से महान संवर होता है।

तत्त्वार्थराद्धान्तमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम् ।
आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरंगसिंहः ।।

इति सकलाऽऽगसंयमसंपन्नश्रीमज्जिनसेनभट्टारकश्रीपादपद्मप्रसादाऽऽसादित-
चतुरनुयोगपारावारपारगधर्मविजयश्रीमच्चामुण्डरायमहाराजविरचिते
भावनासारसंग्रहे चारित्रसारेऽनगारधर्मः समाप्तः ।

समाप्तोयं ग्रन्थः ।



चारों अनुयोगों के जानकार तथा रणांगण में सिंह के समान ऐसे वीर महाराजा चामुंडराय ने जिसका वर्णन तत्त्वार्थसूत्र, सिद्धान्त ग्रन्थ और महापुराण आदि आचार ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ कहा है, ऐसे चारित्रसार को संक्षेप से निरूपण किया है ।

इस प्रकार समस्त शास्त्र और संयम को धारण करने वाले श्रीमज्जिसेन
भट्टारक के श्रीचरण कमलों के प्रसाद से चारों अनुयोगरूपी महा-
सागर के पार पहुंचाने वाले और धर्म के विजय का झंडा
उड़ाने वाले श्रीमच्चामुंडराय महाराज के बनाये हुए
भावनासार संग्रह के अन्तर्भूत चारित्रसार में
मुनिधर्म का वर्णन समाप्त हुआ ।।

